॥ श्रीवीतरागाय नमः ॥

श्रीमत्पण्डितप्रवर आशाधर विरचित

सागारधर्मामृत

पूर्वार्द्ध।

अनुवादक—

पंडित लालाराम जैन-इन्दौर।

प्रकाशक—

मूलचंद किसनदास कापड़िया-सूरत।

सूरतनिवासी साह किसनदास पूनमचन्द कापड़ियाकी सौ. स्वर्गवासी पत्नी (हमारी माता) हीराकोरबाई

और

भावनगरनिवासी स्वर्गवासी सेठ मूलचंद गुलाबचंद अमरजी वागड़ियाकी विधवा मणीबाईकी ओरसे अपनी स्वर्गीय सौ. पुत्री संतोकके

स्मरणार्थ

'दिगंबर जैन' के ग्राहकोंको आठवें वर्षका चौथा उपहार।

प्रथमावृत्ति. वीर सं. २४४१. प्रतियाँ २२५०.

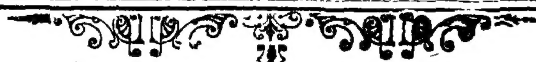
मूल्य डेढ़ रुपया।



Printed by
Matoobhai Bhaidas at the K. A.'s Surat 'Jain" Printing Press, Khapatia Chakla-Surat.

Published by
Moolchand Kisandas Kapadia, Proprietor, 'Digamber Jain Poostakalaya ' and Hon: Editor "Digambar Jain"

Published from
Khapatia Chakla, Chandawadi-Surat.



प्रस्तावना ।

जिसमें श्रावकाचार याने **श्रावककी क्रियाओंका** बहुत विस्तृत निरुपण किया गया हो ऐसा यदि कोई बड़ा महत्वका **शास्त्रीय ग्रन्थ** जैनोंमें है तो वह श्रीमत् **पंडितप्रवर आशाधरजी विरचित** श्री **सागारधर्मामृत** (संस्कृत) शास्त्र है जिसका **मराठी भाषामें** अनुवाद कई वर्ष हुए प्रकट हो चुका था और उसकी दूसरी आवृत्ति भी निकल चुकी है तो भी **गुजराती** और **हिन्दी** भाषामें इस ग्रन्थका मूलसहित अनुवाद प्रकट नहीं हुआ था और श्रीयुत् **नानचंद पुंजाभाई बी. ए.** ने इस ग्रन्थका गुजराती अनुवाद तैयार करके कोई तीन वर्ष हुए हमारी पास प्रकाशनार्थ भेजा था, परंतु गुजराती भाषामें विक्रियार्थ प्रकट किया जाय तो ज्यादे प्रतियां बिकनेकी हमे आशा न थी क्योंकि गुजरातमें धार्मिक शास्त्रोंके पढ़नेकी रुचि बहुत कम है और यदि कोई ग्रन्थ गुजराती भाषामें विक्रियार्थ प्रकट किया जाता है तो १००-२०० प्रतियांभी बिकती नहीं है इसलिये इस ग्रन्थको गुजराती भाषामें प्रकट करके ' **दिगंबर जैन** ' के ग्राहकोंको उपहारस्वरुप बांटनेका हमारा पहले इरादा था जो हम खास सचित्र अंकके विज्ञापनमें प्रकट कर चुके थे, जिसको पढ़कर हमारे स्नेही मित्र **पं. नाथूरामजी प्रेमी** (संपादक, 'जैनहितैषी')ने हमको सूचित किया कि आप इस ग्रन्थको गुजराती भाषामें प्रकट करना चाहते हैं सो ठीक है परंतु **सर्वसाधारणके समक्षमें आनेवाली हिन्दी भाषामें** यदि यह शास्त्रीय ग्रन्थ प्रकट किया जायगा तो बहुतही उत्तम होगा और हिन्दी अनुवाद **पं. लालारामजी जैन** ('आदिपुराण' ग्रन्थके अनुवादक) ने कई वर्ष हुये तैयार करके रक्खा है, इसलिये आप

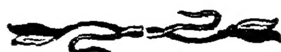
जहांतक हो सके इस ग्रन्थको अभी मूल संस्कृत सहित **हिन्दी भाषामें ही** प्रकट कीजिये। यह सूचना मिलतेही हमको भी ऐसा विचार हुआ कि यदि इस ग्रन्थको हिन्दी भाषामें प्रकट करेंगे तो 'दिगंबर जैन' के गुजराती, हिन्दी, मराठी आदि भाषाके जानकार सभी ग्राहक इसका लाभ आसानीसे ले सकेंगे इसलिये फिर हमने पं. लालारामजीसे पत्रव्यवहार किया तो आपने लिखा कि हमारे पास हिन्दी अनुवाद तैयार तो है किन्तु प्रथमकी और अभीकी हमारी भाषामें बहुत अंतर होगया है इसलिये इस महत्वके ग्रन्थका हिन्दी भाषामें विस्तृत और सरल अनुवाद हम फिरसे लिखना चाहते हैं। यदि आप स्वीकार करें तो बहुत शीघ्रही सारे ग्रंथका अनुवाद लिख-कर भेज सकते हैं। यह सूचना पसंद होनेपर हमने इस ग्रन्थका हिन्दी भाषामें अनुवाद **पं. लालारामजीसे** शीघ्रतासे तैयार कराया और अब मूल **संस्कृत सहित** यह प्रकट किया जाता है। यह ग्रन्थ बहुत बड़ा हो जानेसे **दो विभागोंमें** प्रकट किया जायगा जिसमें यह **प्रथम भाग (पूर्वार्द्ध) चार अध्यायोंमें** प्रकट किया जाता है और दूसरा भाग (उत्तरार्द्ध) शेष चार अध्यायोंमें आगामी वर्षमें प्रकट किया जायगा। इस शास्त्रीय ग्रन्थके कर्ता श्रीमान् पंडितप्रवर **आशाधरजी**-का **परिचय** पानेके लिये आपका विस्तृत और ऐतिहासिक जीवन-चरित्र जो **'जैनहितैषी'** में प्रकट हुआ था उसीको हमने इस ग्रन्थकी आदिमें लगा दिया है और विषयानुक्रमणिका भी तैयार करके लगा दी गई है। इस ग्रन्थकी सब मिलकर २२५० प्रतियां प्रकट की जाती हैं जिसमेंसे अंदाज २००० प्रतियां **'दिगंबर जैन'** के ग्राहकोंको **उपहारस्वरूप** दी जाती हैं और शेष विक्रीके लिये अलग निकाली गई हैं। **'दिगंबर जैन'** के ग्राहकोंको जो प्रतियां उपहारस्वरूप दी जाती हैं

उनमेंसे आधी सूरतनिवासी साह किसनदास पूनमचंद कापड़िया-की स्वर्गीय सौ. पत्नी हीराकोरबाई (हमारी माताजी) के स्मरणार्थ और आधी भावनगरनिवासी स्वर्गीय सेठ मूलचंद गुलाबचंद अमरजी वागाड़ियाकी विधवा मणीबाईकी ओरसे अपनी स्वर्गीय सौ. पुत्री संतोकके स्मरणार्थ वितरण की गई हैं और हीराकोरबाई तथा संतोकबाईका चित्र भी आधी प्रतियोंमें अलग २ प्रकट किया गया है। हमें आशा हैं कि अब तो ऐसे शास्त्रदानका अनुकरण हमारे हिन्दी भाषाके जानकार अन्य भाई भी करेंगे।

हमारी मातृभाषा गुजराती है। हिन्दी भाषाका कुछ साधारण परिचय होनेसे हमने इस ग्रन्थको प्रकट करनेका साहस किया है अतएव दृष्टिदोषसे कुछ अशुद्धियां रह गई हों, विद्वद् पाठकगण उन्हें शुद्ध करके पढेंगे ऐसी हमें आशा है।

वीरनिर्वाण स. २४४१
ज्येष्ठ शुक्ल ५ सं. १९७१
ता. १७-६-१५

जैनजातिका सेवक-
मूलचंद किसनदास कापड़िया-सूरत.





शुद्धिपत्र ।





पृष्ठ ।	पंक्ति ।	अशुद्ध ।	शुद्ध ।
७	१६	योगियोंमें	योनियोंमें
९	१७	सम्यक	सम्यक्
१७	१४	पापा	पापाः
२४	१६	कर्मी	कभी न कभी
२५	३	उतन्न	उत्पन्न
२५	९	मवर्गो	मपवर्गो
२६	१६	ह्मीमय	ह्रीमय
२७	२	वैदक	वैद्यक
२७	१४	व्ययोप्य	व्ययोय
४३	१८	प्रतिमा	प्रतिमा
४३	२२	पधिम्यो	पधिभ्यो
४७	९	प्रायश्चित	प्रायश्चित्त
५१	६	पकारकी	प्रकारकी
५२	२१	संक्षप	संक्षेप
५७	२	मधु	मधू
५८	११	घ्युतं	घृतं
६३	१२	उस	इस
६५	४	धिक्कार	धिक्कार
६६	१८	इकठे	इकट्ठे
७१	८	गाताका	माताका
७२	३	त्यधं	त्यर्थं

पृष्ठ।	पंक्ति।	अशुद्ध।	शुद्ध।
७५	३	फलगु	फल्गु
७८	११	मुक्ते	भुक्ते
७९	१	रात्री	रात्रि
८०	१८	जुआ	जूआ
८२	७	सवैर	सवेरे
८२	१०	कामम	काममें
८९	९	घिसी	घिसे
९०	८	त्यजेत	त्यजेत्
९१	३	चतुर्दशीको रात्रीकी	चतुर्दशीकी रात्रिको
९२	९	शुद्र	शूद्र
९४	६	गुरून्या	गुरून्पा
९५	५	मुहूर्त	मुहूर्त
९८	२०	ग्रादि	आदि
१०४	७	द्वार	द्वारा
,,	८	लागाके	लोगोंके
१०६	१४	स्वाधिन	स्वाधीन
१०६	१५	विधर्गी	विधर्मी
१०८	४	गृहस्य	गृहस्थ
१०८	९	अतरंग	अंतरंग
१११	४	इकटा	इकठा
१११	९	मयि	मपि
११५	१५	८०	४०
११९	१४	गूरवो	गुरवो
१२०	१४	अत:करण	अंत:करण

पृष्ठ।	पंक्ति।	अशुद्ध।	शुद्ध।
१२८	३	झरसे	झारेसे
१२८	२०	पुष्य	पुण्य
१३३	१६	दपत्योः	दंपत्योः
१४४	१५	भावानेक्षिप	भाव निक्षेप
१४८	१७	शुम	शुभ
१४८	२०	वैसा	वैसे
१४९	९	मोगों	भोगों
१५०	५	वैश्या	वेश्या
१५०	१५	रूद्धियों	ऋद्धियों
१५१	१४	पापका	बालूका
१५१	२१	मूखरायां	मूषरायां
१५२	३	ग्रताः	गताः
,,	९	रिगते	रिंगते
१५३	६	उद्ग्रम	उद्गम
१५५	१९	बुद्ध	बद्ध
१५७	१५	आर्जिका	अर्जिका
१५८	१	स्त्रियों	स्त्रियां
,,	६	दुआ	हुआ
१६०	१५	श्वेदमभय	श्वेदभय
१६४	१६	असावधानी	असावधानी
१६६	१५	आरंमी	आरंभी
१८०	६	दीन	दोन
१८३	१९	मेवार्था	मेवार्थात्
१८५	१४	पारब्ध	प्रारब्ध

पृष्ठ।	पंक्ति।	अशुद्ध।	शुद्ध।
१८६	२	तत्त्वन्	तन्वन्
१८९	४	द्वत	द्व्रत
१९२	१	जमडे	चमडे
२०६	१८	गृहस्थ	वैश्य
२०८	१७	संघ	संघ
२१७	१५	हैं	हैं
२२०	१९	अटाईस	अट्ठाईस
२२५	२०	द्दया	दया
२२६	१५	विश्रब	विषय
२२९	११	उपवशन	उपवेशन
२३१	१६	घात	घात
२३१	१९	तात्कु	तावत्कु
२३५	४	उसे	उस
२३६	११	चिरना	चीरना
२४७	२०	स्वरूप स्वरूप	स्वरूप
२४७	२१	रूप	रूप पाप
२५७	१	त्यागके	त्यागके समान
२६३	६	कूरला	कुरला
२६३	२१	कर ता	करे तो
२६५	१	कन्यालोक	कन्यालीक
२६५	१८	इस	इसी
२६६	६	कमी	कभी
२६९	९	त्कल्पे	त्कल्ये
२७१	१७	दोनों भी	दोनोंमें

पृष्ठ।	पंक्ति।	अशुद्ध।	शुद्ध।
२७३	१८	धोडे	घोडे
२७६	११	मेरे	मरे
२७९	१३	विरूद्ध	विरुद्ध
२८०	१९	मूल	मूल्य
२८१	१	तरजू	तराजू
२८२	१८	उह्लंघन	उल्लंघन
२८५	१	अन्थ	अन्य
२८७	२	वैश्या	वेश्या
२८७	१६	ब्रह्माचर्या	ब्रह्मचर्या
२९१	१	ह	है
२९४	१	स्त्री	जो स्त्री
२९५	५	और	भंग और
२९८	६	समालने	संभालने
३०२	२०	गीनाये	गिनाये
३०४	७	वास्तवादि	वास्त्वादि
३०५	३	भोघि	भोधि
३०५	७	लोम	लोभ
३०५	८	घीकी	घीकी
३०५	८	आहूति	आहूति है
३०८	६	अथधा	अथवा
३१०	२०	लाभ	लोभ





स्वर्गवासी संतोकबहेन उर्फ निर्मला

(भावनगरनिवासी स्वर्गीय साह मूलचंद गुलाबचंद अमरजी बागड़ियाकी स्वर्गीय सौ. पुत्री)

जन्म विक्रम सं. १९५२ मृत्यु विक्रम सं. १९७०

SURAT "JAIN" PRESS SURAT.



स्वर्गवासी श्रीमती डूंगाकोरबाई

(सूरतनिवासी शाह किसनदास पूनमचंद कापड़ियाकी स्वर्गवासी सौ. पत्नी और 'दिगंबर जैन' के संपादककी पूज्य माता)

जन्म विक्रम सं. १९१० मृत्यु विक्रम सं. १९७०

Surat "Jain" Press Surat.



पंडितप्रवर आशाधरका परिचय।



"आशाधरो विजयतां कलिकालिदासः"

इस ऋषितुल्य विद्वान्‌का नाम आशाधर था। आशाधरके पिताका नाम सल्लक्षण (सलखण) और माताका नाम श्री-रत्नी था। जैनियोंकी ८४ जातियोंमें बघेरवाल नामकी एक जाति है। हमारे चरित्रनायकने इसी बघेरवाल जातिका मुख उज्ज्वल किया था। सपादलक्ष देशमें मंडलकर नामका एक नगर है। पंडित आशाधरका जन्म उसी मंडलकर नगरमें हुआ था[1]।

सपादलक्ष देशको भाषामें सवालख कहते हैं। नागौरके नि-कटका प्रदेश [2]सवालखके नामसे प्रसिद्ध है। इस देशमें पहले चाहमान (चौहान) राजाओंका राज्य था। फिर सांभर और अजमेरके चौहान राजाओंका सारा देश सपादलक्ष कहलाने लगा था और उसके सम्बन्धसे चौहान राजाओंके लिये "सपादलक्षीय नृपतिभूपति" आदि शब्द लिखे जाने लगे थे।

१—श्रीमानास्ति सपादलक्षविषयः शाकंभरीभूषण—

स्तत्र श्रीरतिधाममण्डलकरं नामास्ति दुर्गं महत्।

श्रीरत्न्यामुदपादि तत्र विमलव्याघ्रेरवालान्वयात्

श्रीसल्लक्षणतो जिनेन्द्रसमयश्रद्धालुराशाधरः ॥१

२—प्राचीन कालमें 'कमाऊंके' आसपासके देशको भी सपादलक्ष कहते थे।

आशाधरके समयमें सपादलक्ष देशमें सांभरका राज्य भी शामिल था, यह उनके दिये हुए "शाकंभरीभूषण" विशेषणसे स्पष्ट होता है। शाकंभरी झील जिसमें कि नमक पैदा होता है और जिसे आजकल सांभर कहते हैं, सवालख देशकी शृंगाररूप थी। मंडलकरदुर्गको आजकल 'मांडलगढ़का किला' कहते हैं। यह इस समय मेवाड़ राज्यमें है। उस समय मेवाड़का सारा पूर्वीय भाग चौहानोंके आधीन था। चौहान राजाओंके बहुतसे शिलालेख वहां अबतक मिलते हैं। महाराजाधिराज पृथ्वीराजके समय तक मांडलगढ़ सपादलक्ष देशके अन्तर्गत था और वहांके अधिकारी चौहान राजा थे। पीछे अजमेरपर मुसलमानोंका अधिकार होनेपर वह किला भी उनके हस्तगत हो गया था।

आशाधरकी स्त्री सरस्वतीसे एक छाहड़ नामका पुत्र था, जिसने धाराके तत्कालीन महाराजाधिराज अर्जुनदेवको अपने गुणोंसे मोहित कर रक्खा था। वह अपने पिताका सुपूत पुत्र था। यद्यपि उसके कीर्तिशाली कार्योंके जाननेका कोई साधन नहीं है। परन्तु इसमें सन्देह नहीं है कि, वह होगा अपने पिता ही जैसा विद्वान्। इसीलिये पंडितराजने एक श्लोकमें अपने साथ उसकी तुलना की है कि "जिस तरह सरस्वतीके (शारदाके) विषयमें मैंने अपने आपको उत्पन्न किया, उसी तरहसे अपनी सरस्वती नामकी भार्याके

गर्भसे अपने अतिशय गुणवान् पुत्र छाहड़को उत्पन्न किया[१]!"
छाहड़ सरीखे गुणवान् पुत्रको पानेका एक प्रकारसे उन्हें अभिमान था। जान पड़ता है, उनके छाहड़के अतिरिक्त और कोई पुत्र नहीं था। यदि होता, तो वे अपने ग्रन्थोंकी प्रशस्तिमें छाहड़के समान उसका भी उल्लेख करते। अनगारधर्मामृतकी भव्यकुमुदचन्द्रिका टीका वि० सं० १३०० की बनी हुई है, जब कि उनकी आयु कमसे कम ६५ वर्षकी होगी, जैसा कि हम आगे सिद्ध करेंगे। इस अवस्थाके पश्चात् पुत्र उत्पन्न होनेकी संभावना बहुत कम होती है।

आशाधरने अपने ग्रन्थोंकी प्रशस्तियोंमें अपना बहुत कुछ परिचय दिया है। परन्तु किसीमें अपने जन्मका समय नहीं बतलाया है। तो भी उन्होंने अपने विषयमें जो बातें कहीं हैं, उनसे अनुमान होता है कि विक्रम संवत् १२३५ के लगभग उनका जन्म हुआ होगा।

जिस समय गजनीके बादशाह [२]शहाबुद्दीनगोरीने सारे

१— सरस्वत्यामिवात्मानं सरस्वत्यामजीजनत्।
कः पुत्रं छाहडं गुण्यं रंजितार्जुनभूपतिम्॥ २॥

२—म्लेच्छेशेन सपादलक्षविषये व्याप्ते सुवृत्तक्षति-
त्रासाद्विन्ध्यनरेन्द्रदोःपरिमलस्फूर्जत्त्रिवर्गोजसि।
प्राप्तो मालवमंडले बहुपरीवारः पुरीमावसत्
यो धारामपठज्जिनप्रमितिवाक्शास्त्रं महावीरतः॥ ५॥
प्रशस्तिकी टीकामें 'म्लेच्छेशेन'का अर्थ "साहबदीनतुरुष्केन" लिखा है।

सपादलक्ष देशको व्याप्त कर लिया था, उस समय सदाचार भंग होनेके भयसे मुसलमानोंके अत्याचारके डरसे आशाधर अपने परिवारके साथ देश छोड़कर निकले थे, और मालवाकी धारा नगरीमें आ बसे थे। उस समय मालवाके परमारवंशके प्रतापी राजा विन्ध्यवर्माका राज्य था। वहां उनकी भुजाओंके प्रचंड बलसे तीनों पुरुषार्थोंका साधन अच्छी तरहसे होता था। शहाबुद्दीन गोरीने ईस्वी सन् ११९३ में अर्थात् विक्रम संवत् १२४९ में पृथ्वीराजको कैद करके दिल्लीको अपनी राजधानी बनाई थी। उसी समय अर्थात् संवत १२४९ (ई० सन् ११९३) में उसने अजमेरको अपने आधीन करके वहांके लोगोंकी कतल कराई थी और इसी साल वह अपने एक सरदारको हिन्दुस्थानका सारा कारभार सौंप करके गजनीको लौट गया था। इसके पश्चात् सन् ११९४ और ९६में हिन्दुस्थानपर उसकी छठी और सातवीं चढ़ाई और भी हुई थी। छठी चढ़ाईमें उसने कन्नोज फतह की थी। और सातवींमें दिल्ली, गवालियर, बुन्देलखंड, बिहार, बंगाल,और गुजरात प्रदेश उसने अपने राज्यमें मिला लिये थे। फिर सन् १२०२ में वह ग्यासुद्दीनगोरीके मरनेपर गज़नीके तख्तपर बैठा था, और सन् १२०६ में सिंध नदीके किनारे उसे गक्कर जातिके जंगली लोगोंने मार डाला था। इससे मालूम पड़ता है कि, शहाबुद्दीन गोरीने पृथ्वीराज चौहानसे दिल्लीका सिंहासन छीनते ही अजमेरपर धावा किया होगा।

क्योंकि अजमेर पृथ्वीराजके ही अधिकारमें था और उसी समय अर्थात् सन् ११९३ ईस्वीमें सपादलक्षदेश शहाबुद्दीनके अत्याचारोंसे व्याप्त हो गया होगा। यही समय पंडितप्रवर आशाधरके मांडलगढ़ छोडकर धारा नगरीमें आनेका निश्चित होता है।

मांडलगढ़से धारानगरीमें आ बसनेके पश्चात् पंडित आशाधरने एक महावीर नामके प्रसिद्ध पंडितसे जैनेन्द्रप्रमाण और जैनेन्द्रव्याकरण इन दो ग्रन्थोंका अध्ययन किया। आशाधरके गुरु पं. महावीर, वादिराज पंडित धरसेनके शिष्य थे। प्रसिद्ध विद्याभिलाषी महाराजा भोजको मरे हुए यद्यपि उन दिनों १५० वर्ष बीत चुके थे, तो भी धारानगरीमें संस्कृत विद्याका अच्छा प्रचार था। उन दिनों संस्कृतके कई नामी नामी विद्वान् हो गये हैं जिनमें वादीन्द्र विशालकीर्ति, देवचन्द्र, महाकवि मदनोपाध्याय, कविराज बिल्हण (मंत्री), अर्जुनदेव, केल्हण, आशाधर आदि मुख्य गिने जाते हैं।

वि० संवत् १२४९में जब कि पंडित आशाधर धारामें आये होंगे, उनकी अवस्था अधिक नहीं होगी। क्योंकि धारामें आनेके पश्चात् उन्होंने न्याय और व्याकरण शास्त्र पढ़े थे। हमारी समझमें उस समय उनकी अवस्था २० वर्षके भीतर भीतर होगी। और इस हिसाबसे उनका जन्म वि० सं० १२३०–२९ के लगभग हुआ होगा, जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं।

जिस समय आशाधर धारामें आये थे, उस समय मालवाके राजा विन्ध्यनरेन्द्र, विन्ध्यवर्मा, अथवा विजयवर्मा थे। प्रशस्तिकी टीकामें 'विन्ध्यभूपातिका' अर्थ 'विजयवर्मा नाम मालवाधिपति' किया है। जिससे मालूम होता है कि विन्ध्यवर्माहीका दूसरा नाम विजयवर्मा है। विन्ध्यवर्माका यह नामान्तर अभीतक किसी शिलालेख या दानपत्रमें नहीं पाया गया है। विजयवर्मा परमार महाराज भोजकी पांचवीं पीढ़ीमें थे। पिप्पलियाके अर्जुनदेवके [1]दानपत्रमें उनकी कुल-परम्परा इस प्रकार लिखी है:—' भोज—उदयादित्य—नरवर्मा, यशोवर्मा, अजयवर्मा, विन्ध्यवर्मा (विजयवर्मा), सुभटवर्मा, अर्जुनवर्मा।" अर्जुनवर्माके कोई पुत्र नहीं था। इसलिये उसके पीछे अजयवर्माके भाई लक्ष्मीवर्माका पौत्र देवपाल (साहसमल्ल) और देवपालके पीछे उसका पुत्र जैतुगिदेव (जयसिंह) राजा हुआ। आशाधर जिस समय धारामें आये, उस समय विन्ध्यवर्माका राज्य था और वि० सं० १२९६ में जब उन्होंने सागरधर्मामृतकी टीका बनाई, तब जैतुगिदेव राजा थे। अर्थात् वे अपने समयमें धाराके सिंहासनपर पांच राजाओंको देख चुके थे। केवल ९० वर्षके बीचमें पांच राजाओंका होना एक आश्चर्यकी बात है! आशाधरका विद्याभ्यास समाप्त होते होते उनके पाण्डित्यकी कीर्ति चारों ओर फैलने लगी। उनकी विलक्षण प्रति-

---

१—बंगाल एशियाटिक सुसाईटीका जनरल जिल्द ५ पृष्ठ ३७८।

भाने विद्वानोंको चकित स्तंभित कर दिया। विन्ध्यवर्माके सान्धिवैग्रहिक मंत्री (फारेन सेक्रेटरी) बिल्हण नामके एक महाकवि थे। उन्होंने आशाधरकी विद्वत्तापर मोहित होकर एकबार निम्नलिखित श्लोक कहा था,—

"आशाधर त्वं मयि विद्धि सिद्धं निसर्गसौन्दर्य्यमजर्यमार्य ।
सरस्वतीपुत्रतया यदेतदर्थे परं वाच्यमयं [1] प्रपञ्चः ॥ "

जिसका आशय यह है कि " हे आशाधर! तथा हे आर्य! तुम्हारे साथ मेरी स्वाभाविक सहोदरपना (भ्रातृत्व) और श्रेष्ठ मित्रपना है। क्योंकि जिस तरह तुम सरस्वतीके (शारदाके) पुत्र हो उसी तरह मैं भी हूं। एक उदरसे पैदा होनेवालोंमें मित्रता और भाईपना होता ही है।" इस श्लोकसे इस बातका भी पता लगता है कि आशाधर कोई सामान्य पुरुष नहीं थे। एक बड़े भारी राज्यके महामंत्रीकी जिनके साथ इतनी गाढ़ मित्रता थी, उनकी प्रतिष्ठा थोड़ी नहीं समझना चाहिये। उक्त बिल्हण कविका उल्लेख मांडूके एक खंडित शिलालेखमें है। उसे छोडकर न तो उनका बनाया हुआ कोई ग्रन्थ मिलता है और न आशाधरको छोडकर उनका किसीने उल्लेख किया है। ऐसे राजमान्य प्रतिष्ठित कविकी जब यह दशा है तब पाठक सोच सकते हैं कि कालकी कुटिल गतिने

१—इत्युपश्लोकितो विद्वाद्बिल्हणेन कवीशिना ।
श्रीविन्ध्यभूपतिमहासान्धिविग्रहकेण यः ॥ ७ ॥

हमारे देशके ऐसे कितने विद्वानोंकी कीर्तिका नाम शेष न कर दिया होगा !

आशाधरकी प्रशस्तिमें बिल्हण कवीशका नाम देखकर पहले हमने समझा था कि काश्मीरके प्रसिद्ध कवि बिल्हण ही जिनकी उपाधि विद्यापति थी, आशाधरकी प्रशंसा करनेवाले हैं । परन्तु वह केवल एक भ्रम था । विद्यापति बिल्हण और मालवा राज्यके मंत्री कवीश बिल्हणके समयमें लगभग डेढ़ सौ वर्षका अन्तर है । विद्यापति बिल्हण काश्मीरनरेश कलशके राज्यकालमें विक्रम संवत् ११२०के लगभग काश्मीरसे निकला था । जिस समय वह धारामें आया था, [1] भोजदेवकी मृत्यु हो चुकी थी । इससे स्पष्ट है कि विन्ध्यवर्माके मंत्री बिल्हणसे विद्यापति बिल्हण भिन्न पुरुष थे ।

बिल्हणचरित नामका एक काव्य बिल्हण कविका बनाया हुआ प्रसिद्ध है । परन्तु इतिहासज्ञोंका मत है कि उसका कर्ता बिल्हण नहीं है; किसी दूसरे कविने उसकी रचना की है और यदि बिल्हणने की हो, तो वह विद्यापति बिल्हणसे भिन्न होना चाहिये । परन्तु भिन्न होकर भी वह विन्ध्यवर्माका मंत्री बिल्हण नहीं हो सकता । क्योंकि उक्त काव्यमें जिस वैरिसिंह

१–राजा भोजकी मृत्यु वि. सं. ११११२के पूर्व हो चुकी थी और १११५में उदयादित्यको राज्य मिल चुका था, ऐसा परमार राजाओंके लेखोंसे सिद्ध हो चुका है ।

राजाकी कन्या शशिकलाके साथ बिल्हणका प्रेमसम्बन्ध होना वर्णित है, वह विक्रमसंवत् ९०० के लगभग हुआ है। इससे आशाधरके समयके साथ उसका भी ठीक नहीं बैठ सकता है।

शार्ङ्गधरपद्धति और सूक्तमुक्तावली आदि सुभाषित ग्रन्थोंमें बिल्हण कविके नामसे बहुतसे श्लोक ऐसे मिलते हैं, जो न तो विद्यापति बिल्हणके विक्रमांकदेवचरित तथा [1]कर्ण-सुन्दरी नाटिकामें हैं और न बिल्हणचरितमें हैं। क्या आश्चर्य है, जो उनके बनानेवाले आशाधरकी प्रशंसाकरनेवाले बिल्हण ही हों।

आशाधरने अपनी प्रशंसा करनेवाले दो विद्वानोंके नाम और भी लिखे हैं, जिनमेंसे एकका नाम उदयसेन और दूसरेका नाम मदनकीर्ति है। ये दोनों ही दिगम्बर मुनि थे। क्योंकि इनके नामके साथ मुनि और यतिपति विशेषण लगे हुए हैं। देखिये, उदयसेन क्या कहते हैं:—

१. कर्णसुंदरीनाटिकाके मंगलाचरणमें जिनदेवको नमस्कार किया गया है। इसका कारण यह नहीं है कि विद्यापति बिल्हण जैनी थे। किन्तु उक्त नाटिका अणहिलपाटनके राजा कर्णके जैन मंत्री सम्पत्करके बनवाये हुए आदिनाथ भगवान्के यात्रामहोत्सवपर खेलनेके लिये बनाई गई थी, इसलिये उसमें जिनदेवको नमस्कार करना ही उन्होंने उचित समझा होगा। पीछेसे अपने इष्टदेव शिवपार्वतीको भी नमस्कार किया है।

व्याघ्रेरवालवरवंशसरोजहंसः
काव्यामृतौघरसपानसुतृप्तगात्रः ।
सल्लक्षणस्य तनयो नयविश्वचक्षु---
राशाधरो विजयतां कलिकालिदासः ॥ ३ ॥

अर्थात्---जो बघेरवालोंके श्रेष्ठवंशरूपी सरोवरसे उत्पन्न हुआ हंस है, काव्यामृतके पानसे जिसका हृदय तृप्त है, जो सम्पूर्ण नयोंका जाननेवाला है और जो श्रीसल्लक्षणका पुत्र है, वह कलियुगका कालिदास आशाधर जयवन्त होवे ।

इसी प्रकारसे श्रीमदनकीर्तिमुनिने कहा था कि--

इत्युदयसेनमुनिना कविसुहृदा योऽभिनन्दितः प्रीत्या ।
प्रज्ञापुञ्जोसीति च योऽभिहितो मदनकीर्तियतिपतिना ॥ ४ ॥

"अर्थात् आप प्रज्ञाके पुंज हैं अर्थात् विद्याके भंडार हैं ।"

इन दोनों विद्वानोंमेंसे हमको उदयसेनके विषयमें तो केवल इतना ही मालूम है कि वे कविके मित्र थे और मदनकीर्तिके विषयमें इससे अधिक और कुछ नहीं कहा जा सकता कि वे एक 'यतिपति' वा जैन मुनि थे । मदनोपाध्याय वा बालसरस्वती 'मदन'से कुछ नामसाम्य देखकर भ्रम होता है कि मदनकीर्ति और मदनोपाध्याय (राजगुरु) एक होंगे । परन्तु इसके लिये कोई संतोषप्रद प्रमाण नहीं ।

मालवाधीश महाराज अर्जुनदेव बड़े भारी विद्वान और कवि थे। अमरुशतककी उनकी बनाई हुई रससंजीविनी नामकी एक टीका काव्यमालामें प्रकाशित हुई है। इस टीकामें जगह जगहपर 'यदुक्तमुपाध्यायेन बालसरस्वत्यपरनाम्ना मदनेन' इस प्रकार लिखकर मदनोपाध्यायके अनेक श्लोक उदाहरणस्वरूप उद्धृत किये हैं और भव्यकुमुदचन्द्रिका टीकाकी प्रशस्तिके नवमश्लोकके अन्तिमपदकी टीकामें पं० आशाधरने भी लिखा है, "आपुः प्राप्तः, के बालसरस्वतिमहाकविमदनादयः।" इससे स्पष्ट हो जाता है कि अमरुशतकमें जिनके श्लोक उदाहरणस्वरूप ग्रहण किये गए हैं, वे ही आशाधरके शिष्य महाकवि मदन हैं। इसके सिवाय प्राचीन लेखमालामें अर्जुनवर्मदेवका जो तीसरा दानपत्र प्रकाशित हुआ है, उसके अन्तमें "रचितामिदं राजगुरुणा मदनेन" इस प्रकार लिखा हुआ है। इससे इस विषयमें भी शंका नहीं रहती है कि आशाधरके शिष्य मदनोपाध्याय जिनका दूसरा नाम 'बालसरस्वती' था, मालवाधीश महाराज अर्जुनदेवके गुरु थे।

अमरुशतककी टीकामें जो श्लोक उद्धृत किये गए हैं, उनसे मालूम पड़ता है कि महाकवि मदनोपाध्यायका बनाया हुआ कोई अलंकारका ग्रन्थ होगा जो अभीतक कहीं प्रसिद्ध नहीं है। हमारे एक विद्वान् मित्रने लिखा है कि बालसरस्वती मदनोपाध्यायकी बनाई हुई एक पारिजातमंजरी नामकी नाटिका

है। परन्तु उसके देखनेका हमको अभीतक सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ।

मदनकीर्तिके सिवाय आशाधरके अनेक शिष्य थे। व्याकरण, काव्य, न्याय, धर्मशास्त्र आदि विषयोंमें उनकी असाधारण गति थी। इन सब विषयोंमें उन्होंने सैकडों शिष्योंको निष्णात कर दिया था। देखिये, वे क्या कहते हैं:—

> यो द्राग्व्याकरणाब्धिपारमनयच्छुश्रूषमाणान्नकान्
> षट्तर्कीपरमास्त्रमाप्य न यतः प्रत्यर्थिनः केऽक्षिपन्।
> चेरुः केऽस्खलितं न ये न जिनवाग्दीपं पथि ग्राहिताः
> पीत्वा काव्यसुधां यतश्च रसिकेष्वापुः प्रतिष्ठां न के ॥ ९ ॥

भावार्थ—शुश्रूषा करनेवाले शिष्योंमेंसे ऐसे कौन हैं, जिन्हें आशाधरने व्याकरणरूपी समुद्रके पार शीघ्र ही न पहुंचा दिया हो तथा ऐसे कौन हैं, जिन्होंने आशाधरसे षट्दर्शनरूपी परम शस्त्रको लेकर अपने प्रतिवादियोंको न जीता हो तथा ऐसे कौन हैं, जो आशाधरसे निर्मल जिनवचनरूपी (धर्मशास्त्र) दीपक ग्रहण करके मोक्षमार्गमें प्रवृत्त नहीं हुए हों, अर्थात् मुनि न हुए हों और ऐसे कौन शिष्य हैं, जिन्होंने आशाधरसे काव्यामृतका पान करके रसिक पुरुषोंमें प्रतिष्ठा नहीं पाई हो।

इस श्लोककी टीकामें पंडितवर्यने प्रत्येक विषयके पार पहुंचे हुए अपने एक २ दो २ शिष्योंका नाम भी दे दिया है। पंडित देवचंद्रादिको उन्होंने व्याकरणज्ञ बनाया था, वादीन्द्र

विशालकीर्ति आदिको षट्दर्शनन्यायका ज्ञाता बनाकर वादियों-पर विजय प्राप्त कराई थी, भट्टारक देवचन्द्र विनयचन्द्र आदिको धर्मशास्त्र पढ़ाकर मोक्षमार्गमें प्रवृत्त किया था और मदनोपाध्या-यादिको काव्यके पंडित बनाकर अर्जुनवर्मदेव जैसे रसिक राजाओंकी प्रतिष्ठाका अधिकारी (राजगुरु) बना दिया था । पाठक इससे जान सकते हैं कि आशाधरकी विद्वत्ता, पढ़ानेकी शक्ति और परोपकारशीलता कैसी थी । गृहस्थ होने पर भी बडे २ मुनि उनके पास विद्याध्ययन करके अपनी विद्यातृष्णाको पूर्ण करते थे । उस समयके इतिहासकी यह एक विलक्षण घटना है, जो नीतिके इस वाक्यको स्मरण कराती है "गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः" अर्थात्, गुणवानोंमें उनके गुण ही पूजनेके योग्य होते हैं, उनकी उमर अथवा वेष नहीं ।

विन्ध्यवर्माका और उनके पीछे उनके पुत्र सुभटवर्माका राज्यकाल समाप्त हो चुकनेपर आशाधरने धारानगरीको छोड़ दी और नलकच्छपुरको अपना निवासस्थान बनाया । नलक-च्छपुरमें आ रहनेका कारण उन्होंने अपने प्यारे धर्मकी उन्नति करना बतलाया है,—

श्रीमदर्जुनभूपालराज्ये श्रावकसंकुले ।
जिनधर्मोदयार्थं या नलकच्छपुरेऽवसत् ॥ ८ ॥

इससे यह भी अनुमान होता है कि वे धारासे अकेले आये होंगे। गृहस्थाश्रमसे उन्होंने एक प्रकारसे सम्बन्ध छोड़ दिया होगा।

नलकच्छपुरको इस समय नालछा कहते हैं। यह स्थान धारसे १० कोसकी दूरीपर है। सुना है, इस समय वहांपर जैनियोंके थोड़ेसे घर और जैनमंदिर हैं। परन्तु आशाधरके समय वहांपर जैनियोंकी बहुत बड़ी बस्ती थी। जैनधर्मका जोर शोर भी वहां बहुत होगा। ऐसी हुए विना आशाधर सरीखे विद्वान् धारा जैसी महानगरीको छोडकर वहां रहनेको नहीं जाते। अवश्य ही वहांपर जैनधर्मकी उन्नति करनेके लिये धारासे अधिक साधन एकत्र होंगे।

जिस समय पंडितवर्य आशाधर नालछाको गये, उस समय मालवामें महाराज अर्जुनवर्मदेवका राज्य था। अर्जुनवर्मदेवके अभीतक तीन दानपत्र प्राप्त हुए हैं, जिनमेंसे एक विक्रमसंवत् १२६७का है, जो पिप्पलिया नगरमें है और मंडपदुर्गमें दिया गया था। [1]दूसरा वि. सं. १२७०का भोपालमें है और भृगुकच्छ (भरोंच)में दिया गया था और [2]तीसरा १२७२का है, जो अमरेश्वर तीर्थमें दिया गया था और भोपालमें है। इसके पश्चात् अर्जुनदेवके पुत्र देवपालदेवके राजत्वकालका एक शिलालेख

१–अमेरिकन् ओरियंटल सुसाइटीका जनरल भाग ७, पृष्ठ ३२।
२–अ० ओ० सु० का जनरल भाग ७, पृष्ठ २५।

हरसोदामें मिला है, जो वि. सं. १२७९का लिखा हुआ है। इससे मालूम पडता है कि १२७२ और १२७९के बीचमें किसी समय अर्जुनदेवके राज्यका अन्त हुआ था और १२६७ के पहले उनके राज्यका प्रारंभ हुआ था। कब प्रारंभ हुआ था, इसका निश्चय करनेके लिये विन्ध्यवर्मा और सुभटवर्मा इन दो राजाओंके राज्यकालके लेख मिलना चाहिये, जो अभीतक हमको प्राप्त नहीं हुए हैं। तो भी ऐसा अनुमान होता है कि १२६७के अधिकसे अधिक २–३ वर्ष पहले अर्जुनवर्माको राज्य मिला होगा। क्योंकि संवत् १२५०में जब आशाधर धारामें आये थे, तब भी विन्ध्यवर्माका राज्य था। और जब वे विद्वान् हो गये थे, तब भी विन्ध्यवर्माका राज्य था। क्योंकि मंत्री बिल्हणने आशाधरकी विद्वत्ताकी प्रशंसा की थी। यदि आशाधरके विद्याभ्यास कालके केवल ७–८ वर्ष गिने जावें, तो विन्ध्यवर्माका राज्य वि० सं० १२५७–५८ तक समझना चाहिये। विन्ध्यवर्माके पश्चात् सुभटवर्माके राज्यके कमसे कम ७ वर्ष माने जावें, तो अर्जुनदेवके राज्यारंभका समय वि० सं० १२६५ गिनना चाहिये। इसी १२६९ के लगभग आशाधर नालछेमें आये होंगे।

पंडितप्रवर आशाधरकी मृत्यु कब हुई इसके जाननेका कोई उपाय नहीं है। उनके बनाये हुए जो २ ग्रन्थ प्राप्य हैं, उनमेंसे अनगारधर्मामृतकी भव्यकुमुदचन्द्रिका टीका कार्तिक

सुदी ९ सोमवार सं० १३०० को पूर्ण हुई है। इसके पीछेका उनका कोई भी ग्रन्थ नहीं मिलता है। इस ग्रन्थके बनानेके समय हमारे ख़यालमें पंडितराजकी आयु ६५–७० वर्षके लगभग होगी। क्योंकि उनका जन्म वि० सं० १२३०–२५ के लगभग सिद्ध किया जा चुका है। इस ग्रन्थकी प्रशस्तिसे यह भी मालूम होता है कि वे उस समय नालछेमें ही थे। और शायद सं० १२६५ के पश्चात् उन्होंने कभी नालछा छोड़ा भी नहीं। क्योंकि उनके १२६५ और १३०० के मध्यके जो दो ग्रन्थ मिलते हैं, वे भी नालछेके बने हुए हैं। एक वि० सं० १२८५ का और दूसरा १२९६ का। नालछेमें कविवर जैनधर्मका उद्योत करनेकेलिये आये थे, फिर क्या प्रतिज्ञा पूरी किये बिना ही चले जाते? अंत समय तक वे नालछेमें ही रहे और वहीं उन्होंने अपने अपूर्व ग्रन्थोंकी रचना करके जैनधर्मका मस्तक उंचा किया।

वर्तमानमें पं० आशाधरके मुख्य तीन ग्रन्थ सुलभ हैं और प्रायः प्रत्येक भंडारमें मिल सकते हैं। एक जिनयज्ञकल्प, दूसरा सागरधर्मामृत और तीसरा अनगारधर्मामृत। इन तीनों ही ग्रन्थोंमें वे अपनी विस्तृत प्रशस्ति लिखके रख गये हैं। वि० संवत् १३०० तक उन्होंने जितने ग्रन्थोंकी रचना की है, उन सबके नाम उक्त तीनों प्रशस्तियोंमें लिखे हुए हैं। हम उन्हें यहां क्रमसे प्रकाशित करते हैं:–

स्याद्वादविद्याविशदप्रसादः प्रमेयरत्नाकरनामधेयः ॥
तर्कप्रबन्धो निरवद्यपद्यपीयूषपूरो वहतिस्म यस्मात् ॥ १० ॥

सिद्ध्यङ्कं भरतेश्वराभ्युदयसत्काव्यं निबन्धोज्ज्वलम्
यस्त्रैविद्यकवीन्द्रमोदनसहं स्वश्रेयसेऽरीरचत् ।
योऽर्हद्वाक्यरसं निबन्धरुचिरं शास्त्रं च धर्मामृतम्
निर्माय व्यदधान्मुमुक्षुविदुषामानन्दसान्द्रं हृदि ॥ ११ ॥

आयुर्वेदविदामिष्टां व्यक्तुं वाग्भटसंहिताम् ।
अष्टाङ्गहृदयोद्योतं निबन्धमसृजच्च यः ॥ १२ ॥

यो मूलाराधनेष्टोपदेशादिषु निबन्धनम् ।
विधत्तामरकोशे च क्रियाकलापमुज्जगौ [१] ॥ १३ ॥

(जिनयज्ञकल्प.)

भावार्थ–स्याद्वादविद्याका निर्मल प्रसादस्वरूप [२]प्रमेयरत्नाकर नामका न्यायग्रन्थ जो सुन्दर पद्यरूपी अमृतसे भरा हुआ है, आशाधरके हृदयसरोवरसे प्रवाहित हुआ । [३]भरतेश्वराभ्युदय नामका उत्तम काव्य अपने कल्याणके लिये बनाया, जिसके प्रत्येक सर्गके अंतमें 'सिद्ध' शब्द रक्खा गया है, जो तीनों विद्याओंके जाननेवाले कवीन्द्रोंको आनन्दका देनेवाला है और स्वोपज्ञटीकासे

१–ये १३ श्लोक तीनों प्रशस्तियोंमें एकसे हैं। अनगारधर्मामृतकी टीकामें बारहवाँ श्लोक १९ वें नम्बरपर है और तेरहवां चौदहवें नम्बर पर है। उनके स्थानपर जो दूसरे श्लोक हैं, वे आगे लिखे गये हैं।
२–३ ये दोनों ग्रन्थ सोनागिरके भट्टारकके भण्डारमें हैं।

प्रकाशित है। धर्मामृतशास्त्र जो कि जिनेन्द्र भगवानकी वाणीरूपीरससे युक्त है और टीकासे सुन्दर है, बनाकर मोक्षकी इच्छा करनेवाले विद्वानोंके हृदयमें अतिशय आनन्द उत्पन्न किया। आयुर्वेदके विद्वानोंकी प्यारी वाग्भट्टसंहिताकी [1]अष्टांगहृदयोद्योतिनी नामकी टीका बनाई, मूल आराधना और मूल [2]इष्टोपदेश (पूज्यपादकृत) आदिकी टीकाएँ बनाईं और अमरकोषपर क्रियाकलाप नामकी टीका बनाई। इसमें जो आदि शब्द दिया है, उससे आराधनासार, भूपालचतुर्विंशतिका आदिकी टीकाएँ समझनी चाहिये। अर्थात् इन ग्रन्थोंकी टीकाएँ भी पंडितवर्यने बनाईं।

ये सब ग्रन्थ विक्रम संवत् १२८५ के पहलेके बने हुए हैं। जिनयज्ञकल्पकी प्रशस्तिमें इतने ही ग्रन्थोंका उल्लेख है। इनके पश्चात् सं० १२९६ तक अर्थात् सागारधर्मामृतकी टीका बनानेके समय तक निम्नलिखित ग्रन्थोंकी रचना और भी हुई:—

> रौद्रटस्य व्यधात् काव्यालङ्कारस्य निबन्धनम्
> सहस्रनामस्तवनं सनिबन्धं च योऽर्हताम् ॥ १४ ॥

१ इससे जान पड़ता है कि आशाधर वैद्यविद्याके भी बड़े भारी पंडित थे।

२. पूज्यपादका मूल इष्टोपदेश बम्बईके मन्दिरमें है। इसकी भाषाटीका भी किसी जयपुरी पंडितकी बनाई हुई है।

सनिबन्ध यश्च जिनयज्ञकल्पमरीरचत् ।
त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्रं यो निबन्धालङ्कृतं व्यधात् ॥ १५ ॥

योऽर्हन्महाभिषेकार्चाविधिं मोहतमोरविम्
चक्रे नित्यमहोद्योतं स्नानशास्त्रं जिनेशिनाम् ॥ १६ ॥

(सागारधर्मामृत टीका)

भावार्थ—रुद्रट कविके [1]काव्यालंकार ग्रन्थकी टीका बनाई, अरहंत देवका [2]सहस्रनाम टीकासहित बनाया, जिनयज्ञकल्प सटीक बनाया, त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्र (संक्षिप्त) टीकायुक्त बनाया और [3]नित्यमहोद्योत नामक अभिषेकका ग्रन्थ बनाया, जो भगवान्की अभिषेकपूजाविधि सम्बन्धी अंधकारको नाश करनेके लिये सूर्यके समान है ।

वि० संवत् १२९६ के पीछे बने हुए ग्रन्थोंके नाम अनगारधर्मामृतकी टीकामें इस प्रकार मिलते हैं:—

राजीमतीविप्रलम्भं नाम नेमीश्वरानुगम् ।
व्यधात्त खण्डकाव्यं यः स्वयंकृतनिबन्धनम् ॥ १२ ॥
आदेशात्पितुरध्यात्मरहस्यं नाम यो व्यधात् ।
शास्त्रं प्रसन्नगम्भीरं प्रियामारब्धयोगिनाम् ॥ १३ ॥
रत्नत्रयविधानस्य पूजामाहात्म्यवर्णकम् ।
रत्नत्रयविधानाख्यं शास्त्रं वितनुतेस्म यः ॥ १८ ॥

(अनगारधर्मामृत टीका)

---

१. यह भी सोनागिरके भंडारमें है । २. आशाधरकृत मूल सहस्रनाम प्रायः सब जगह मिलता है । बुन्देलखंडमें प्रायः इसी सहस्रनामका प्रचार है । ३. नित्यमहोद्योत बम्बईके भंडारमें है ।

भावार्थ—राजामती विप्रलंभ नामका खंडकाव्य स्वोपज्ञ टीकासहित बनाया, पिताकी आज्ञासे अध्यात्मरहस्य नामका ग्रन्थ बनाया, जो शीघ्र ही समझनेमें आने योग्य, गंभीर और प्रारंभके योगियोंका प्यारा है और रत्नत्रय विधानक पूजा तथा माहात्म्यका वर्णन करनेवाला रत्नत्रयविधान नामका ग्रन्थ बनाया।

संवत् १३०० के पश्चात् यदि पंडितवर्य दश ही वर्ष जीवित रहे होंगे, तो अवश्य ही उनके बनाये हुए और भी बहुतसे ग्रन्थ होंगे। ग्रन्थरचना करना ही उन्होंने अपने जीवनका मुख्य कर्तव्य समझा था।

आशाधरके बनाये हुए ग्रंथ बहुत ही अपूर्व हैं। उन सरीखे ग्रन्थकर्ता बहुत कम हुए हैं। उनका बनाया हुआ "सागारधर्मामृत" ग्रन्थ बहुत ही अच्छा है। जिसने एकवार भी इस ग्रन्थका स्वाध्याय किया है, वह इसपर मुग्ध हो गया है। अनगारधर्मामृत और जिनयज्ञकल्प ग्रन्थ भी ऐसे ही अपूर्व हैं।

अध्यात्मरहस्य कविवरने अपने पिताकी आज्ञासे बनाया। इससे मालूम पड़ता है कि उनके पिता सं० १२९६ के पीछे भी कुछ काल तक जीवित थे। क्योंकि इस ग्रन्थका पहले दो ग्रन्थोंकी प्रशस्तिमें उल्लेख नहीं है; अनगारधर्मामृतकी टीकामें ही उल्लेख है और उसमें जो अधिक ग्रन्थ बतलाये गये हैं, वे १२९६ के पीछेके हैं।

महाराज अर्जुनदेवके वि० संवत् १२७२के दानपत्रके अन्तमें लिखा हुआ है:—" रचितमिदं महासान्धि० राजा सलखणसंमतेन राजगुरुणा मदनेन " इससे ऐसा मालूम होता है कि पं० आशाधरके पिता सलखण (सल्लक्षण) महाराजा अर्जुनदेवके सन्धिविग्रह सम्बन्धी मंत्री थे। यद्यपि आशाधरके पिता महाजन थे और दानपत्रमें सम्मति देनेवाले सलखणके साथ ' राजा ' पद लगा हुआ है, इससे अन्य किसी सलखण नामक राजाकी भी संभावना भी हो सकती है, परन्तु आशाधरके पिताका संधिविग्रहको मंत्रियोंका राजा होना कुछ आश्चर्यकी बात भी नहीं है। क्योंकि उस समय प्राय: महाजन लोग ही राज्यमंत्री होते थे।

अब हम यहांपर तीनों ग्रंथोंकी प्रशस्तियोंके बाकी श्लोक जो ऊपर कहीं नहीं लिखे गये हैं, भावार्थसहित उद्धृत करते हैं:—

प्राच्यानि संवर्ज्य जिनप्रतिष्ठाशास्त्राणि दृष्ट्वा व्यवहारमैन्द्रम्।
आम्नायविच्छेदतमश्छिदोऽयं ग्रन्थः कृतस्तेन युगानुरूपम्॥१४॥
खण्डिल्यान्वयभूषणाल्हणसुतः सागारधर्मे रतो
वास्तव्यो नलकच्छचारुनगरे कर्ता परोपक्रियाम्।
सर्वज्ञार्चनपात्रदानसमयोद्योतप्रतिष्ठाग्रणीः
पापासाधुरकारयत्पुनरिमं कृत्वोपरोधं मुहुः॥१५॥
विक्रमवर्षसपञ्चाशीतिद्वादशशतेष्वतीतेषु।
आश्विनसितान्त्यदिवसे साहसमल्लापराख्यस्य–॥१६॥

श्रीदेवपालनृपतेः प्रमारकुलशेखरस्य सौराज्ये ।
नलकुच्छपुरे सिद्धो ग्रन्थोऽयं नेमिनाथचैत्यगृहे ॥१७॥
अनेकार्हत्प्रतिष्ठान्तप्रतिष्ठैः केल्हणादिभिः ।
सद्यः सूक्तानुरागेण पठित्वाऽयं प्रचारितः ॥ १८ ॥

अलमतिप्रसङ्गेन—

यावत्रिलोक्यां जिनमन्दिरार्चाः तिष्ठन्ति शक्रादिभिरर्च्यमानाः ।
तावज्जिनादिप्रतिमाप्रतिष्ठां शिवार्थिनोऽनेन विधापयन्तु ॥१९॥
नन्द्याखाण्डिल्यवंशोत्थः केल्हणो न्यासवित्तरः ।
लिखितं येन पाठार्थमस्य प्रथमपुस्तकम् ॥ २० ॥

इत्याशाधर विरचितो जिनयज्ञकल्पः ।

भावार्थ—प्राचीन प्रतिष्ठापाठोंको वर्जित करके और इंद्रसम्बन्धी व्यवहारको देखकर यह वर्तमान युगके अनुकूल ग्रंथ बनाया, जो कि आम्नायविच्छेदरूपी अंधकारको नाश करनेवाला है । खंडेलवाल वंशके भूषणरूप अल्हणके पुत्र, श्रावकधर्ममें लवलीन रहनेवाले, नलकच्छपुरनिवासी, परोपकारी, देवपूजा, पात्रदान तथा जिनशासनका उद्योत करनेवाले और प्रतिष्ठाग्रणी, पापासाधुने वारंवार अनुरोध करके यह ग्रंथ बनावाया। आसोज सुदी १५ वि. सं. १२८५के दिन परमारकुलके मुकुट देवपाल उर्फ साहसमल्ल राजाके राज्यमें नलकच्छपुर नगरके नेमिनाथ चैत्यालयमें यह ग्रंथ समाप्त हुआ । अनेक जिनप्रतिष्ठाओंमें प्रतिष्ठा पाये हुए केल्हण आदि विद्वानोंने नवीन सूक्तियोंके

अनुरागसे इस ग्रंथका प्रचार किया। जबतक तीन लोकमें जिन मंदिरोंकी पूजा इंद्रादिकोंके द्वारा होती है, तब तक कल्याणकी इच्छा करनेवाले इस ग्रन्थसे जिनप्रतिमाओंकी प्रतिष्ठा करावें। खंडेलवालवंशमें उत्पन्न हुए और न्यासग्रंथको अच्छी तरहसे जाननेवाले केल्हणने पाठ करनेके लिये जिनयज्ञकल्पकी पहली पुस्तक लिखी।

सोऽहं आशाधरो रम्यामेतां टीकां व्यरीरचम्।
धर्मामृतोक्तसागारधर्माष्टाध्यायगोचराम् ॥ १७ ॥
प्रमारवंशवार्धीन्दु–देवसेननृपात्मजे।
श्रीमज्जैतुगिदेवेसि स्थाम्नावन्तीमवत्यलम् ॥ १८ ॥
नलकच्छपुरे श्रीमन्नेमिचैत्यालयेऽसिधत्।
टीकेऽयं भव्यकुमुदचन्द्रिकेत्युदिता बुधैः ॥ १९ ॥
षण्णवद्ध्येकसंख्यानविक्रमाङ्कसमात्यये।
सप्तम्यामसिते पौषि सिद्धेयं नन्दताच्चिरम् ॥ २० ॥
श्रीमान्श्रेष्ठिसमुद्धरस्य तनयः श्रीपौरपाटान्वय—
व्योमेन्दुः सुकृतेन नन्दतु महीचन्द्रोदयाभ्यर्थनात्।
चक्रे श्रावकधर्मदीपकमिमं ग्रन्थं बुधाशाधरो—
ग्रंथस्यास्य च लेखितो मलाभिदे येनादिमं पुस्तकम् ॥२१॥

अलमितिप्रसंगेन—

यावत्तिष्ठति शासनं जिनपतेश्छेदानमन्तस्तमो—
यावच्चार्कनिशाकरौ प्रकुरुतः पुंसां दृशामुत्सवम्।
तावत्तिष्ठतु धर्मसूरिभिरियं व्याख्यायमानानिशं—
भव्यानां पुरतोत्र देशविरताचारप्रबोधोद्धुरा ॥ २२ ॥

इत्याशाधरविरचिता स्वोपज्ञधर्मामृतसागारटीका भव्यकुमुद-चन्द्रिकानाम्नी समाप्ता ।

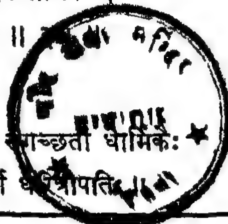
भावार्थ—मैंने (आशाधरने) सागारधर्मामृतकी यह सुन्दर टीका बनाई जिसके आठ अध्याय हैं । जब परमारवंशशिरोमणि देवसेन राजाके पुत्र श्रीमान् जैतुगिदेव अपने खड्गके बलसे मालवाका शासन करते थे, तब नलकच्छपुरके नेमिनाथ चैत्या-लयमें यह भव्यकुमुदचन्द्रिका टीका पौषवदी ७ सं० १२९६ को पूर्ण हुई । यह श्रावकधर्मदीपक ग्रन्थ पंडित आशाधरने बनाया और पोरवाड़वंशरूपी आकाशके चन्द्रमा श्रीमान् समुद्धरश्रेष्ठीके पुत्रने महीचन्द्रकी प्रार्थनासे इसकी पहिली पुस्तक लिखी । उस श्रेष्ठीपुत्रके पुण्यकी बढ़वारी हो। अन्तरंगके अंधकारको नष्ट करनेवाला जिनेन्द्रदेवका शासन जब तक रहे और जबतक चन्द्रसूर्य लोगोंके नेत्रोंको आनन्दित करते रहें, तब तक यह श्रावकधर्मका ज्ञान करानेवाली टीका भव्य जनोंके आगे धर्माचार्योंके द्वारा निरन्तर पढ़ी जावे ।

सोऽहमाशाधरोऽकार्षं टीकामेतां मुनिप्रियाम् ।
स्वोपज्ञधर्मामृतोक्तयतिधर्मप्रकाशिनीम् ॥ २० ॥
शब्दे चार्थे च यत्किञ्चिदत्रास्ति स्खलितं मम ।
छद्मस्थभावात्संशोध्य सूरयस्तत्पठन्त्विमाम् ।
नलकच्छपुरे पौरपौरस्त्यः परमार्हतः ।
जिनयज्ञगुणौचित्यकृपादानपरायणः ॥ २२ ॥

खांडिल्यान्वयकल्याणमाणिक्यं विनयादिमान् ।
साधुः पापाभिधः श्रीमानसीत्पापपराङ्मुखः ॥ २३ ॥
तत्पुत्रो बहुदेवोऽभूदाद्यः पितृभरक्षमः ।
द्वितीयः पद्मसिंहश्च पद्मालिंगितविग्रहः ॥ २४ ॥
बहुदेवात्मजाश्चासन्हरदेवः स्फुरद्गुणः ।
उदयिस्तंभदेवश्च त्रयस्त्रैवर्गिकादृताः ॥ २५ ॥
मुग्धबुद्धिप्रबोधार्थं महीचन्द्रेण साधुना ।
धर्मामृतस्य सागारधर्मटीकास्ति कारिता ॥ २६ ॥
तस्यैव यतिधर्मस्य कुशाग्रीयधियामपि ।
सदुर्बोधस्य टीकायै प्रसादः क्रियतामिति ॥ २७ ॥
हरदेवेन विज्ञप्तो धनचन्द्रोपरोधतः ।
पण्डिताशाधरश्चक्रे टीकां क्षोदक्षमामिमाम् ॥ २८ ॥
विद्वद्भिर्भव्यकुमुदचन्द्रिकेत्याख्ययोदिता ।
तिष्ठाप्याकल्पमेषास्तां चिन्त्यमाना मुमुक्षुभिः ॥ २९ ॥
प्रमारवंशवार्धीन्दुदेवपालनृपात्मजे ।
श्रीमज्जैतुगिदेवेसि स्थाम्नावन्तीमवत्यलम् ॥ ३० ॥
नलकच्छपुरे श्रीमन्नेमिचैत्यालयेसिधत् ।
विक्रमाब्दशतेष्वेषा त्रयोदशसु कार्तिके ॥ ३१ ॥
अनुष्टुपछन्दसामस्याः प्रमाणं द्विशताधिकैः ।
सहस्रैर्द्वादशमितैर्विज्ञेयमनुमानतः ॥

अलमतिप्रसंगेन—

शान्तिः शं तनुतां समस्तजगतः [illegible]च्छतां धार्मिकैः
श्रेयः श्रीः परिवर्धतां नयधुराधुर्यो [illegible]पतिः ॥



सद्विद्यारसमुद्गिरन्तु कवयो नामाप्यघस्यास्तु मा

प्रार्थ्ये वा कियदेक एव शिवकृद्धर्मोजयत्वर्हताम् ॥ ३३ ॥

इत्याशाधरविरचिताभव्यात्महरदेवानुमताधर्मामृतयतिधर्मटीका समाप्ता ॥

भावार्थ—मुझ आशाधरने यह अनगारधर्मामृतकी मुनियोंको प्यारी लगनेवाली और यतिधर्मका प्रकाश करनेवाली स्वोपज्ञटीका बनाई । यदि इसमें कहींपर कुछ शब्द अर्थमें भूल हुई हो तो उसे मुनिजन पंडितजन संशोधन करके पढ़ें, क्योंकि मैं छद्मस्थ हूं । नलकच्छपुरमें (नालछेमें) पापानामके एक सज्जन जैनी हैं, जो कि खंडेलवालवंशके हैं, नगरके अगुए हैं, जिनपूजा कृपादानादि करनेमें तत्पर हैं, विनयवान् हैं, पापसे पराङ्मुख हैं और श्रीमान् हैं । उनके दो पुत्र हैं एक बहुदेव और दूसरे पद्मसिंह । बहुदेवके तीन पुत्र हैं—हरदेव, उदय और स्तंभदेव (?) ।

धर्मामृत ग्रन्थके सागारभागकी टीका महीचन्द्र नामके साधुने बालबुद्धि जनोंके समझानेके लिये बनवाई और उसी धर्मामृतके अनगारभागकी टीका बनानेके लिये हरदेवने प्रार्थना की और धनचन्द्रने आग्रह किया । अतएव इन दोनोंकी प्रार्थना और आग्रहसे पण्डित आशाधरने यह टीका जिसका कि नाम भव्यकुमुदचन्द्रिका है कुशाग्रबुद्धिवालोंके लिये बनाई ।

यह मोक्षाभिलाषी जीवोंके द्वारा पठन पाठनमें आती हुई कल्पान्त कालतक ठहरे ।

परमार वंशीय महाराज देवपालके पुत्र जैतुगिदेव जिस समय अवन्ती (उज्जैनमें) राज्य करते थे, उस समय यह टीका नलकच्छपुरके नेमिनाथ भगवानके चैत्यालयमें वि० संवत् १३०० के कार्तिक मासमें पूर्ण हुई । इसमें लगभग बारह हजार श्लोक (अनुष्टुप्) हैं ।

पं० आशाधरके विषयमें जितना परिचय मिल सका, वह हमने पाठकोंके आगे निवेदन कर दिया । इससे अधिक परिचय पानेके लिये आशाधरके दूसरे ग्रन्थोंकी खोज करना चाहिये । मालवामें प्रयत्न किया जावे, तो हमको आशा होती है कि, उनके बहुतसे ग्रन्थ मिले जावेंगे ।

इस लेखके लिखनेमें हमको सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझासे बहुत कुछ सहायता मिली है, इस लिये हम उनका हृदयसे आभार मानते हैं ।

" जैन हितैषी "से उद्धृत ।



विषयानुक्रमणिका।



दूसरा अध्याय ।

विषय ।	पृष्ठ ।	श्लोक ।

॥ श्री वीतरागाय नमः ॥

श्रीमत्पंडितप्रवर आशाधर विरचित

सागारधर्मामृत ।

प्रथम अध्याय ।

संस्कृत टीकाका मंगलाचरण ।

श्रीवर्द्धमानमानम्य मंदबुद्धिप्रबुद्धये
धर्मामृतोक्तसागारधर्मटीकां करोम्यहं ।
समर्थनादि यन्नात्र ब्रुवे व्यासभयात्क्वचित्
तज्ज्ञानदीपिकाख्यैतत्पंजिकायां विलोक्यतां ॥

अर्थ — मैं श्रीवर्द्धमान स्वामीको नमस्कार कर अल्पबुद्धियोंको समझानेकेलिये धर्मामृतमें कहे हुये सागारधर्मामृतकी टीका करता हूं। इसमें विस्तार होजानेके डरसे समर्थन आदि जो कुछ नहीं कहागया है वह इसकी ज्ञानदीपिकापंजिका नामकी टीकामें देख लेना चाहिये।

आगे—धर्मामृतके चौथे अध्यायमें—

सुदृग्बोधो गलद्वृत्तमोहो विषयनिःस्पृहः ।
हिंसादेर्विरतः कार्त्स्न्याद्यतिः स्याच्छ्रावकोंऽशतः

अर्थात्—" जिसके सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान विद्य-मान है, जिसके चारित्रमोहनीय कर्मका क्षयोपशम हुआ है और जो विषयोंसे निस्पृह है ऐसा पुरुष यदि हिंसा आदि पांचों पापोंका पूर्णरीतिसे त्याग करे तो वह यति वा मुनि होता है और यदि वह इन्हीं हिंसादि पापोंका एकदेश त्याग करे तो वह श्रावक कहलाता है " ऐसा कह चुके हैं। इसकारण शिष्योंके लिये ग्रंथके मध्यमें मंगलाचरण कहकर सागारधर्मा-मृतको कहनेकी प्रतिज्ञा करते हैं।

अथ नत्वाऽर्हऽतोऽक्षूणचरणान् श्रमणानपि।
तद्धर्मरागिणां धर्मः सागाराणां प्रणेष्यते ॥ १ ॥

अर्थ—मोहनीय कर्मके अत्यंत क्षय होनेसे जिनका यथाख्यात चारित्र पूर्ण हो गया है ऐसे अरहंत तीर्थंकर परम देवको नमस्कार कर तथा अतिचार रहित सामायिक छेदो-पस्थापना आदि चारित्रको धारण करनेवाले और बाह्य आभ्यंतर तपश्चरण करनेवाले आचार्य उपाध्याय साधुगणको शुद्ध भावोंसे नमस्कार कर सकल चारित्ररूप मुनियोंके धर्ममें लालसा रखनेवाले ऐसे श्रावकोंका धर्म निरूपण किया जाता है।
भावार्थ—जो शक्तिरहित अथवा हीन संहनन होनेके कारण मुनिव्रत धारण नहीं कर सकते किंतु उसके धारण करनेके लिये जिनकी लालसा सदा बनी रहती है उन्हें ही श्रावक कहते हैं, जिनके मुनिव्रत धारण करनेका अनुराग नहीं है

उनका देशव्रत भी किसी कामका नहीं हैं। क्योंकि महाव्रत धारण करनेका अनुराग रखना ही देशव्रत धारण करनेवाला परिणाम कहलाता है। जिसके ऐसे परिणाम हैं उन्हीं गृहस्थोंका धर्म इस ग्रंथमें प्रतिपादन किया जायगा ॥१॥

अब सागार अर्थात् गृहस्थका लक्षण लिखते हैं—

अनाद्यविद्यादोषोत्थ चतुःसंज्ञाज्वरातुराः ।
शश्वत्स्वज्ञानविमुखाः सागारा विषयोन्मुखाः ॥२॥

अर्थ—जो अनादि कालके अविद्यारूप बात पित्त कफ इन तीन दोषोंसे उत्पन्न हुये आहार भय मैथुन और परिग्रह इन संज्ञारूप चार प्रकारके ज्वरोंसे दुखी हैं, और इसलिये ही जो अपने आत्मज्ञानसे सदा विमुख हैं तथा स्त्री भोजन आदि इष्ट अनिष्ट पदार्थोंमें रागद्वेष करनेवाले हैं उन्हें सागार अर्थात् सकल परिग्रह सहित घरमें निवास करनेवाले गृहस्थ कहते हैं।

भावार्थ—वात पित्त और कफके दोषोंसे साध्य प्राकृत, असाध्य, प्राकृत साध्य वैकृत और असाध्य वैकृत ये चार प्रकार ज्वर उत्पन्न होते हैं उसी तरह अनित्य पदार्थोंको नित्य मानना, दुखके कारणोंको सुखरूप मानना, अपवित्रको पवित्र मानना और शरीर स्त्री पुत्र आदि अपने (आत्माके) नहीं है उन्हें अपना मानना अविद्या कहलाती है; उसी अविद्यारूप दोषसे आहार

भय मैथुन और परिग्रह रूप चार प्रकारका ज्वर उत्पन्न होता है, जिस प्रकार ज्वरसे मूर्च्छा (बेहोशी) और संताप होता है उसी तरह इन संज्ञाओंसे भी मूर्च्छा (ममत्व) और संताप होता है । इसप्रकारके संज्ञारूप ज्वरसे जो दुखी हैं और इसलिये जो——

एगो मे सासदो आदा णाणदंसण लक्खणो ।
सेसा मे वाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ॥

अर्थात्——"मेरा यह आत्मा ज्ञानदर्शनस्वरूप, नित्य तथा एक है और शेष रागद्वेष आदि कर्मके संयोगसे होनेवाले बाह्यभाव अर्थात् विभाव हैं," इस प्रकारके आत्मज्ञानको भूल गये हैं तथा भोजन वस्त्र स्त्री आदि विषयोंमें सदा लीन रहते हैं, 'मेरा आत्मा स्वपर प्रकाशक है' इस बातको जो भूले हुये हैं वे सागार वा गृहस्थ कहलाते हैं ॥२॥

आगे–सागारका लक्षण फिर भी दूसरीतरहसे कहते हैं–

अनाद्यविद्याऽनुस्यूतां ग्रंथसंज्ञामपासितुं ।
अपारयतः सागाराः प्रायो विषयमूर्च्छिताः ॥ ३ ॥

अर्थ—जिसप्रकार बीज से वृक्ष और वृक्षसे बीज उत्पन्न होता है उसीप्रकार अनादिकालसे चले आये अज्ञानसे जो परिग्रहसंज्ञा उत्पन्न होती है अर्थात् परिग्रहसे अज्ञान और अज्ञानसे परिग्रह रूपी संज्ञा उत्पन्न होती है इसप्रकारकी अनादि कालसे विद्यमान परिग्रह रूपी संज्ञाको जो छोड़ नहीं

सकते हैं और इसलिये ही जो स्त्री धन धान्य आदि विषयोंमें [1]मूर्छित हैं अर्थात् जो समझते हैं कि ये स्त्री धन धान्य आदि सब मेरे हैं, मैं इनका स्वामी हूं, इस प्रकारके ममत्वके जो आधीन हैं, उन्हें सागार अर्थात् गृहस्थ कहते हैं। इस श्लोकमें जो प्रायः शब्द है उससे ग्रंथकारने गृहस्थोंके विषयोंमें मूर्छित होनेका विकल्प दिखलाया है, अर्थात् कितने ही सम्यग्दृष्टि पुरुष चारित्रमोहनीयकर्मके उदयसे विषयोंमें मूर्छित हो जाते हैं परंतु जिन्होंने पहिले जन्मोंमें रत्नत्रयका अभ्यास किया है उस रत्नत्रयके प्रभावसे यद्यपि बड़ी भारी राज्यलक्ष्मीका उपभोग करते हैं तथापि तत्त्वज्ञानके साथ२ देशसंयमको धारण करते हुये उदासीन रूपसे उन विषयोंका सेवन करते हैं। इसलिये जिस प्रकार जिसकी स्त्री व्यभिचारिणी है वह पुरुष उसका त्याग भी नहीं कर सकता परंतु उदासीन होकर उपभोग करता है उसी प्रकार वे सेवन करते हुये भी सेवन न करनेवालोंके ही समान हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि कोई सम्यग्दृष्टि तो विषयोंमें

---

१ मूर्छितका लक्षण—

वपुर्गृहं धनं दाराः पुत्रामित्राणि शत्रवः।
सर्वथान्य स्वभावानि मूढः स्वानि प्रपद्यते ॥१॥

अर्थ—देह, घर, धन, स्त्री, पुत्र, मित्र, और शत्रु आदि जिनका स्वभाव आत्मासे सर्वथा भिन्न है उन्हें अपना माननेवाला मूर्छित कहलाता है ॥१॥

मूर्छित हैं और रत्नत्रयके प्रभावसे कोई नहीं भी हैं। यही प्रायः शब्दसे सूचित होता है ॥ ३ ॥

आगे सागारपना होनेका कारण विद्या अर्थात् सम्यक्त्व है तथा सागारपना न होनेका कारण अविद्या अर्थात् मिथ्यात्व है यही बात दिखलाते हैं—

नरत्वेपि पशूयंते मिथ्यात्वग्रस्तचेतसः।
पशुत्वेपि नरायंते सम्यक्त्वव्यक्तचेतनाः ॥ ४ ॥

अर्थ—सब जीवोंमें मनुष्य यद्यपि हित अहितका विचार करनेमें चतुर हैं तथापि यदि उनका चित्त विपरीत श्रद्धान करनेरूप मिथ्यात्वसे भरा हुआ हो तो फिर उनसे हित अहितका विचार नहीं हो सकता, फिर वे पशुके समान हैं। अपि शब्दसे यह सूचित होता है कि जब मिथ्यादृष्टि मनुष्य ही पशुओंके समान हैं तब पशुओंकी तो बात ही क्या है? इसी प्रकार पशु हित अहितके विचार करनेमें चतुर नहीं हैं तथापि जिनमें [१]प्रशम [२]संवेग [३]अनुकंपा और [४]आस्तिक्य ये गुण

१—रागादिषु च दोषेषु चित्तवृत्ति निवर्हणम्।
तं प्राहुः प्रशमं प्राज्ञाः समस्तव्रतभूषिणम् ॥१॥

अर्थ—रागादि दोषोंमें अपने चित्तकी वृत्ति रोकना ही प्रशम है, यह प्रशम गुण सब गुणोंका भूषण है ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं।

२—शरीरमानसागंतु वेदनाप्रभवाद्भवात्।
स्वप्नेंद्रजालसंकल्पाद्भीतिः संवेग उच्यते ॥

प्रगट हो रहे हैं ऐसे तत्त्वोंके श्रद्धान करने रूप सम्यग्दर्शनसे जिनकी चेतना रूपी संपत्ति साफ दिखाई दे रही है ऐसे पशु भी मनुष्योंके ही समान हैं अर्थात् वे भी अपने आत्माका हित अहित विचार सकते हैं। अपि शब्दसे यह अर्थ निकलता है कि सम्यग्दर्शनके माहात्म्यसे जब पशु भी अपने हेय (छोड़ने योग्य) उपादेय (ग्रहण करने योग्य) तत्त्वोंको जानने लगते हैं तब मनुष्योंकी तो बात ही क्या है? अभिप्राय यह है कि **सम्यग्दर्शन** ज्ञानका कारण है और **मिथ्यादर्शन**-अज्ञानका कारण है ॥ ४ ॥

अर्थ–जिसमें शरीर संबंधी, मानसिक आगंतुक इस तरहके अनेक दुःख बारबार उत्पन्न होते हैं और जिसकी स्थिति स्वप्नके समान अथवा इंद्रजालके समान अस्थिर है ऐसे संसारसे भय उत्पन्न होना **संवेग** कहलाता है।

३–सत्त्वे सर्वत्र चित्तस्य दयार्द्रत्वं दयालवः।
धर्मस्य परमं मूलमनुकंपां प्रचक्षते ॥

अर्थ–अनेक योगियोंमें परिभ्रमण करनेसे सदा दुखी ऐसे समस्त प्राणियोंमें दया करना अर्थात् उनके दुखसे अपना चित्त दयासे भीग जाना, इसीको दयालु मुनि **अनुकंपा** कहते हैं। यही अनुकंपा धर्मका मुख्य कारण है।

४–आप्ते श्रुते व्रते तत्त्वे चित्तमस्तित्वसंयुतं।
आस्तिक्यमास्तिकैरुक्तं मुक्तियुक्ति धरे नरे ॥

अर्थ–मोक्षमार्गाभिलाषी पुरुषमें आप्त अर्थात् हितोपदेशी सर्वज्ञ वीतराग परमेश्वर, शास्त्र, व्रत और जीवादि तत्त्वोंमें जो अस्तित्व बुद्धि है उसको आस्तिक पुरुष **आस्तिक्य** कहते हैं।

इसप्रकार सामान्यरीतिसे मिथ्यात्वका प्रभाव दिखलाकर अब आगे उसी मिथ्यात्वके दृष्टांत दिखलाकर तीन भेद दिखलाते हैं—

केषांचिदंधतमसायतेऽगृहीतं ग्रहायतेन्येषां ।
मिथ्यात्वमिह गृहीतं शल्यति सांशयिकमपरेषां ॥५॥

अर्थ— मिथ्यात्वके तीन भेद हैं अग्रहीत, ग्रहीत और सांशयिक । परोपदेशके विना अनादिकालसे संतान दर संतान-रूपसे चले आये ऐसे तत्त्वोंमें श्रद्धान न करनेरूप जीवोंके परिणामोंको अग्रहीत मिथ्यात्व कहते हैं । परोपदेशसे तत्त्वोंका श्रद्धान न करना अथवा अतत्त्वोंका श्रद्धान करना ग्रहीत मिथ्यात्व है । इसीतरह मिथ्यात्व कर्मके उदय होनेपर और ज्ञानावरण कर्मके विशेष उदय होनेपर " वीतराग सर्वज्ञके द्वारा कहे हुये अरहंतके मतमें जीवादि पदार्थोंका स्वरूप जो अनेक धर्मात्मक माना है वह यथार्थ है अथवा नहीं है " ऐसी चंचल प्रतीतिको सांशयिक मिथ्यात्व कहते हैं । इस संसारमें एकेंद्रियसे लेकर कितने ही संज्ञी पर्यंत जीवोंके अग्रहीत मिथ्यात्व गाढ अंधकारके समान काम करता है, क्योंकि जिसप्रकार गाढ अंधकारमें किसी पदार्थका विश्वास नहीं होता उसी प्रकार अग्रहीत मिथ्यात्वमें भी गाढ अज्ञानताका परिणाम होनेसे किसी पदार्थका विश्वास वा श्रद्धान नहीं होता । दूसरा ग्रहीत मिथ्यात्व कितने ही संज्ञी पंचेंद्रिय जीवोंको चढ़े हुये भूतके समान उ-

न्मत्त बना देता है, क्योंकि वह परोपदेश पूर्वक होनेसे अनेक तरहके विकार उत्पन्न कर देता है। तथा तीसरा सांशयिक-मिथ्यात्व श्वेतांबरादिकोंके हृदयमें बाणके समान दुःख देता है, जिसप्रकार हृदयमें लगेहुये बाणसे अधिक दुःख होता है उ-सीप्रकार सांशयिक मिथ्यात्वीके सब पदार्थोंमें अनिश्चय होने-से सदा ही दुःख बना रहता है ॥ ५ ॥

आगे—अविद्याका मूलकारण मिथ्यात्व है उसके नाश करनेकी सामर्थ्य सम्यग्दर्शनमें है उस सम्यग्दर्शन परिणामोंके उत्पन्न होनेकी सामग्री कितने प्रकारकी है यही दिखलाते हैं—

आसन्नभव्यताकर्महानिसंज्ञित्वशुद्धिभाक् ।
देशनाद्यस्तमिथ्यात्वो जीवः सम्यक्त्वमश्नुते ॥६॥

अर्थ—जिस जीवके रत्नत्रय व्यक्त होनेकी योग्यता है उसे भव्य कहते हैं और जो थोड़े ही भव धारणकर मुक्त होगा उसे आसन्न कहते हैं, जो जीव आसन्न होकर भव्य हो उसे आसन्नभव्य अथवा निकटभव्य कहते हैं। जो जीव आसन्न भव्य है, जिसके सम्यक्त्व नाश करनेवाले अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ तथा मिथ्यात्व सम्यक्मिथ्यात्व और सम्यक प्रकृतिमिथ्यात्व इन मिथ्यात्व कर्मोंका यथासंभव उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षय हो चुका है, जो [1]शिक्षा, क्रिया

[1] मनोवष्टंभतः शिक्षाक्रियालापोपदेशवित् ।
येषां ते संज्ञिनो मर्त्या वृषकीरगजादयः ॥
अर्थ—जिनके शिक्षा क्रिया आलाप और उपदेशको अच्छी-

आलाप उपदेशरुप संज्ञाको धारण करनेवाला संज्ञी है और जिसके परिणाम विशुद्ध हैं तथा सद्गुरुके उपदेशसे और आदि शब्दसे जातिस्मरण, देवागमन, जिनप्रतिमादर्शन आदिसे जिसका मिथ्यात्वकर्म नष्ट हो गया है ऐसे जीवके सम्यक्त्व उत्पन्न होता है। **भावार्थ**–आसन्नभव्यता, कर्मोंका क्षयोपशमादि होना, संज्ञी होना और परिणामोंकी विशुद्धि होना ये सम्यक्त्वके अंतरंग कारण हैं और गुरुका उपदेश, जातिस्मरण जिनप्रतिमादर्शन आदि बाह्य कारण हैं, इनसे मिथ्यात्व नष्ट होकर सम्यक्त्व उत्पन्न होता है।

इस श्लोकमें ग्रंथकारने चार लब्धियोंका स्वरूप दिखलाया है। 'जो निकट भव्य है और जिसके मिथ्यात्व आदि

तरह जाननेवाला मन है ऐसे मनुष्य बैल तोते हाथी आदि **संज्ञी** कहलाते हैं।

भावार्थ—संज्ञीके मुख्य चार भेद हैं। जिस कार्यसे अपना हित हो वह करना और जिससे हित न हो वह नहीं करना इसप्रकारके ज्ञानको शिक्षा कहते हैं। इस शिक्षाको मनुष्य ग्रहण कर सकता है। हाथ पैर मस्तक आदिके हिलानेको क्रिया कहते हैं, यह क्रिया यदि बैल वगैरहको सिखलाई जाय तो वे इसे सीख सकते हैं जैसे सरकसके घोडे अथवा नांदी बैल आदि। श्लोक अथवा शब्द आदिके पढानेको **आलाप** कहते हैं, इस आलापको तोता मैना आदि जीव सीख सकते हैं। संज्ञावाचक शब्द अथवा संकेत आदिके द्वारा हिताहित जाननेका नाम उपदेश है, इस उपदेशको हाथी कुत्ते आदि जीव सीख सकते हैं।

कर्मोंका क्षयोपशम आदि हो गया है' ऐसा कहनेसे प्रायोगिक लब्धि दिखलाई है। 'जो संज्ञी वा सेनी है' ऐसा कहनेसे क्षयोपशम लब्धि दिखलाई है। 'जिसके परिणाम विशुद्ध हैं' ऐसा कहनेसे विशुद्धि लब्धि दिखलाई है 'तथा गुरुके उपदेशसे जिसका मिथ्यात्वकर्म दूर होगया है' ऐसा कहनेसे देशना लब्धि दिखलाई है। ये चारों ही लब्धियां सम्यक्त्व उत्पन्न होनेकी योग्यतामें कारण हैं इसलिये यहांपर चार ही लब्धियां लिखी हैं। करण लब्धिके पीछे तो सम्यक्त्व हो ही जाता है इसलिये यहांपर उसका ग्रहण नहीं किया है।

आगे—सम्यग्दर्शनकी कारणसामिग्रीमें सद्गुरुका उपदेश अवश्य होना चाहिये और इस भरतक्षेत्रमें इससमय सदुपदेशक गुरु बहुत थोडे हैं इसलिये शोक करते हुये उनका दुर्लभपना दिखलाते हैं—

कलिप्रावृषि मिथ्यादिङ्मेघच्छन्नासु दिक्ष्विह।
खद्योतवत्सुदेष्टारो हा द्योतंते क्वचित् क्वचित् ॥७॥

अर्थ—इस भरतक्षेत्रमें कलिकाल अर्थात् पंचमकाल रूपी वर्षाकालमें बौद्ध नैयायिक आदि मिथ्यादृष्टियोंके उपदेश रूपी मेघोंसे सदुपदेश रूपी सब दिशायें ढक रही हैं उसमें जीव अजीव आदि तत्त्वोंका पूर्ण उपदेश देनेवाले सुगुरु खद्योतके समान कहीं कहीं पर दिखलाई पड़ते हैं। भावार्थ—जिस प्रकार वर्षाऋतुमें सब दिशायें मेघोंसे ढक जाती हैं और उसमें

सूर्यका प्रकाश न होनेसे खद्योत (जुगुनू) जरासा प्रकाश करते हुये कहीं कहीं पर चमकते हैं उसी प्रकार इस दुःखम पंचमकालमें अनेकांतरूप सम्यक् उपदेश बौद्ध नैयायिक आदि सर्वथा एकांती मिथ्यादृष्टियोंके उपदेशसे ढक रहा है। इसका कारण यह है कि चतुर्थकालमें जैसे केवली श्रुतकेवली आदि सूर्यके समान तत्त्वोंको प्रकाश करते हुये सब जगह विहार करते थे वैसे केवली श्रुतकेवली वर्तमान समयमें नहीं [1]हैं, केवल सुगुरु आदि सदुपदेशक खद्योतके समान तत्त्वोंका थोड़ासा स्वरूप प्रगट करते हुये कहीं कहीं पर दिखलाई देते हैं। ग्रंथकारने इसी विषयका शोक और अंतरंगका संताप कष्टार्थक हा शब्दसे प्रगट किया है।

---

१ विद्वन्मन्यतया सदस्यतितरामुद्दंडवाग्डंबराः
श्रृंगारादिरसैः प्रमोदजनकं व्याख्यानमातन्वते ।
ये तेच प्रतिसद्म संति बहवो व्यामोहविस्तारिणो
येभ्यस्तत्परमात्मतत्त्वविषयं ज्ञानं तु ते दुर्लभाः ॥

अर्थ— आपको विद्वान मानकर जो सभाओंमें शब्दोंका घटाटोप दिखलाते हुये बहुत आडंबर करते हैं तथा जो श्रृंगार आदि रसोंके द्वारा आनंद देनेवाले अनेक व्याख्यान देते हैं और लोगोंको मोहजालमें फंसाते हैं ऐसे उपदेशक तो बहुत हैं, प्रत्येक घरमें मौजूद हैं, परंतु जिनसे कुछ परमात्म तत्वका ज्ञान हो ऐसे उपदेशक बहुत दुर्लभ हैं।

आगे—इस पंचमकालमें जैसे सदुपदेशक दुर्लभ हैं वैसे ही दर्शनमोहनीयकर्मके उदयसे जिनके चित्तपर परदा पड़ा हुआ है ऐसे श्रोता लोग भी उपदेश सुननेके योग्य नहीं हैं इसलिये भद्र पुरुष ही उपदेश सुननेके योग्य हों ऐसी आशा करते हुये पंडितवर्य कहते हैं—–

नाथामहेद्य भद्राणामप्यत्र किमु सद्दृशां ।
हेम्न्यलभ्ये हि हेमाश्मलाभाय स्पृहयेन्न कः ॥८॥

अर्थ—इस भरतक्षेत्रके आज इस पंचमकालमें हम भद्रपुरुषोंसे ही ऐसी आशा रखते हैं कि वे उपदेश सुननेके योग्य हों। जब हम भद्रपुरुषोंसे ही ऐसी आशा रखते हैं तब फिर सम्यग्दृष्टियोंसे तो कहना ही क्या है, उनसे तो भद्र-पुरुषों से भी अधिक आशा रखते ही हैं। जिस समय सुवर्णका मिलना असंभव है उस समय यदि सुवर्ण पाषाण ही मिलजाय तो भला कौन पुरुष उसकी अभिलाषा नहीं करता ? अर्थात् सब ही करते हैं। भावार्थ—सम्यग्दृष्टी उपदेश सुननेके योग्य हों तो बहुत अच्छा है, यदि सम्यग्दृष्टी न हों तो भद्रपुरुष ही इसके योग्य हों।

आगे भद्रका लक्षण कहकर वही उपदेश सुननेके योग्य है ऐसा दिखलाते हैं—–

कुधर्मस्थोपि सद्धर्मं लघुकर्मतयाऽद्विषन् ।
भद्रः स देश्यो द्रव्यत्वान्नाभद्रस्तद्विपर्ययात् ॥ ९ ॥

अर्थ—जिसका सद्धर्म अर्थात् जैनधर्मसे द्वेष करनेका

कारण मिथ्यात्व कर्म बहुत थोड़ा रह गया है और इसलिये ही जो प्रमाणसे बाधित ऐसे कुधर्ममें तल्लीन होकर भी स्वर्ग मोक्षका कारण और प्रत्यक्षपरोक्ष आदि प्रमाणोंसे अबाधित ऐसे समीचीन धर्मसे (जैन धर्मसे) द्वेष नहीं करता है उसे भद्र कहते हैं। अपि शब्दसे यह भी सूचित होता है कि जो कुधर्म सद्धर्म दोनोंमें मध्यस्थ होकर भी जैन धर्मसे द्वेष नहीं करता है वह भी भद्र कहलाता है। ऐसे भद्रको समीचीन धर्ममें लानेके लिये उपदेश देना चाहिये क्योंकि वह द्रव्य सम्यग्दृष्टी है। आगामी कालमें सम्यक्त्व गुणके उत्पन्न होनेकी योग्यता रखता है। तथा जो अभद्र है अर्थात् कुधर्ममें तल्लीन होता हुआ मिथ्यात्व कर्मके प्रबल उदयसे सद्धर्मकी निंदा करता है ऐसे जीवको उपदेश देना [1]व्यर्थ है, क्योंकि उसके आगामी कालमें भी सम्यक्त्व गुण प्रगट होनेकी योग्यता नहीं है।

१—यहांपर अभद्र अर्थात् जिनमुखसे परान्मुखको उपदेश देनेकी मनाई लिखनेसे शास्त्रकारके हृदयकी संकीर्णता नहीं समझ लेना चाहिये, क्योंकि 'अभद्रोंको उपदेश नहीं ही देना' यह उनका अभिप्राय नहीं है किंतु उनका अभिप्राय यह है कि अभव्योंको दिया हुआ उपेदश व्यर्थ जाता है। जैसे कोरडू मूग हजार अग्नि देनेपर भी गल नहीं सकता इस लिये उसका पकाना व्यर्थ है इसी तरह अभद्र भी उपदेशों द्वारा कभी मोक्षमार्गके अनुकूल नहीं हो सकता इस लिये उसको उपदेश देना व्यर्थ ही है।

आगे–जो पुरुष वीतराग सर्वज्ञके उपदेशसे सुश्रूषा आदि गुणोंको धारण करता है वह यद्यपि सम्यक्त्व रहित हो तथापि व्यवहारमें वह सम्यक्त्वी जीवके समान ही जान पड़ता है, इसी बातको दृष्टांत देकर दिखलाते हैं—

शलाकयेवाप्तगिराप्तसूत्र प्रवेशमार्गो मणिवच्च यः स्यात्।
हीनोपि रुच्या रुचिमत्सु तद्वद् भूयादसौ सांव्यवहारिकाणाम् ॥१०॥

अर्थ—जिस प्रकार एक मोती जो कि कांति रहित है उसमें भी यदि सलाईके द्वारा छिद्रकर सूत (डोरा) पिरोने योग्य मार्ग कर दिया जाय और उसे कांतिवाले मोतियोंकी मालामें पिरो दिया जाय तो वह कांति रहित मोती भी कांतिवाले मोतियोंके साथ वैसा ही अर्थात् कांति सहित ही सुशोभित होता है। इसीप्रकार जो पुरुष सम्यग्दृष्टी नहीं है वह भी यदि सद्गुरुके वचनोंके द्वारा अरंहतदेवके कहे हुये शास्त्रोंमें प्रवेश करनेका मार्ग प्राप्त करले अर्थात् शास्त्रोंके समझने योग्य सुश्रूषा आदि गुण प्रगट करले तो वह सम्यक्त्व रहित होकर भी सम्यग्दृष्टियोंमें नयोंके जाननेवाले व्यवहारी लोगोंको सम्यग्दृष्टीके समान ही सुशोभित होता है। यदि वह सम्यग्दृष्टी हो तो वह तो अत्यंत सुशोभित होती ही है यह अपि शब्दसे सूचित होता है। अभिप्राय यह है कि जो सम्यग्दृष्टी नहीं है परंतु शास्त्रोंके सुनने आदिके लिये सुश्रूषा आदि गुणोंको धारण करनेवाला है उसे सम्यग्दृष्टिके समान ही गिनना चाहिये और उसीतरह उसका आदर सत्कार करना चाहिये ॥१०॥

इस प्रकार उपदेश देनेवाले और उपदेश सुननेवाले दोनोंकी व्यवस्थाकर सागार धर्मको पालन करनेवाले गृहस्थका लक्षण कहते हैं—

> न्यायोपात्तधनो यजन्गुणगुरून् सद्गीस्त्रिवर्गं भज-
> न्नन्योन्यानुगुणं तदर्हगृहिणीस्थानालयो ह्रीमयः ।
> युक्ताहारविहार आर्यसमितिः प्राज्ञः कृतज्ञो वशी
> श्रृण्वन् धर्मविधिं दयालुरघभीः सागारधर्मं चरेत् ॥११॥

अर्थ—जो पुरुष न्यायसे द्रव्य कमाता है, सद्गुण और गुरुओंकी पूजा करनेवाला है, जो सत्य और मधुर वचन बोलता है, धर्म, अर्थ और काम इन तीनों पुरुषार्थोंको परस्पर विरोध रहित सेवन करता है, ऊपर लिखे हुये पुरुषार्थ सेवन करने योग्य नगर अथवा गांव के घरमें तीनों पुरुषार्थ सेवन करने योग्य स्त्रीके साथ निवास करता है, जो लज्जा सहित है, योग्य रीतिसे आहार विहार करता है, सज्जनोंकी संगति करता है, विचारशील है, कृतज्ञ है, इंद्रियोंको वशमें रखनेवाला है, जो सदा धर्मविधिको सुनता रहता है, जो दयालु है और पापोंसे डरता रहता है, ऐसा पुरुष सागारधर्मको सेवन करने योग्य है ।

भावार्थ—अपने स्वामीसे विरोध करना, मित्रसे विरोध करना, विश्वासघात करना और चोरी करना आदि निंद्य (नीच) कार्य कहलाते हैं, ऐसे नीच कार्योंको छोड़कर ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र आदि

अपनी अपनी जातिके अनुसार सदाचाररूप जो द्रव्य कमानेके उपाय हैं उन्हें न्याय कहते हैं, ऐसे लोकमान्य न्यायसे जो द्रव्य कमाया जाता है वह न्यायोपात्त अर्थात् न्यायसे कमाया हुआ कहलाता है। जो द्रव्य न्यायसे कमाया जाता है वह इस लोक और परलोक दोनोंमें सुख देनेवाला होता है क्योंकि उसे इच्छानुसार खर्च करने और भाई बंधु कुटुंब आदिको बांट देनेमें किसी तरहकी [1]शंका नहीं होती। चोरी आदि निंद्य कार्योंसे इकट्ठे किये हुये धनके खर्च करनेमें जैसा भय होता है वैसा भय इसमें नहीं है। जो [2] अन्यायसे धन कमाता है उसे राजा भी दंड देता है, लोकमें भी उसका अपमान होता है तथा और भी अनेक तरहके दुःख भोगने पडते हैं। इसलिये न्यायसेही धन कमाना चाहिये, इसीसे यह जीव इस लोकमें सुखी रह

१—सर्वत्र शुचयो धीराः सुकर्मबलगर्विताः। सुकर्म निहितात्मानः पापाः सर्वत्र शंकिताः ॥ अर्थ—जो धीर पुरुष अच्छे काम करनेके बलसे अभिमानी हैं उनका चित्त सब जगह निर्मल रहता है उन्हें कहीं किसी तरहका भय नहीं होता। तथा जो दुराचारी हैं उन पापीयोंको सब जगह शंका (भय) बनी रहती है।

२—अन्यायोपार्जितं वित्तं दश वर्षाणि तिष्ठति। प्राप्ते त्वेकादशे वर्षे समूलं च विनश्यति॥ अर्थ—अन्यायसे कमाया हुआ धन अधिकसे अधिक दश वर्ष तक ठहरता है, ग्यारहवें वर्ष मूलसहित नाश हो जाता है।

सकता है,[1] न्यायसे कमाया हुआ धन ही सत्पात्रको देने और दुखी जीवोंके दुख दूर करनेमें काम आता है और ऐसा करनेसे यह जीव परलोकमें भी सुखी[2] होता है । विना धनके गृहस्थधर्म चल नहीं सकता इसलिये ही ग्रंथकारने श्लोकमें सबसे पहिले इसे लिखा है ।

[3]सदाचार, सुजनता, उदारता, चतुरता, स्थिरता और प्रियबचन

१—यांति न्यायप्रवृत्तस्य तिर्यंचोपि सहायतां। अपस्थानं तु गच्छंतं सोदरोऽपि विमुंचति।। अर्थ—न्यायमार्गमें चलते हुये पुरुषको पशु पक्षी भी सहायता देते हैं और अन्याय मार्गमें चलनेवालेको सगा भाई भी छोड़ देता है।

२ वर्तमानमें लोगोंके पास हजारों लाखो करोडों रुपये होते हुये भी धर्मकार्योंमें खर्च करनेके लिये उनका जी नहीं चाहता, कोई कोई लज्जासे अथवा केवल अभिमान या यशके लिये थोडाबहुत काम करते हैं परंतु वे इसतरह वा ऐसे काम करते हैं कि जिसमें उनका रुपया तो अधिक लग जाताहै और फल बहुत थोडा होता है । इसका मुख्य कारण यही है कि ऐसे लोगोंका धन न्यायसे कमाया हुआ नहीं है । यह नीति है कि जिस रीतिसे धन कमाया जाता है प्रायः उसी रीतिसे वह खर्च होता है । यदि न्यायसे कमाया जायगा तो अवश्यही धर्मकार्योंमें लगेगा; यदि अन्यायसे कमाया हुआ होगा तो वह अवश्यही अधर्म कार्योंमें लगेगा, अथवा जिसतिसतरह खर्च हो जायगा । इसलिये कहना चाहिये कि धर्मोन्नति, जात्युन्नति, विद्योन्नति आदि करनेके लिये मुख्य कारण न्यायसे धन कमाना है ।

३ लोकापवादभीरुत्वं दीनाभ्युद्धरणादरः । कृतज्ञता सुदाक्षिण्यं सदाचारः प्रकीर्तितः।। अर्थ—लोकापवादसे भय होना, दीन पुरुषोंके उद्धार करनेमें

आदि अपने और दूसरेके उपकार करनेवाले आत्माके धर्म गुण कहलाते हैं; सत्कार, प्रशंसा, सहायता आदिसे उन गुणोंको पूज्य मानना अथवा बढाना गुणपूजा है। माता पिता और आचार्यको गुरु कहते हैं, इनको तीनों समय अर्थात् सवेरे, दोपहर और शामको प्रणाम करना, इनकी आज्ञा मानना तथा और भी विनय करना [1]गुरुपूजा है। अथवा जो ज्ञान संयम आदि गुणोंसे गुरु अर्थात् बडे वा पूज्य हैं उनको गुणगुरु कहते हैं। ऐसे पुरुषोंकी सेवा करना, आते हुये गुरुको देखकर खडे हो जाना, उन्हें ऊंचा आसन देना, नमस्कार करना आदि गुणगुरुओंकी पूजा कहलाती है।

सद्गीः—जो मधुर, प्रशंसनीय और उत्कृष्ट बचन कहता है, दूसरेकी [2]निंदा और [3]अपमान करनेवाले तथा कठोर

प्रीति रखना, दूसरेके कियेहुये कार्यका उपकार मानना, और दाक्षिण्य रखना अर्थात् कठोरता और दुराग्रह नहीं करना सदाचार कहलाता है।

१ यन्मातापितरौ क्लेशं सहेते संभवे नृणां। न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि॥ अर्थ—हमारे जन्म लेनेके समय हमारे माता पिता जो दुख और क्लेश सहन करते हैं यदि उसका कोई बदला चुकाना चाहे तो वह उनकी सौ वर्ष सेवा करने पर भी नहीं चुका सकता।

२ यदिच्छसि वशीकर्तुं जगदेकेन कर्मणा। परापवादसस्येभ्यो गां चरंतीं निवारय॥ अर्थ—हे जीव! यदि तू समस्त संसारको एक ही उपायसे वश करना चाहता है तो वह उपाय यही है कि तू अपनी वाणीरूपी

अप्रिय आदि बचन कभी नहीं कहता, वही सद्गी अर्थात् सत्य व मधुर बचन कहनेवाला कहलाता है।

त्रिवर्ग—अर्थात् धर्म अर्थ काम। जिससे अभ्युदय अर्थात् देवेंद्र नागेंद्र चक्रवर्ती आदि पद और निःश्रेयस अर्थात् मोक्षपदकी सिद्धि होती है उसे [१] धर्म कहते हैं। जिसके द्वारा लौकिक समस्त कार्योंकी सिद्धि होती है उसे अर्थ कहते हैं। इसीके द्रव्य धन संपत्ति आदि नाम है। स्पर्शन रसना आदि पांचों इंद्रियोंकी स्पर्श रस आदि विषयोंमें जो प्रीति है उसे काम कहते हैं। इस प्रकार धर्म अर्थ काम इन तीनों पुरुषार्थोंको त्रिवर्ग कहते हैं। इन तीनों पुरुषार्थोंका सेवन गृहस्थ-को नित्य [२] करना चाहिये, परंतु वह सेवन इसप्रकार

गायको परनिंदारुपी धानके खानेसे रोक, अर्थात् किसीकी निंदा मत कर।

३ परपरिभवपरिवादादात्मोत्कर्षाच्च बध्यते कर्म। नीचैर्गोत्रं प्रतिभवमनेक भवकोटिदुर्मोचं॥ अर्थ–यह जीव परकी निंदा और अपमान करनेसे तथा अपनी प्रशंसा करनेसे प्रत्येक भवमें नीचगोत्रकर्मका ऐसा बंध करता है कि जिसका छूटना करोडों भवोंमें भी कठिन हो। भावार्थ— दूसरेकी निंदा और अपनी प्रशंसा करनेसे इस जीवको करोडों वर्षोंतक चांडाल आदि नीच गोत्रोंमें जन्म लेना पडता है।

१. ' संसारदुःखतः सत्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे ' जो संसारके दुःखों से निकालकर जीवोंको उत्तम सुखमें पहुंचादे वही धर्म है।

२. यस्य त्रिवर्गशून्यानि दिनान्यायांति यांति च। स लोहकारभस्त्रेव

किया जाय कि जिससे एकके सेवन करनेसे दूसरेकी हानि न हो। इसका अभिप्राय यह है कि धर्म और अर्थका सर्वथा नाश करके विषयादिक सुखोंका अनुभव नहीं करना चाहिये, क्योंकि कामकी प्राप्ति अर्थ अर्थात् धनसे होती है और अर्थकी प्राप्ति धर्मसे[3] होती है, इसलिये जैसे बीजके नाश होनेपर वृक्ष नहीं उग सकता उसीतरह धर्म और अर्थके नाश होनेपर कामकी प्राप्ति भी नहीं हो सकती। जो पुरुष केवल कामसेवनमें ही लगा रहता है वह अवश्य ही धर्मसे भ्रष्ट होता है, उसके सब धनका भी नाश हो जाता है और उसके शरीरकी भी बडी भारी हानि होती है।

इसलिये धर्म अर्थकी रक्षा करतेहुये कामका सेवन करना उचित है। इसीतरह जो पुरुष धर्म और कामका उल्लंघन कर अर्थात् नाश कर केवल धन कमानेमें लगा रहता है वह भी मूर्ख ही है, क्योंकि हमारा कमाया हुआ धन यदि धर्मकार्यमें खर्च न होगा

श्वसन्नपि न जीवति ॥ अर्थ—धर्म अर्थ काम इन तीनों पुरूषार्थोंके सेवन किये बिना ही जिसके दिन आते और चले जाते हैं वह पुरूष लुहारकी भातीके समान श्वास लेता हुआ भी मरे हूयेके समान है।

३. त्रिवर्ग संसाधनमंतरेण पशोरिवायुर्विफलं नरस्य। तत्रापि धर्मं प्रवरं वदंति न तं विना यद्भवतोर्थकामौ॥ अर्थ— त्रिवर्ग सेवन किये बिना मनुष्यकी आयु पशुके समान व्यर्थ है। उस त्रिवर्गमें भी आचार्योंने धर्मको ही मुख्य बतलाया है क्योंकि धर्मके विना अर्थ और कामकी प्राप्ति नहीं होती।

तो वह आगेके जन्मके लिये अथवा आगामी कालके लिये सुखका साधन नहीं हो सकेगा। यदि वही धन धर्मकार्योंमें लगादिया जायगा तो उस धनके द्वारा उपार्जन कियेहुये धर्मके संबंधसे आगेके जन्मोंमें भी अनेक तरहके सुखोंकी प्राप्ति होगी। इसीतरह यदि इस भवमें भी धनका उपयोग न किया जायगा अर्थात् कमाये हुये धनसे कामसेवन न किया जायगा तो वह ईंट पत्थरोंकी तरह पडा व गडा रह जायगा और हमारे मरनेके पीछे अवश्यही किसी दूसरेका हो जायगा, उसके कमानेमें जो हिंसा झूठ आदि पाप हमने किये हैं वे केवल हमको ही भोगने पडेंगे। इसलिये मनुष्यको उचित है कि धर्म और कामको यथायोग्य रीतिसे सेवन करताहुआ धन कमावे। अर्थ और कामको छोडकर केवल धर्मसेवन करना मुनियोंका काम है, गृहस्थोंके पास तो धन होना ही चाहिये, विना धनके गृहस्थधर्म ही नहीं चल सकता परंतु धर्म और कामको सर्वथा छोडकर धन कमाना उचित नहीं है। किसी पुरुषको पूर्वोपार्जित धर्मके प्रभावसे अतुल संपत्तिकी प्राप्ति हो और यदि वह उस संपत्तिका कोई भी भाग धर्म[1]कार्यमें खर्च न करै तो वह जीव अगिले जन्ममें इसतरह दुखी होगा

[1] पादमायान्निधिं कुर्यात्पादं वित्ताय खट्वयेत्। धर्मोपभोगयोः पादं पादं भर्त्तव्यपोषणे॥ गृहस्थ अपने कमाये हुये धनके चार भाग करे, उसमेंसे एक भाग तो जमा रक्खे, दूसरे भागसे वर्त्तन वस्त्र आदि घरकी

कि जैसे वह किसान दुखी होता है जिसके यहां बहुत अनाज उत्पन्न होनेपर भी जिसने अगिली फसलके बोनेके लिये बीज नहीं रक्खा है या बीज खरीदनेके लिये धन नहीं रक्खा है। संसारमें वही जीव सुखी समझना चाहिये कि जो परलोकके सुख भोगता है। जो पुरुष अपना सब धन खर्चकर केवल धर्म और कामका सेवन करता है वह भी अंतमें दुखी होता है, तथा जो पुरुष कामसेवन न करता हुआ केवल धर्म और अर्थका सेवन करता है वह तो गृहस्थ ही नहीं कहला सकता क्योंकि श्री सोमदेवने लिखा है कि 'गृहिणी गृहमुच्यते न पुनः काष्ठसंग्रहः' अर्थात् स्त्रीका नाम ही घर है। ईंट पत्थर, काठ आदिके समुदायको घर नहीं कहते।

धनी पुरुषोंके तीन भेद हैं-तादात्त्विक, मूलहर और कदर्य। ये तीनों ही ऐसे हैं कि इनके हाथसे धर्मकी रक्षा और कामसेवन नहीं हो सकता। जो पुरुष आगेका कुछ बिचार न कर मिले हुये धनको केवल अयोग्य कार्योंमें खर्च करता है उसे तादात्त्विक कहते हैं, जो पूर्वजोंके कमाये हुये धनको

चीजें खरीदे, तीसरा भाग धर्मकार्य और अपने भोग उपभोगोंमें खर्च करे और चौथे भागसे अपने कुटुंबका पालन करे॥ अथवा—आयार्द्धं च नियुंजीत धर्मे समाधिकं ततः। शेषेण शेषं कुर्वीत यत्नतस्तुच्छमैहिकं॥ अर्थ—अपने कमाये हुये धनका आधा अथवा कुछ अधिक धर्मकार्यमें खर्च करै और बचे हुये द्रव्यसे यत्नपूर्वक कुटुंब

अन्याय मार्गसे केवल खाने पीनेमें उडा देता है उसे मूलहर कहते हैं और जो पुरुष आपको तथा अपने कुटुंब सेवक आदि लोगोंको अत्यंत दुःख देकर धन बचाता है, किसी भी कार्यमें उसे खर्च नहीं करता वह [१]कदर्य (कृपण) है। इन तीनोंमेंसे तादात्विक और मूलहरका तो सब धन खर्च हो जाता है। धन खर्च होनेपर वह धर्म और काम इन दोनों पुरुषार्थोंका सेवन नहीं कर सकता, इसलिये उसका कल्याण नहीं हो सकता। कदर्य अर्थात् कृपणका द्रव्य या तो राजा ले लेता है अथवा चोर चोरी कर ले जाते है, इसलिये उसे दोनों नहीं मिल सकता। इसलिये धर्म अर्थ काम इन तीनों पुरुषार्थोंको परस्पर बाधा रहित सेवन करना चाहिये। किसी अशुभ कर्मके उदयसे कदाचित इनमें कोई विघ्न आजाय तो जहांतक बने पहिले पहिलेके पुरुषार्थोंकी रक्षा करनी चाहिये। भावार्थ—तीनोंमें विघ्न आनेकी संभावना हो तो धर्म और अर्थकी रक्षा करना चाहिये, क्योंकि इन दोनोंकी रक्षा होनेसे कामकी सिद्धि कभी अपनेआप हो जायगी। कदाचित् इन दोनोंकी भी रक्षा न हो सके तो धर्मकी ही रक्षा करना चाहिये क्योंकि अन्य दोनों पुरुषार्थोंका मूल कारण धर्म ही है। इस

आदिका पालन पोषण करे। क्योंकि इस लोकका सुख तुच्छ है इसलिये इसमें अधिक धन खर्च करना योग्य नहीं है।

१ कुत्सितः अर्थः स्वामी कदर्यः। नीचैं मालिक।

प्रकार गृहस्थको धर्म अर्थ काम इन तीनों पुरुषार्थोंका सेवन परस्परके [1] अनुरोधसे करना चाहिये।

गृहिणी स्थान आलय—जो अपने समान कुलमें उत्पन्न हुई हो; अग्नि, माता, पिता, गुरु और सभ्यजनोंके सामने जिसके साथ विवाह हुआ हो ऐसी [2] सदाचारसे चलनेवाली स्त्रीको गृहिणी कहते हैं; घरकी स्वामिनीका नाम ही गृहिणी हैं। घरमें ऐसी स्त्री होनेसे धर्म अर्थ व काम ये तीनों ही पुरुषार्थ अच्छी तरह सध सकते हैं। जो पतिके साथ किसी

---

१ परस्परानुरोधेन त्रिवर्गो यदि सेव्यते। अनर्गलमतः सौख्यमवर्गोप्यनुक्रमात् ॥ अर्थ—यदि धर्म अर्थ कामका सेवन परस्परके अनुरोधसे किया जाय तो इस भवमें भी निरंतर सुख मिलता है और अनुक्रमसे मोक्षकी प्राप्ति भी होती है।

२ अभ्युत्थानमुपागते गृहपतौ तद्भाषणे नम्रता तत्पादार्पितदृष्टिरासनविधौ तस्योपचर्या स्वयं। सुप्ते तत्र शयीत तत्प्रथमतो जह्याच्च शय्यामिति प्राज्ञैः पुत्रि निवेदिताः कुलवधूसिद्धांतधर्मा इमे ॥ अर्थ—सीता जिससमय अपनी सुसरालको चलने लगी उस समय राजा जनकने उसको यह उपदेश दिया था कि हे पुत्रि! अपने पतिके आनेपर उसका सत्कार करनेके लिये उठकर खडा होना, जो वह कहे उसे विनयके साथ सुनना, पतिके बैठने पर अपनी दृष्टि उसके चरणोंपर रखना, पतिकी सेवा स्वयं करना, पतिके सोनेके पीछे सोना और उससे पहिले उठना ये सब कुलवधुओंके सिद्धांतकर्म हैं अर्थात् कुलीन स्त्रियोंको अवश्य करना चाहिये ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं।

तरहका छल कपट न करे, दौरानी जिठानी ननद सासु आदिकी सेवा करे, अन्य कुटुंबी लोगोंको स्नेहकी दृष्टिसे देखे, सेवकलोगोंपर दया रक्खे और सौतके साथ किसी तरहका विरोध न करे वही स्त्री गुणवती और अच्छी कहलाती है। इसीतरह गृहस्थको ऐसे गांव अथवा नगरमें रहना चाहिये कि जहां जिनमंदिर, शास्त्रभंडार, जैन पाठशाला, और सज्जन पुरुषोंकी संगति आदि धर्मवृद्धिके साधन हों तथा अपने कुटुंब आदिके अच्छीतरह निर्वाह करनेके लिये धन कमानेकी भी अनुकूलता हो। ऐसे गांव अथवा शहरमें गृहस्थको अपना घर बनानां चाहिये। घर भी ऐसा होना चाहिये जिसमें उसको किसी भी ऋतुमें किसी तरहकी तकलीफ न हो, तथा जिन-प्रतिमा विराजमान करनेके लिये, धर्मध्यान स्वाध्याय आदि करनेके लिये जिसमें स्वतंत्र एकांत स्थान हो। इसप्रकार गृहस्थके लिये त्रिवर्ग सेवन करने योग्य स्त्री, गांव व शहर और घर होनां चाहिये।

ह्रीमयः—अर्थात् लज्जासहित। लज्जावान् गृहस्थको अपने ऐश्वर्य, वय (उमर) अवस्था, देश, काल, और कुलके अनुसार वस्त्र अलंकार आदि पहनना चाहिये। निर्लज्ज होकर अपने देश कुल और जातिमें निंद्य ऐसे आचरण करना उचित नहीं है।

युक्ताहार विहार—अर्थात् जिसके भोजन और आने जानेके स्थान दोनों ही यथायोग्य हों, शास्त्रानुसार हों। धर्म-

शास्त्रमें जिन पदार्थोंके खानेका निषेध किया हैं उनको नहीं खाना चाहिये तथा वैद्यकशास्त्रके अनुसार भोजन करना चाहिये, योग्य देश तथा योग्य कालमें घूमना फिरना आदि विहार करना चाहिये कि जिसमें रत्नत्रयधर्मकी हानि न हो।

आर्यसमिति–अर्थात् गृहस्थको सदाचारी और [१] सज्जनोंकी संगति करना चाहिये। जुआरी, धूर्त, व्यभिचारी, मिथ्यात्वी, भांड, मायावी और नट आदि दुष्ट पुरुषोंकी संगति कभी नहीं करना चाहिये।

प्राज्ञ–अर्थात् ऊहापोहरुप [२] विचार करनेवाला। जो विचारवान है वह बल अबलका विचार करता है, दीर्घदर्शी

१ यदि सत्संगानिरतो भविष्यसि भविष्यसि। अथ संज्ञानगोष्ठीषु पतिष्यसि पतिष्यसि॥ अर्थ–जो तू सज्जनोंकी संगति करेगा तो निश्चय ही उत्तम ज्ञानकी गोष्ठीमें पडेगा अर्थात् ज्ञान संपादन करेगा।

२ इदं फलमियं क्रिया करणमेतदेष क्रमो व्ययोऽप्यमनुषंगजं फलमिदं दशैषा मम। अयं सुहृदयं द्विषत्प्रियतदेशकालाविमाविति प्रतिवितर्कयन् प्रयतते बुधो नेतरः। अर्थ–यह फल है, इसके उत्पन्न करनेके लिये यह क्रिया करनी पडती है, उस क्रियाका यह साधन है, उसका क्रम ऐसा है, उसके करनेमें इतना खर्च होगा, उसके संबंधसे यह फल मिलेगा, मेरी दशा ऐसी है, यह मेरा शत्रु है, यह मेरा मित्र है, यह देश ऐसा है, समय ऐसा है इन सब बातोंका विचार करके किसी कार्यमें प्रवर्त होना बुद्धिमानका ही काम है, मूर्खोंको इतना विचार नहीं हो सकता।

अर्थात् आगेको दूरतक सोचनेवाला होता है, और सब मनुष्योंसे विशेष जानकार होता है।

बल चारप्रकार है-द्रव्यबल, क्षेत्रबल, कालबल और भावबल। ये चारों ही बल आपमें कितने हैं और दूसरेमें कितने हैं इसके विचार करनेको बलाबलविचार कहते हैं। जो कार्य बल अबलके विचार किये विना ही किया जाता है उसमें सदा विपत्ति आनेकी संभावना रहती है। जो मनुष्य किसी कार्यको प्रारंभ अथवा समाप्त करके आगामी कालमें होनेवाले उसके हानि लाभको भी उसी समय समझ लेता है अथवा विचार कर लेता है उसे दीर्घदर्शी कहते हैं। वस्तु अवस्तुमें, कृत्य अकृत्यमें, आप और दूसरेमें क्या अंतर है इसको जो जानता है वही [1] विशेषज्ञ है। इसप्रकार जिसको बल अबलका विचार है, जो दूरदर्शी है और विशेष जानकार है उसे प्राज्ञ कहते हैं।

कृतज्ञ—जो दूसरेके किये हुये उपकारको [2] मानता है तथा उपकार करनेवालेके हित और कुशलकी इच्छा रखता है

---

१ प्रत्यहं प्रत्यवेक्षेत नरश्चरितमात्मनः। किं नु मे पशुभिस्तुल्यं किं नु सत्पुरुषैरपि॥ मनुष्यको प्रतिदिन अपने आचरण देखने चाहिये और विचार करना चाहिये कि पशुओंके समान है अथवा सज्जनोंके!।

२ विधित्सुरेनं यदिहात्मवश्यं कृतज्ञतायाः समुपैहि पारं। गुणैरुपेतोप्यखिलैः कृतघ्नः समस्तमुद्वेजयते हि लोकं॥ यदि तू इस

उसे कृतज्ञ कहते हैं। ऐसा पुरुष सब लोगोंको प्रिय होता है और सब लोग आवश्यक समयपर उसकी सहायता करते हैं।

वशी——जो इष्ट पदार्थोंमें अधिक आसक्त नहीं है, जिसकी प्रवृत्ति विरुद्ध पदार्थोंमें नहीं है, जो पांचों इंद्रियोंके विकारोंको रोकनेवाला और काम क्रोध आदि अंतरंग शत्रुओं-को निग्रह (वश) करनेवाला है उसे वशी कहते हैं। काम क्रोध लोभ मान मद और हर्ष ये छह अंतरंग शत्रु है, स्वस्त्रीमें अत्यंत आसक्त रहना तथा विवाहित अविवाहित परस्त्रीकी अभिलाषा करना काम कहलाता है। अपना अथवा दूसरेके नाश व हानिका कुछ विचार न करके क्रोध करना क्रोध है। सत्पात्रको दान न देना तथा विना कारण ही परद्रव्य ग्रहण करना लोभ है। अभि-मान करना, योग्य बचन न मानना, और अन्य लोगोंको अ-पनेसे छोटा मानना मान है। यौवन, सुंदरता, ऐश्वर्य, और बलके होनेसे उन्मत्त होना, हित अहितका विचार न करना तथा इच्छानुसार क्रिया करना आदिको मद कहते हैं। विना कारण किसी दूसरेको दुख देकर अथवा जूआ शिकार आदि पापकर्म कर प्रसन्न होना, खुशी मानना हर्ष कहलाता है। इन

परिवारको और समस्त लोगोंको अपने वश करना चाहता है तो कृतज्ञताका पारगामी हो अर्थात् कृतज्ञ बन, कृतघ्न मत हो क्योंकि संपूर्ण गुणोंसे भरपूर होनेपर भी कृतघ्न पुरुष सब लोगोंको क्षोभित कर देते हैं, अर्थात् सब लोग उससे प्रीति छोड देते हैं।

छहों अंतरंग शत्रुओंको सदा वश रखनेवाला ही वशी अथवा जितेंद्रिय कहलाता है।

धर्मविधिको [1]सुननेवाला—स्वर्ग मोक्षके सुखके प्राप्त होनेका जो कारण है उसे धर्म कहते हैं, उस धर्मकी जो विधि है अर्थात् युक्ति और आगमके अनुसार उसकी जो स्थिति है उसका जो मार्ग अथवा कारण है उसे धर्मविधि कहते है। उस धर्मविधिको अर्थात् धर्मसाधन करनेके कारणोंको जो सदा सुनता रहता है वह धर्मविधिको सुननेवाला कहलाता है।

दयालु [2]—दुखी जीवोंके दुख दूर करनेकी जिसकी सदा इच्छा रहती है उसे दयालु कहते हैं। दया धर्मका मूल

---

१ भव्यः किं कुशलं ममेति विमृशन् दुःखाद्भृशं भीतिवान् सौख्यैषी श्रवणादिबुद्धिविभवः श्रुत्वा विचार्य स्फुटं। धर्मं शर्मकरं दयागुणमयं युक्त्यागमाभ्यां स्थितं गृह्णन् धर्मकथाश्रुतावधिकृतः शास्यो निरस्ताग्रहः ॥ जो अपने हितका विचार करता रहता है, संसारके दुखोंसे डरता है, सुखकी इच्छा करता है, शास्त्र आदिके सुननेसे जिसकी बुद्धि निर्मल हो गई है, जो युक्ति और आगमसे सिद्ध और कल्याण करनेवाले ऐसे दयामयी धर्मको सुनकर तथा उसका दृढ विचार कर ग्रहण करता है, जो दुराग्रह रहित और भव्य है वही धर्मशास्त्रके सुननेका अधिकारी है ऐसे मनुष्यको अवश्य उपदेश देना चाहिये।

२ प्राणा यथात्मनोऽभीष्टा भूतानामपि ते तथा। आत्मौपम्येन भूतानां दयां कुर्वीत मानवः ॥ जिसप्रकार तुम्हें अपने प्राण

है। जिसके दया नहीं है उसे जैनधर्म धारण करनेका अधिकार नहीं है। यदि शत्रु भी हो तथापि उसपर दया करनी चाहिये। जो दयालु है उसमें सब गुण आकर निवास करते हैं।

अघभी---अर्थात् पापभीरु-जो हिंसा झूठ चोरी शराब जूआ आदि बुरे कामोंसे डरता है उसे पापभीरु वा पापोंसे डरनेवाला कहते हैं।

इसप्रकार ऊपर लिखे हुये चौदह गुण जिस पुरुषमें विद्यमान है वही सागार धर्मके पालने योग्य है ॥ ११ ॥

प्रिय हैं उसीप्रकार सब जीवोंको अपने अपने प्राण प्रिय हैं। इसलिये मनुष्योंको अपने आत्माकी तरह सब जीवोंकी दया करनी चाहिये।

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यतां। आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ॥ भो भव्यजन हो ! धर्मका मुख्यसार सुनो और सुनकर उसे धारण करो अर्थात् उसके अनुसार चलो। वह धर्मका मुख्यसार यही है कि अपने आत्माके प्रतिकूल जो दुःख आदि हैं उन्हें किसी दूसरे जीवको मत होने दो अर्थात् किसीको दुःख मत दो, सबपर दया करो।

अवृत्तिव्याधिशोकार्तानुवर्तेत शक्तितः। आत्मवत्सततं पश्येदपि कीटपिपीलिकाः ॥ जिनकी कोई जीविका नहीं है तथा जो रोग शोक आदिसे दुखी हैं ऐसे जीवोंपर दयाकर उनका दुख दूर करना चाहिये और कीडे चिउंटी आदि छोटे छोटे जीवोंको भी सदा अपने समान देखना चाहिये।

अब मंदबुद्धिवाले शिष्योंको सहज ही स्मरण रहे इसलिये पूर्ण सागारधर्मको कह देते हैं—

सम्यक्त्वममलममलान्यणुगुणशिक्षाव्रतानि मरणांते ।
सल्लेखना च विधिना पूर्णः सागरधर्मोयम् ॥ १२ ॥

अर्थ—जिसमें शंका, आकांक्षा आदि कोई दोष नहीं है ऐसा निर्मल सम्यग्दर्शन धारण करना, अतिचार रहित अणुव्रत, अतिचाररहित गुणव्रत, और अतिचाररहित शिक्षाव्रतोंका पालन करना तथा मरनेके अंतिम समयमें विधिपूर्वक सल्लेखना अर्थात् समाधिमरण धारण करना यह पूर्ण सागारधर्म कहलाता है ।

भावार्थ—पूर्ण सागारधर्ममें सम्यक्त्व और सब व्रत अतिचाररहित होने चाहिये, जबतक अतिचार सहित व्रत हैं तबतक उसका धर्म अपूर्ण कहलाता है । सम्यक्त्व, अणुव्रत, गुणव्रत, शिक्षाव्रत और सल्लेखना इनके सिवाय देवपूजा स्वाध्याय आदि और भी श्रावकके धर्म हैं परंतु वे सब इन्हींमें अंतर्भूत (शामिल) हो जाते हैं इसलिये उन्हें अलग नहीं कहा है, अथवा श्लोकमें जो च शब्द है उससे देवपूजा स्वाध्याय आदि जो इस श्लोकमें नहीं कहे हैं उन सबका ग्रहण हो जाता है । सल्लेखना व्रत मरणके अंतिम समयमें धारण करना चाहिये। जिसमें शरीर नष्ट हो जाय वही मरण यहांपर लिया है, सल्लेखनामें आवीचिमरणका ग्रहण नहीं किया है क्योंकि

आवीचिमरण तो सब जीवोंके प्रत्येक समयमें होता रहता है। (प्रत्येक संसारी जीवके प्रत्येक समयमें जो आयुकर्मके निषेक खिरते रहते हैं उसे आवीचिमरण कहते हैं) किसी वस्तुके लाभकी इच्छा न करके बाह्य तथा आभ्यंतर तपश्चरणके द्वारा शरीर और कषायोंको कृश करना अर्थात् घटाना सलेखना कहलाती है। पुत्र, मित्र, स्त्री, विषय आदिके सुख, क्रोध आदि कषाय इन सब परिग्रहोंको छोडकर शांत चित्तसे धर्म-ध्यानमें लीन हो जाना ही सल्लेखना है। यह सल्लेखनाव्रत सागार-धर्मरुपी राजमंदिर पर कलशके समान है। अभिप्राय यह है कि विना सल्लेखनाके सागारधर्मकी शोभा नहीं है। इस सल्ले-खनाकी विधि इसी ग्रंथके अंतिम अध्यायमें लिखेंगे। ॥ १२॥

आगे—असंयमी सम्यग्दृष्टि जीवोंके भी अशुभ कर्मोंका फल मंद होता है यही दिखलाते हैं—

भूरेखादिसदृक्कषायवशगो यो विश्वदृश्वाज्ञया
हेयं वैषायिकं सुखं निजमुपादेयं त्विति श्रद्दधत्।
चौरो मारयितुं धृतस्तलवरेणेवात्मनिंदादिमान्
शर्माक्षं भजते रुजत्यपि परं नोत्तप्यते सोप्यघैः ॥ १३ ॥

अर्थ—" भगवान सर्वज्ञ वीतरागदेवकी आज्ञा कभी उल्लंघन करने योग्य नहीं है क्योंकि सर्वज्ञ वीतरागदेव कभी मिथ्या उपदेश नहीं दे सकते "इसप्रकारके दृढ विश्वाससे जो उनकी आज्ञा मानता है अर्थात् जिसके गाढ सम्य-

ग्दर्शन विद्यमान है ऐसा जो पुरुष "आपको अच्छे लगनेवाले स्त्री आदिके विषयसुख छोडने योग्य हैं, कभी सेवन करने-योग्य नहीं हैं, क्योंकि इनके सेवन करनेसे दुख देनेवाले अशुभ कर्मोंका बंध होता है। तथा अपने आत्मासे उत्पन्न हुआ नित्य अविनाशीक मोक्षसुख ग्रहण करनेयोग्य है अर्थात् रत्नत्रयरूप उपयोगके द्वारा आत्मामें प्रगट करने योग्य है" इसप्रकारका गाढ श्रद्धान करता है, कभी स्वप्नमें भी इसके प्रतिकूल विचार नहीं करता, तथा जिसप्रकार मारनेकेलिये कोतवालके द्वारा पकडा हुआ चोर कोतवालकी आज्ञानुसार काला मुंह करना, गधेपर चढकर शहरमें फिरना आदि निंद्य कार्य करता है उसीप्रकार जो [1]पृथ्वीकी रेखा आदिके समान अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और

---

१ अनंतानुबंधी क्रोधका उदाहरण—पत्थरकी रेखा, अप्रत्या-ख्यानक्रोध-पृथ्वीकी रेखा, प्रत्याख्यानक्रोध—बालू अथवा धूलिकी रेखा, संज्वलन क्रोध-जलकी रेखा, इसप्रकार चारों क्रोधके ये चार दृष्टांत हैं। इसीतरह मानके उदाहरण—[illegible] स्तंभ, हड्डी, लकडी और लता हैं। मायाके उदाहरण—बांसकी जड, मेढेका सींग, गोमूत्रिका (चलते हुये बैलका पेशाव करना) और लिखनेमें कलमकी टिढाई है। लोभके उदाहरण—मजीठका रंग, काजल, कीचड और हल्दीका रंग है। यहांपर अनंतानुबंधी कषायको छोडकर शेष तीनोंका उदाहरण बतलाया है क्योंकि अविरत सम्यग्दृष्टिके इन तीनोंका ही उदय है। सम्यग्दर्शन हो जानेसे अनंतानुबंधीका उदय नहीं है।

संज्वलन संबंधी क्रोध मान माया लोभ इन मुख्य बारह कषाय रुप चारित्रमोहनीयकर्मके उदयसे अर्थात् उस चारित्रमोहनीय कर्मके उदयके परवश होकर जो इंद्रियोंसे उत्पन्न हुये सुखोंका अनुभव करता है, चक्षु रसना आदि इंद्रियोंके रुप रस आदि इष्ट पदार्थोंका सेवन करता है इतना ही नहीं किंतु त्रस और स्थावर जीवोंको भी वह पीडा देता है, दुख पहुंचाता है। परंतु इन कार्योंसे वह अपनी निंदा अवश्य करता है, वह समझता है कि " मेरा आत्मा हाथमें दीपक लेकर भी अंधे कूएमें पड रहा है, मुझे बार बार धिक्कार हो " इसप्रकार जो अपनी निंदा करता है तथा गुरुके समीप जाकर भी इसप्रकार अपनी निंदा करता है कि "हे भगवन्! मैं इसप्रकारके कुमार्गमें जा रहा हूं, नरक आदि दुर्गतियोंके दुख मुझसे कैसे सहे जायंगे "। अभिप्राय यह है कि जैसे पकडा हुआ चोर जानता है कि काला मुंह करना गधेपर चढना आदि निंद्य काम है तथापि कोतवालकी आज्ञानुसार उसे सब काम करने पडते हैं इसीप्रकार सम्यग्दृष्टी पुरुष जानता है कि त्रस स्थावर जीवोंको दुख पहुंचाना इंद्रियोंके सुख सेवन करना निंद्य और अयोग्य कार्य हैं, तथापि चारित्रमोहनीयकर्मके उदयसे उसे ये सब काम करने पडते हैं, द्रव्यहिंसा भावहिंसा भी करनी पडती है, क्योंकि अपने समयके अनुसार जो कर्मोंका उदय आता है वह किसीसे रोका नहीं जा सकता, उसका फल भोगना ही

पडता है। भावार्थ यह है कि जिसके सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो गया है परंतु चारित्रमोहनीयकर्मके प्रबल उदयसे जो इंद्रियसुखोंको छोड नहीं सकता, त्रस स्थावर जीवोंकी हिंसाका त्याग नहीं कर सकता ऐसा [1]अविरत सम्यग्दृष्टी जीव भी पापोंसे [2]अत्यंत क्लेशित नहीं होता है। जब अविरत सम्यग्दृष्टी जीव ही अनेक पापोंसे अधिक दुखी नहीं है तो जिसने विषयसुख सब छोड दिये हैं अथवा जिसने एकदेश किंवा सर्वदेश हिंसादिका त्याग कर दिया है ऐसा जीव भी पापोंसे क्लेशित नहीं हो सकता। यह श्लोकमें दिये हुये अपि शब्दसे सूचित होता है। इससे यह भी अभिप्राय निकलता है कि सम्यग्दर्शन उत्पन्न

---

१ णो इंदिऐसु विरदो णो जीवे थावरे तसे चावि। जो सद्दहदि जिणुत्तं सम्माइठ्ठी अविरदो सो ॥ जो न तो इंद्रियोंके विषयोंसे विरक्त हुआ है और न त्रस स्थावर जीवोंकी हिंसासे विरक्त हुआ है परंतु जिनेंद्रदेवके कहे हुये पदार्थोंपर पूर्ण श्रद्धान करता है उसे **अविरत सम्यग्दृष्टी** कहते हैं।

२ न दुःखबीजं शुभदर्शनक्षितौ कदाचन क्षिप्रमपि प्ररोहति। सदाप्यनुप्तं सुखबीजमुत्तमं कुदर्शने तद्विपरीतमिष्यते ॥ सम्यग्दर्शनरूपी भूमिमें यदि दुखके बीज पड भी जायं तो वे शीघ्र उत्पन्न नहीं होते, और सुखके बिज यदि न भी पडे हों तो भी सुख उत्पन्न होता है। मिथ्यादर्शनरूपी भूमिमें ठीक इसके प्रतिकूल फल उत्पन्न होते हैं, अर्थात् उसमें यदि सुखके बीज पड भी जायं तो भी वे उत्पन्न नहीं होते और दुखके न पडते हुये भी दुःख उत्पन्न होता ही है।

होनेके पहिले जिसके आयुकर्मका बंध नहीं हुआ है ऐसा सम्यग्दृष्टी जीव भी श्रेष्ठ देव और उत्तम मनुष्य होनेके सिवाय अन्य गतियोंमें परिभ्रमण नहीं कर सकता अर्थात् उसका अन्य संसारके परिभ्रमणका क्लेश सब दूर हो जाता है। तथा जिसने सम्यग्दर्शन उत्पन्न होनेके पहिले आयुकर्मका बंध कर लिया हो और वह [२]नरकायुका बंध हुआ हो तो वह जीव रत्नप्रभा भूमिमें अर्थात् पहिले नरकमें ही जघन्य अथवा मध्यम स्थितिका ही अनुभव करेगा, उसे वहां अधिक दिनतक दुख सहन नहीं करने पडेंगे। इसलिये जो भव्य जीव संसारके दुःखोंसे [१]भयभीत हैं उन्हें जबतक संयमकी प्राप्ति न हो तबतक

---

२ दुर्गतावायुषो बंधात्सम्यक्त्वं यस्य जायते। आयुश्छेदो न तस्यास्ति तथाप्यल्पतरा स्थितिः॥ दुर्गतिमें आयुबंध होनेके पीछे जिसके सम्यक्त्व उत्पन्न हुआ है उसके यद्यपि आयुकर्मका छेद नहीं होता तथापि स्थिति घटकर बहुत थोडी रहजाती है। इसलिये उसे थोडे दिन ही दुःख भोगने पडते हैं। यह सम्यक्त्वकी महिमा है।

१ जन्मोन्मार्ज्यं भजतु भवतः पादपद्मं न लभ्यं
तच्चेत्स्वैरं चरतु न च दुर्देवतां सेवतां सः।
अश्नात्यन्नं यदिह सुलभं दुर्लभं चेन्मुधास्ते
क्षुद्व्यावृत्त्यै कवलयति कः कालकूटं बुभुक्षुः॥ १॥

हे देव! जन्ममरणरूपी दुःखोंके नाश करनेकी जिसकी इच्छा है वह दुर्लभ ऐसे आपके चरणकमलोंकी भक्ति करे आपमें दृढ भक्ति रखकर यदि वह स्वेच्छानुचारी भी हो अर्थात् किसी भी चारित्रको

सम्यग्दर्शनकी आराधना करनेके लिये नित्य प्रयत्न करते रहना चाहिये। इसी विधिको कहनेके लिये यह उपरका सूत्र कहा गया है॥ १३॥

आगे–धर्म और सुखके समान यश भी मनको प्रसन्न करनेवाला है, इसलिये शिष्ट पुरुषोंको उसका भी अवश्य संग्रह करना चाहिये अर्थात् यश फैलाना चाहिये ऐसा उपदेश देते हैं–

धर्मं यशः शर्म च सेवमानाः
केप्येकशो जन्म विदुः कृतार्थं।
अन्ये द्विशो विद्म वयं त्वमोघा–
न्यहानि यांति त्रयसेवयैव॥ १४॥

अर्थ––संसारमें कितने ही ऐसे जीव हैं कि जो पुण्य यश और सुख इन तीनोंमेंसे किसी एकके सेवन करनेसे अपना जन्म कृतार्थ मानते हैं। सब लोगोंकी रुचि एकसी नहीं होती अलग अलग होती है इसलिये कोई तो केवल धर्मसाधन करनेसे ही अपना जन्म सफल मानकर केवल उसीका सेवन करते है यश और सुखको छोड देते हैं। कोई अपना यश फैलाकर ही

धारण न करे तथापि कुछ हानि नहीं है, क्योंकि जो सम्यक्त्व उत्पन्न हुआ है तो उसे चारित्र भी कभी न कभी अवश्य मिल जायगा। परंतु उसे कुदवोंका सेवन नहीं करना चाहिये। क्योंकि भूखे पुरूषको यदि अन्न मिलना सुलभ है तो उससे उसकी भूख मिटही जायगी। यदि कदाचित् अन्नका मिलना दुर्लभ हो तो उस समयमें भी ऐसा कौन भूखा पुरुष है जो अन्नके बदले विष खाना चाहता हो?

अपना जन्म सफल मानते हैं और कोई केवल सुखका सेवन करनेसे ही अपना जन्म सफल मानते हैं। इसीतरह लोक और वेदको माननेवाले तथा आपको शास्त्रोंका जानकार माननेवाले ऐसे बहुतसे पुरुष हैं जो इन तीनोंमेंसे दो दोको सेवन करनेसे अपना जन्म सफल मानते हैं अर्थात् कितने ही धर्म और यशको, कितने ही धर्म और सुखको तथा कितने ही यश और सुखको सेवन करनेसे ही अपना जन्म सफल मानते हैं। परंतु लोक और शास्त्रोंके जानकार इन दोनोंको संतोष देनेवाले हम लोगों-का तो यह ही मत है कि धर्म यश और सुख इन तीनोंको सेवन करनेसे ही मनुष्यजन्मके दिन सफल गिने जाते हैं अर्थात् तीनोंके सेवन करते हुये जो दिन निकलते है वेही सफल हैं। सूत्रमें दिये हुये एवकारका यह अभिप्राय है कि इन तीनोंमेंसे एक एक अथवा दो दोके सेवन करनेसे मनुष्यजन्मकी सफलता कभी नहीं हो सकती। इसके कहनेसे ग्रंथकारका यह अभिप्राय है कि प्रत्येक मनुष्यको प्रतिदिन अपनी शक्तिके अनु-सार इन तीनोंका सेवन करना चाहिये, मनुष्यका यह एक कर्तव्य है ॥ १४ ॥

आगे—सम्यग्दर्शन प्राप्त होनेके पीछे यदि सकलसंयमी होनेकी सामग्री न मिले तो काललब्धि आदिके मिलनेपर संयता-संयत अर्थात् एकदेश संयमी अवश्य होना चाहिये इसीका उपदेश देते हैं—

मूलोत्तरगुणनिष्ठामधितिष्ठन् पंचगुरुपदशरण्यः ।
दानयजनप्रधानो ज्ञानसुधां श्रावकः पिपासुः स्यात् ॥१५॥

अर्थ—जो गुरु आदिसे धर्मका उपदेश सुनता है उसे श्रावक कहते हैं। जो उत्तरगुणोंके उत्पन्न होनेमें कारण हो और जिन्हें संयम धारण करनेवाले प्रथम ही धारण करें उन्हें **मूलगुण** कहते हैं। जो मूलगुणोंके पीछे धारण किये जाय और जो उत्कृष्ट हों उन्हें **उत्तरगुण** कहते हैं। मूलगुण और उत्तर-गुण ये दोनों ही संयमके भेद हैं। जो श्रावक अर्थात् देशसंयमी पुरुष अरहंत आदि पांचों परमेष्ठियोंके चरणकमलोंको ही शरण मानता है, उन्हींको अपना दुख दूर करनेवाला समझता है उन्हींमें अपना आत्मा समर्पण करता है ऐसा पुरुष अर्थात् पांचों परमेष्ठियोंपर श्रद्धा रखनेवाला सम्यग्दृष्टी जो पुरुष लौकिक सुखोंकी इच्छा न करके निराकुलतासे मूलगुण और उत्तरगुणोंको धारण करता है, जो [1]पात्रदान आदि चार प्रकारके दान और नित्यमह आदि पांचप्रकारके यज्ञ (पूजन) इन दोनों क्रियाओंको मुख्य रीतिसे करता है और जो स्वपर अर्थात् आत्मा और शरीर आदि पुद्गलोंको भिन्न भिन्न जाननेवाले ज्ञानरुपी अमृतको सदा पीनेकी इच्छा रखता है उसे **श्रावक** कहते हैं। इससे

---

१ ध्यानेन शोभते योगी संयमेन तपोधनः। सत्येन वचसा राजा गेही दानेन शोभते ॥ 'मुनि ध्यानसे, तपस्वी संयमसे, राजा सत्य वचनोंसे और गृहस्थ पात्रको दान देनेसे ही शोभायमान होता है।

यह भी सिद्ध होता है कि श्रावकके खेती व्यापार आदि आजीविकाके कार्य [2]गौण हैं, तथा दान पूजा पढना आदि कार्य मुख्य हैं, श्रावकको इन्हें अपना कर्तव्य समझकर करना चाहिये। दूसरी यह बात सिद्ध होती है कि सम्यग्दर्शनपूर्वक ही देशसंयम धारण किया जाता है और देशसंयमीको दानपूजन अवश्य करना चाहिये ॥ १९ ॥

इसप्रकार पांचवें गुणस्थानका वर्णन किया। अब आगे पांचवें गुणस्थानके द्रव्य भावरूप जे ग्यारह भेद हैं अर्थात् श्रावककी जो ग्यारह प्रतिमा हैं उनमेंसे महाव्रत पालन करनेकी उत्कट इच्छा रखनेवाला जो सम्यग्दृष्टि श्रावक अपनी

२ आयुश्रीवपुरादिकं यदि भवेत्पुण्यं पुरोपार्जितं, स्यात्सर्वं न भवेन्न तच्च नितरामायासितेऽप्यात्मनि। इत्यार्याः सुविचार्य कार्यकुशलाः कार्येऽत्र मंदोद्यमाः द्रागागामिभवार्थमेव सततं प्रीत्या यतंते तराम् ॥ अर्थ—जो पूर्व जन्ममे पुण्यकर्म उपार्जन किये हैं तो इस जन्ममें दीर्घ आयु, लक्ष्मी, सुंदर व नीरोग शरीर आदि संसारके सुखोंकी समस्त सामग्री प्राप्त होती ही है। तथा जो पूर्वजन्ममें पुण्य नहीं किया है तो अत्यंत प्रयत्न करनेपर भी सुख नहीं मिलता। इसलिये जो आर्यपुरुष विचार पूर्वक कार्य करनेमें कुशल हैं वे लोग इस लोक संबंधी कार्योंमें साधारण प्रयत्न करते हैं और आगामी भवकी सुखसामग्रीके लिये निरंतर अधिकसे अधिक प्रयत्न करते रहते हैं, अर्थात् दान पूजा अध्ययन आदि धर्म क्रियाओंको मुख्य मानते हैं और खेती व्यापार आदि लौकिक क्रियाओंको गौण मानते हैं।

शक्तिके अनुसार किसी एक प्रतिमाको धारण करता है उसकी प्रशंसा करते हैं—

रागादिक्षयतारतम्यविकसच्छुद्धात्मसंवित्सुख- ।
स्वादात्मस्वबहिर्बहिस्त्रसवधाद्यंहोव्यपोहात्मसु ॥
सद्दृग्दर्शनिकादिदेशविरतिस्थानेषु चैकादश- ।
स्वेकं यः श्रयते यतिव्रतरतस्तं श्रद्दधे श्रावकम् ॥ १६ ॥

अर्थ—आगे जो ग्यारह प्रतिमा कहेंगे उनमें अनुक्रमसे उत्तरोत्तर रागद्वेष मोहका अधिक अधिक क्षयोपशम होता जाता है, ज्यों ज्यों राग द्वेष मोहका अधिक अधिक क्षयोपशम होता जाता है त्यों त्यों निर्मल चैतन्यरूपी अनुभूति प्रगट होती जाती है। वह निर्मल चैतन्यरूपी अनुभूति ही एक प्रकारका आनंद है अथवा उस अनुभूति (ज्ञान) से एक प्रकारका आनंद उत्पन्न होता है। उस निर्मलचैतन्यरूपी अनुभूतिसे उत्पन्न हुये आनंदका अनुभव करना अथवा उस अनुभूति स्वरूप आनंदका अनुभव करना ही उन ग्यारह प्रतिमाओंका अंतरंग स्वरूप है। अभिप्राय यह है कि रागद्वेष मोहके उत्तरोत्तर अधिक अधिक क्षयोपशम होनेसे जो शुद्ध आत्माकी अनुभूति प्रगट होती है उसके आनंदका अनुभव करते जाना ही ग्यारह प्रतिमायें कहलाती हैं। तथा मन बचन कायसे त्रस जीवोंकी (संकल्पी) हिंसा स्थूल झूठ चोरी मैथुन परिग्रह आदि पापोंका देव गुरु और सधर्मियोंके सामने विधि-

पूर्वक त्याग करना तथा उत्तरोत्तर अधिक अधिक त्याग करते जाना उन प्रतिमाओंका बाह्य स्वरूप कहलाता है। इसप्रकार जिनका अंतरंग और बाह्य स्वरूप है ऐसे दर्शनिक व्रत आदि देशसंयमी श्रावकके ग्यारह स्थानोंमेंसे अर्थात् ग्यारह प्रतिमाओंमेंसे मुनियोंके महाव्रतोंमें अर्थात् हिंसादि पापोंका पूर्णरूपसे त्याग करनेरूप परिणामोंमें आसक्त हुआ सम्यग्दृष्टी पुरुष एक प्रतिमा भी धारण करता है उस श्रावकको बहुत धन्यवाद है, वह बहुत ही अच्छा करता है। यहांपर प्रतिमाओंको धारण करनेवाले सम्यग्दृष्टी श्रावकका महाव्रतोंमें आसक्त होना विशेषण दिया है, उसका यह अभिप्राय है कि जैसे मंदिर बनाकर उस पर कलश चढाते हैं उसी प्रकार श्रावकोंके व्रत धारण कर अंतमें महाव्रत अवश्य धारण करने चाहिये। कलशोंके विना जैसे मंदिरकी शोभा नहीं उसीप्रकार अंतमें मुनिधर्म धारण किये विना श्रावकधर्मकी शोभा नहीं है। श्रावकधर्मरूपी मंदिरके शिखर पर महाव्रतरूपी कलश चढाना ही चाहिये। सूत्रमें दिये हुये च शब्दका प्रयोजन यह है कि वह जिस प्रतिमाका पालन करे उसे पूर्ण रीतिसे पालन करै अर्थात् उस प्रतिमाका पूर्ण चारित्र पालन करै ॥ १६ ॥

आगे—उन ग्यारह प्रतिमाओंके नाम कहते हैं—

दृष्ट्या मूलगुणाष्टकं व्रतभरं सामायिकं प्रोषधं
सच्चित्तान्नदिनव्यवायवनितारंभोपाधिभ्यो मतात् ।

उद्दिष्टादपि भोजनाच्च विरतिं प्राप्ताः क्रमात्प्राग्गुण-
प्रौढ्या दर्शनिकादयः सह भवंत्येकादशोपासकाः ॥१७॥

अर्थ—जो सम्यग्दर्शनके साथ साथ आठ मूलगुणोंको धारण करता है उसे पहिली प्रतिमाका धारण करनेवाला **दर्शनिक** कहते हैं। जो दर्शनिक श्रावक अतिचार रहित अणुव्रत तथा गुणव्रत और शिक्षाव्रतोंको पालन करता है वह दूसरी **प्रतिमाका** धारण करनेवाला **व्रतिक** अथवा व्रती कहलाता है। व्रती जब अति-चार रहित तीनों समयमें विधिपूर्वक सामायिक करता है तब तीसरी **सामायिक** प्रतिमाका धारण करनेवाला कहलाता है। तीसरी प्रतिमाका धारण करनेवाला जब अष्टमी चतुर्दशी इन पर्वके दिनोंमें नियमसे विधिपूर्वक प्रोषधोपवास करता है तब उसे चौथा **प्रोषध** प्रतिमाका धारण करनेवाला कहते हैं। जब वह सचि-त्त भोजनका त्याग कर देता है तब उसे **पांचवीं सचित्त त्याग** प्रतिमा धारण करनेवाला कहते हैं। जब वह दिनमें मैथुन करनेका त्याग कर देता है तब वह छट्टी **दिवामैथुनत्यागी** प्रतिमाका धारण करनेवाला कहलाता है। जब वह स्त्रीमात्रका त्याग कर देता है तब वह **ब्रह्मचर्यप्रतिमावाला** कहा जाता है। जब वह खेती व्यापार आदि आरंभोंका त्याग कर देता है तब उसे **आरंभ-त्यागी** कहते हैं। जब परिग्रहोंका त्याग कर देता है तब उसे **परिग्रहत्यागी** कहते हैं। इसने मेरे लिये यह काम अच्छा किया है इसप्रकारकी अनुमोदनाका जब वह त्याग कर देता

है तव उसे दशमी प्रतिमावाला अनुमतित्यागी कहते हैं। जो अपने लिये किये हुये भोजनोंका त्याग कर देता है उसे ग्यारहवीं प्रतिमावाला उद्दिष्टत्यागी कहते हैं। इस प्रकार ये ग्यारह प्रतिमायें हैं। जो ग्यारहवीं प्रतिमावाला अनुमोदना किये हुये तथा कहकर तैयार कराये हुये भोजनोंको भी नहीं करता है वह खेती व्यापार आदि पापकार्योंमें अपनी संमति क्यों देगा ? कह कर तैयार कराये हुये अथवा अपने लिये तैयार हुये वसतिका वस्त्र आदिको क्यों काममें लावेगा ? अर्थात् कभी नहीं। यह अपि शब्दसे सूचित होता है। ये ग्यारह प्रतिमायें एकके बाद दूसरी और दूसरीके बाद तीसरी इसप्रकार अनुक्रमसे होती हैं क्योंकि इस जीवके अनादिकालसे विषयवासनाओंका जो अभ्यास हो रहा है उससे उत्पन्न हुआ असंयम एक साथ छूट नहीं सकता, इसलिये वह क्रमसे छूटता जाता है इसलिये ही अगिली अगिली प्रतिमाओंमें पहिली पहिली प्रतिमाओंके गुण अवश्य रहते हैं, और वे उत्तरोत्तर बढते जाते हैं। व्रत-प्रतिमामें सम्यग्दर्शन और मूलगुणोंकी उत्कृष्टता रहती है, सामयिकमें सम्यग्दर्शन, मूलगुण और व्रतोंकी उत्कृष्टता रहती है। इसीप्रकार सब प्रतिमाओंमें पहिली पहिली प्रतिमाओंके गुण अधिकतासे[1] रहते हैं। इसप्रकार अनुक्रमसे जो देशसंयमको

१ श्रावकपदानि देवैरेकादश देशितानि खलु येषु।
स्वगुणाः पूर्वगुणैः सह संतिष्ठंते क्रमाविवृद्धाः॥

धारण करते हैं वे दर्शनिक आदि ग्यारह प्रकारके श्रावक वा उपासक कहलाते हैं ॥ १७ ॥

आगे–पापोंके दूर करनेके लिये नित्यपूजा आदि धर्मक्रियायें करनी चाहिये और उन धर्मक्रियाओंको सिद्ध करनेके लिये आजीविकाके लिये खेती व्यापार आदि छह कर्म करनेसे जो अवश्य होनेवाला पापका लेश है वह श्राव-कोंको पक्ष आदिके द्वारा तथा प्रायश्चित्तके द्वारा अवश्य ही दूर करना चाहिये। इसीका उपदेश देनेके लिये कहते हैं—

नित्याष्टाह्निकसच्चतुर्मुखमहः कल्पद्रुमैन्द्रध्वजा- ।
विज्याः पात्रसमक्रियान्वयदयादत्तीस्तपःसंयमान् ॥
स्वाध्यायं च विधातुमादृतकृषीसेवावणिज्यादिकः ।
शुध्याऽऽप्तोदितया गृही मललवं पक्षादिभिश्च क्षिपेत् ॥१८॥

अर्थ–[1] नित्यमह, आष्टाह्निकमह, चतुर्मुखमह, कल्प-द्रुममह और ऐंद्रध्वज यह पांच प्रकारकी इज्या अर्थात् पूजा,

१ भगवज्जिनसेनाचार्यने आदिपुराणमें लिखा है–प्रोक्ता पूजार्हतामिज्या सा चतुर्धा सदार्चनम्। चतुर्मुखमहः कल्पद्रुमश्चाष्टाह्नि-कोऽपि च ॥ अर्थ–अरहंतोकी पूजाका नाम इज्या है और वह चार प्रकारकी है–नित्यमह, आष्टाह्निकमह, चतुर्मुख और कल्पवृक्ष।

तत्र नित्यमहो नाम शश्वज्जिनगृहं प्रति। स्वगृहान्नीयमानाऽर्चा गन्धपुष्पाक्षतादिका ॥ चैत्यचैत्यालयादीनां भक्त्या निर्मापणं च यत्। शासनीकृत्य दानं च ग्रामादीनां सदार्चनम् ॥ अर्थ–प्रत्येक दिन

पात्रदत्ति, समानदत्ति, अन्वयदत्ति, और दयादत्ति ये चार दान, तप संयम और स्वाध्याय ये पांच क्रियायें श्रावकोंके करनेके लिये जैन शास्त्रोंमें प्रसिद्ध हैं । इन्हें करनेके लिये ही श्रावक खेती, व्यापार, सेवा, शिल्प, मषि और विद्या ये आजीविकाके छह कर्म आरंभ करता है । इन छह कर्मोंमें उसे पाप भी अवश्य लगता है । इसलिये पूजा, दान, तप, संयम और स्वाध्याय इन क्रियाओंको पूर्ण रीतिसे करनेके लिये खेती व्यापार आदि आजीविका करनेवाले गृहस्थोंको अरहंतदेवकी आज्ञानुसार अथवा गुरूके उपदेशानुसार किसी प्रायश्चितसे अथवा पक्ष

जिनमंदिरमें अपने घरसे गंध अक्षत पुष्प आदि पूजनकी सामग्री ले जाकर भक्तिपूर्वक जिनेंद्रदेव और जिनालयकी पूजा करनेको **नित्यमह** कहते हैं । तथा नवीन जिनमंदिर, जिनप्रतिमा बनवाना, मंदिरोंका जीर्णोद्धार करना और नित्यपूजा सदा होनेके लिये गांव खेत आदिका दान देना भी नित्यमह है ।

या च पूजा मुनींद्राणां नित्यदानानुषङ्गिनी । स च नित्यमहो ज्ञेयो यथा शक्त्युपकल्पितः ॥ अपनी शक्तिके अनुसार मुनीश्वरोंकी पूजा करके जो उनको नित्य आहारदान देता है उसे भी नित्यमह कहते हैं ।

महामुकुटबद्धैस्तु क्रियमाणो महामहः । चतुर्मुखः स विज्ञेयः सर्वतोभद्र इत्यपि ॥ महामुकुटबद्ध राजाओंके द्वारा जो महामह अर्थात् महा यज्ञ (महापूजा) किया जाता है उसे **चतुर्मुखयज्ञ** कहते हैं इसका दूसरा नाम सर्वतोभद्र भी हैं ।

चर्या साधन इन उपायोंसे खेती व्यापार आदिमें होनेवाले पापोंको दूर करना चाहिये। इस श्लोकमें चतुर्मुख यज्ञका जो सत् विशेषण दिया है उससे उसकी प्रधानता दिखलाई है क्योंकि वर्तमान समयमें कल्पवृक्षयज्ञ होना तो असंभव है इस-

---

दत्वा किमिच्छकं दानं सम्राड्भिर्यः प्रवर्तते। कल्पवृक्षमहः सोऽयं जगदाशाप्रपूरणः॥ चक्रवर्ती किमिच्छक दान देकर अर्थात् तुमको क्या चाहिये ? इसप्रकार पूछ पूछकर मागनेवालोंकी पूर्ण इच्छानुसार दान देकर जो महायज्ञ करता है जिसमें संसारके सब लोगोंकी सब आशायें पूरी हो जातीं हैं उसे **कल्पवृक्षयज्ञ** कहते हैं।

आष्टाह्निको महः सार्वजानिको रूढ एव सः। महानैंद्रध्वजोऽन्यस्तु सुरराजैः कृतो महः॥ चौथा आष्टाह्निक यज्ञ है यह यज्ञ जगतमें प्रसिद्ध है और रूढ है अर्थात् अष्टाह्निकाके दिनोंमें जो विधिपूर्वक पूजा की जाती है उसे **आष्टाह्निकयज्ञ** कहते हैं। इनके सिवाय एक पांचवां ऐंद्रध्वज यज्ञ है जिसको इंद्र ही करता है।

वलिस्नपनमित्यन्यास्त्रिसंध्यासेवया समं। उक्तेष्वेव विकल्पेषु ज्ञेयमन्यच्च तादृशं॥ ऊपर लिखी हुई पांच प्रकारकी पूजाके सिवाय बलि (भात आदि नैवेद्य चढाना) अभिषेक, सदा तीनों समय पूजन करना तथा इनके समान और भी जो पूजाके प्रकार हैं वे सब ऊपर कहे हुये पांच प्रकारके भेदोंमें ही आजाते हैं।

एवं विधविधानेन या महेज्या जिनेशिनां। विधिज्ञास्तामुशंतीज्यां वृत्तिं प्राथमकल्पिकीं॥ इसप्रकार विधिपूर्वक जो श्री जिनेंद्रदेवकी पूजा करता है उसे आचार्य लोग श्रावकका प्रथम कर्तव्य समझते हैं।

लिये चतुर्मुख यज्ञ ही अत्यंत उत्तम है यही ऐंद्रध्वजके समान है ॥ १८ ॥

वार्ता विशुद्धवृत्त्या स्यात्कृष्यादीनामनुष्ठितिः । चतुर्धा वर्णिता दत्तिर्दयादानसमाऽन्वयैः ॥ अर्थ—शुद्ध आचरणपूर्वक अर्थात् अपने कुलकी उचित नीतिके अनुसार खेती व्यापार आदि छह प्रकारकी आजीविका करना वार्ता कहलाती है । तथा दयादत्ति, दानदत्ति, समानदत्ति, और अन्वयदत्ति ये चार प्रकारके दान कहलाते हैं ।

सानुकम्पमनुग्राह्ये प्राणिवृन्देऽभयप्रदा । त्रिशुध्द्यानुगता सेयं दयादत्तिर्मता बुधैः ॥ अर्थ—अनुग्रह करनेयोग्य ऐसे दीन प्राणियोंपर कृपापूर्वक मन बचन कायसे उनका भय दूर करनेको पंडितलोग दयादत्ति कहते हैं ।

महातपोधनायार्च्या प्रतिग्रहपुरःसरं । प्रदानमशनादीनां पात्रदानं तदिष्यते॥ अर्थ—उत्तम तप करनेवाले महातपस्वी मुनियोंके लिये उनका सत्कारपूर्वक पडगाहन पादप्रक्षालन पजा आदिकर जो उनकेलिये आहार औषध पुस्तक पीछी कमंडलु आदि देना है उसे पात्रदान अथवा दानदत्ति कहते हैं ।

समानायात्मनाऽन्यस्मै क्रियामन्त्रव्रतादिभिः । निस्तारकोत्तमायेह भूहेमाद्यतिसर्जनम् ॥ समानदत्तिरेषा स्यात् पात्रे मध्यमतामिते । समानप्रतिपत्त्यैव प्रवृत्ता श्रद्धयाऽन्विता ॥ अर्थ—गर्भाधानादिक क्रिया, मंत्र और व्रत आदिसे जो अपने समान है तथा जो संसाररूपी समुद्रके पार जानेके उद्योगमें लगा हुआ है ऐसे गृहस्थके लिये जो भूमि सुवर्ण आदि देना है उसे समानदत्ति कहते हैं । अथवा मध्यमपात्र अर्थात् श्रावकके लिये समानबुद्धिसे श्रद्धापूर्वक दान देनेको भी समानदत्ति कहते हैं ।

आगे—पक्ष चर्या और साधन इन तीनोंका स्वरूप कहते हैं—

स्यान्मैत्र्याद्युपबृंहितोऽखिलवधत्यागो न हिंस्यामहं ।
धर्माद्यर्थमितीह पक्ष उदितं दोषं विशोध्योज्झितः ॥
सूनौन्यस्य निजान्वयं गृहमथो चर्या भवेत्साधनं ।
त्वंतेऽन्नेहतनूज्झनाद्विशदया ध्यात्यात्मनः शोधनं ॥ १९ ॥

अर्थ—मैत्री,[1] प्रमोद,[2] कारुण्य[3] और माध्यस्थ[4] इन चार गुणोंके निमित्तसे वृद्धिको प्राप्त हुआ जो सब प्रकारकी हिंसाका त्याग है, अर्थात्— धर्म, आहार, औषध, देवता और मंत्र-सिद्धि आदि कार्योंके लिये मैं कभी त्रस जीवोंका घात नहीं

आत्मान्वयप्रतिष्ठार्थं सूनवे यदशेषतः । समं समयवित्ताभ्यां स्ववर्गस्यातिसर्जनम् ॥ सैषा सकलदत्तिः स्यात् स्वाध्यायः श्रुतभावना । तपोऽनशनवृत्त्यादि संयमो व्रतधारणम् ॥

अर्थ—अपना वंश स्थिर रखनेके लिये अपने पुत्रको समस्त धन और धर्मके साथ अपना कुटुंब समर्पण करनेको **सकलदत्ति** कहते हैं। शास्त्रोंका पढना पढाना चिंतवन करना आदि **स्वाध्याय** है। उपवास आदि करना तप है और व्रत धारण करना **संयम** कहलाता है।

१—सब प्राणियोंपर दयाकर उनका दुःख दूर करना अथवा किसी प्राणिको दुःख न हो ऐसी इच्छा रखना अथवा किसीके साथ बैर न रखना **मैत्री** कहलाती है।

२—अपनी अपेक्षा जो गुणोंमें बडे हैं उन्हें देखकर प्रसन्न होना, उनके साथ ईर्षा आदि न करना **प्रमोद** है।

३—दीन, दुःखी और दरिद्री जीवोंपर अनुग्रह करना **कारुण्य** है।

४—मिथ्यादृष्टि जीवोंपर रागद्वेष न कर मध्यस्थभाव रखना **माध्यस्थ** है।

करूंगा, कभी स्थूल झूठ चोरी आदि पाप नहीं करूंगा, भावार्थ-कभी किसीको दुःख नहीं पहुंचाऊंगा, इसप्रकारका जो समस्त त्रस जीवोंकी हिंसाका तथा स्थूल झूठ चोरी आदिका त्यागरूप अहिंसा परिणाम है उसे पक्ष कहते हैं। यहांपर सागारधर्मका प्रकरण है इसलिये त्रस जीवोंको हिंसाका त्याग ही लेना चाहिये। सब प्रकारकी हिंसाके त्यागसे यह अभिप्राय है कि उसके हिंसाके साथ साथ स्थूल झूठ, चोरी, परस्त्रीसेवन और अधिक ममत्वका भी त्याग है। इस पक्षको पालन करनेवाला अर्थात् पाक्षिक श्रावक चाहे मंदकषायी ही हो तथापि उसके केवल संकल्पी हिंसाका त्याग हो सकता है आरंभी हिंसा का नहीं। क्योंकि वह गृहसंबंधी समस्त कार्योंमें लगा हुआ है, घरके सब काम उसे करने पडते है, इसलिये उसे आरंभी हिंसा अवश्य करनी पडेगी, अतएव धर्म आहार औषधि आदिके लिये जो त्रस जीवोंकी संकल्पी हिंसाका त्याग है तथा स्थूल झूठ चोरी आदिका त्याग है उसे पक्ष कहते हैं। पक्षके संस्कारोंसे अर्थात् पाक्षिक श्रावकके व्रत निरंतर पालन करनेसे जो वैराग्यरूप परिणाम रात दिन बढते रहते हैं, उन वैराग्य परिणामोंसे जो खेती व्यापार आदिसे उत्पन्न हुये हिंसा आदि दोषोंको प्रायश्चित्त आदि शास्त्रोंमें कहे हुये उपायोंसे विधिपूर्वक दूर करता है तथा अपने पुत्रके लिये अथवा यदि पुत्र न हो तो पुत्रके समान भाई भतीजा आदि अपने वंशमें उत्पन्न

हुये किसी वारिसके लिये जिसे वह स्वयं पालन पोषण करता था ऐसे कुटुंबको तथा धन और धर्मको जो सोंप देता है और फिर जो अपना घर छोडना चाहता है या छोडनेका अभ्यास करता है ऐसे श्रावकके जो पहिली दर्शनप्रतिमासे लेकर दशवीं अनुमतित्याग प्रतिमातक व्रत नियम आदि आचरण हैं उसे चर्या कहते हैं।

तथा जो घरके त्याग करनेका अंतिम समय है जिससमय प्राण छूटनेका समय समीप आगया है उस अंतके समयमें किसी नियत [1]समयतक अथवा जीवनपर्यंत जैसा उससमय उचित हो उसीतरह आहार, शरीरकी सब चेष्टायें और शरीर इनके छोड देनेसे जो विशुद्ध ध्यान उत्पन्न होता है उस ध्यानसे जो चैतन्यस्वरूप आत्माको शुद्ध करना है अर्थात् राग द्वेष सब छोड देना है उसे **साधन** कहते हैं। साधनमें भी प्राय-श्चित्त आदिके द्वारा खेती व्यापार आदिके दोष दूर करना चाहिये यह श्लोकमें दिये हुये तु शब्दसे सूचित होता है।

अभिप्राय यह है कि मूलगुण तथा अणुव्रत आदि व्रत पालन करना पक्ष है। विरक्त होकर तथा घर कुटंबका सब भार पुत्रको देकर पहिली प्रतिमासे दशवीं प्रतिमातकके व्रत पालन करना चर्या है और समाधिमरण धारण करना साधन है ॥१९॥

आगे—पक्ष चर्या साधन इनके द्वारा श्रावकके जो तीन भेद होते हैं उन्हींको संक्षपसे कहते हैं—

---

१ जहां जीने मरनेका संदेह हो वहां किसी नियत समयतक आहारादिका त्याग किया जाता है।

पाक्षिकादि भिदा त्रेधा श्रावकस्तत्र पाक्षिकः।
तद्धर्मगृह्यस्तन्निष्ठो नैष्ठिकः साधकः स्वयुक् ॥ २० ॥

अर्थ— जो पक्षमें कहे हुये आचरणोंको पालन करे अथवा उन आचरणोंसे सुशोभित हो उसे पाक्षिक कहते हैं। पाक्षिक नैष्ठिक और साधक इन तीनोंके भेदोंसे श्रावकके तीन भेद होते हैं। उनमेंसे जिसके एकदेश हिंसाके त्याग करनेरूप श्रावकके धर्म वा व्रतके ग्रहण करनेका पक्ष है, अर्थात् जिसने श्रावकके व्रत धारण करनेकी प्रतिज्ञा की है, अथवा जिसने देशसंयम प्रारंभ किया है, अथवा श्रावकका धर्म स्वीकार किया है उसे पाक्षिक कहते हैं। तथा जो पूर्ण रीतिसे श्रावकके व्रतोंका निर्वाह करता है, जिसे देशसंयमका खूब अभ्यास हो गया है, जो अतिचाररहित श्रावकधर्मका पालन करता है और जो श्रावककी सब व्रतक्रियाओंका पालन करता है उसे नैष्ठिक कहते हैं। इसीतरह जो समाधिमरण धारण करता है, जिसकी समाधि आत्मामें लगी हुई है, जिसका देशसंयम पूर्ण होगया है और जो अपने आत्माके ध्यान करनेमें तल्लीन है उसे साधक कहते हैं ॥२०॥

इसप्रकार पंडितप्रवर आशाधरविरचित सागारधर्मामृतका
उन्हींकी भव्यकुमुदचंद्रिका संस्कृतटीकाके अनुसार किये हुये
भाषानुवादमें सागारधर्मकी सूचना करनेवाला
[1]पहिला अध्याय समाप्त हुआ ॥ १ ॥

---

१ यही अध्याय धर्मामृतका दशवां अध्याय है।

दूसरा अध्याय।

इसप्रकार पहिले अध्यायमें केवल सागारधर्मको सूचित किया। अब आगे इस दूसरे अध्यायमें पाक्षिकश्रावकके आचार विस्तारसे कहेंगे। उसमें भी पहिलेके आचार्योंने कैसे भव्यपुरुषको सागारधर्म स्वीकार करनेकी आज्ञा दी है उसीका स्वरूप कहते हैं—

त्याज्यानजस्रं विषयान् पश्यतोऽपि जिनाज्ञया।
मोहात्त्यक्तुमशक्तस्य गृहिधर्मोऽनुमन्यते ॥१॥

अर्थ—जो भव्य जीव वीतराग सर्वज्ञदेवके अनुलंघ्य शासनके द्वारा अर्थात् सम्यग्दर्शनके उत्पन्न होजानेसे स्त्री भोजन वस्त्र आदि विषयोंको निरंतर सेवन करनेके अयोग्य मानता है। अपि शब्दसे यह अभिप्राय निकलता है कि जैसे यह जीव अनंतानुबंधी कषायके वश होकर विषयोंका सेवन करने- योग्य समझता है इसप्रकार वह उन विषयोंको सेवन करने- योग्य नहीं समझता, उन्हें सदा छोडनेयोग्य ही समझता है तथापि प्रत्याख्यानावरण नामके चारित्रमोहनीयकर्मके तीव्र उ- दयसे उन विषयोंको छोड नहीं सकता, ऐसे पुरुषोंके लिये धर्माचार्य गृहस्थधर्म पालन करनेकी आज्ञा देते हैं। अभिप्राय यह है कि जो गृहस्थ हिंसा आदि पापोंको पूर्ण रीतिसे नहीं

छोड सकता। जब एकदेश उनके त्याग करनेकी प्रतिज्ञा करता है तब आचार्य उसे स्वीकार करते हैं।

यहांपर कोई यह प्रश्न कर सकता है कि यद्यपि गृहस्थधर्ममें त्रस जीवोंका घात नहीं होता तथापि स्थावर जीवोंका घात होता है। ऐसी अवस्थामें आचार्यने जो गृहस्थधर्मके स्वीकार करनेके लिये संमति दी है वह योग्य न होगी, क्योंकि उस सम्मतिमें स्थावर जीवोंके घात करनेकी अनुमतिका दोष आचार्यको लगेगा, परंतु इसका समाधान उपर लिखे वाक्योंसे ही हो जाता है और वह इसप्रकार है कि जिससमय सबतरह हिंसा करनेवाला जीव सम्यग्दृष्टी होकर श्रावकधर्मको स्वीकार करता है तब वह अपनी [1]असमर्थताके कारण समस्त विषयोंका त्याग नहीं कर सकता, केवल अपने योग्य विषयोंके सेवन करनेमें लगा रहता है उससमय 'पहि-

१. विषयाविषप्राशनोत्थितमोहज्वरजनिततीव्रतृष्णस्य। निःशक्तिकस्य भवतः प्रायः पेयाद्युपक्रमः श्रेयान्॥ अर्थ—विषयरूपी विषम अन्नके सेवन करनेसे जो मोहज्वर उत्पन्न हुआ है उस मोहज्वरके संबंधसे जिसको तीव्र तृष्णा अर्थात् विषयसेवन करनेकी लालसा लगी हुई है और जो अत्यंत अशक्त होगया है ऐसे जीवको पेय पदार्थोंका देना ही कल्याणकारी होगा, अर्थात् जैसे ज्वरसे अशक्त और तृष्णातुर मनुष्यको पहिले पीनेयोग्य पदार्थ और फिर खानेके पदार्थ दिये जाते हैं इसीप्रकार मोहाभिभूत पुरुषको पहिले योग्य विषयोंका सेवन करना और फिर क्रमसे छोडना ही कल्याणकारी होगा।

केकी अपेक्षा बहुत अच्छा है ' इसप्रकार करते हुये आचार्यने स्थावर जीवोंके घात करनेकी सम्मति दी यह कभी सिद्ध [२]नहीं होता क्योंकि ऊपर जो लिखा है कि " जो गृहस्थ हिंसादि पापोंको पूर्ण रीतिसे नहीं छोड़ सकता और तब वह एकदेश उनके त्याग करनेकी प्रतिज्ञा करता है उससमय आचार्य उसे स्वीकार करते है " उसका अभिप्राय यह है कि आचार्य प्रथम ही सर्व त्याग करनेका उपदेश देते हैं। यदि वह उसमें असमर्थ होता है और आचार्यसे निवेदन करता है कि महाराज ! मुझसे सर्वत्याग न हो सकेगा, मैं एकदेशका त्याग करता हूं तब आचार्य "अच्छा" ऐसी सम्मति देते हैं, अथवा सर्वत्यागमें असमर्थ देखकर एकदेशका त्याग कराते हैं। भावार्थ—यह है कि आचार्यने त्याग करनेकी सम्मति दी है गृहस्थके धर्म धारण करनेकी नहीं। इसलिये वे गृहस्थसे होनेवाले स्थावर जीवोंके घातमें सहमत भी नहीं हैं, अतएव उसमें सम्मति देनेका दोष भी उनपर नहीं लग सकता ॥१॥

आगे—शुद्ध सम्यग्दृष्टी पाक्षिक श्रावकसे अहिंसा पालन करनेकेलिये मद्य आदिका त्याग कराते हैं। अथवा श्रावकके आठ मूलगुण कहते हैं—

२— सर्वविनाशी जीवस्त्रसहननं त्यज्यते यतो जैनैः ।
स्थावरहननानुमतिस्ततः कृता तैः कथं भवति ॥१॥ अर्थ—जब आचार्यने सबतरहकी हिंसा करनेवाले जीवसे त्रस जीवोंके घात करनेका त्याग कराया है तब उससे यह कैसे सिद्ध हो सकता है कि उन्होंने स्थावर जीवोंकी हिंसा करनेमें अपनी सम्मति दी ? अर्थात् कभी नहीं।

तत्रादौ श्रद्दधज्जैनीमाज्ञां हिंसामपासितुं ।
मद्यमांसमधुन्युज्झेत्पंचक्षीरफलानि च ॥२॥

अर्थ—जो जीव गृहस्थधर्ममें रहकर प्रथम ही श्री जीनेंद्र-देवकी आज्ञापर श्रद्धान करता है अर्थात् जिनेंद्रदेवके कहे हुये शास्त्रोंको प्रमाण मानता है और जो देशसंयम धारण करना चाहता है ऐसे गृहस्थको मद्य आदि विषयोंके सेवन करनेसे उनमें राग करनेरूप जो भावहिंसा होती है और उन मद्य आदिमें उत्पन्न होनेवाले जीवोंका विनाश हो जानेसे जो द्रव्य-हिंसा होती है इन दोनों तरहकी हिंसाका त्याग करनेके लिये [१] मद्य मांस मधुका और पीपल आदि पांचप्रकारके [२] क्षीरवृक्षके फलोंका अवश्य त्याग करना चाहिये। इन्हीं आठ वस्तुओंके त्याग करनेको आठ मूलगुण कहते हैं। श्लोकमें दिये हुये 'च' शब्दका यह अभिप्राय है कि ऊपर लिखी हुई मद्यमांस आदि आठ चीजोंके साथ साथ उसे नवनीत (लौनी वा मक्खन), रात्रिको भोजन और विना छना हुआ पानी इत्यादि चीजोंका

१—मांसाशिषु दया नास्ति न सत्यं मद्यपायिषु। आनृशंस्यं न मर्त्येषु मधूदुंबरसेविषु ॥ अर्थ—मांस खानेवालेके दया नहीं होती, मद्यपान करनेवाले सत्यभाषण नहीं कर सकते और मधु तथा उदंबर खानेवाले जीव घातक अथवा क्रूर होते हैं।

२—जिन वृक्षोंके तोडनेसे दूध निकलता है ऐसे बड गूलर पीपल आदि वृक्षोंको क्षीरवृक्ष अथवा उदंबर कहते हैं।

भी अवश्य त्याग करना चाहिये। ऊपर जो "श्री जिनेंद्र-देवकी आज्ञापर श्रद्धान करता है" ऐसा लिखा है उसका अभि-प्राय यह है कि जो जीव श्री जिनेन्द्रदेवकी आज्ञापर श्रद्धान-कर मद्यमांस आदिको त्याग करता है वही देशव्रती हो सकता है, यदि किसी पुरुषके कुलपरंपरासे मद्यमांस आदिका सेवन न होता हो और उसीके अनुसार वह पुरुष भी उनका त्याग करदे तौभी वह देशव्रती नहीं हो सकता ॥२॥

आगे—अपने और अन्य आचार्योंके मतसे मूलगुणोंमें कुछ भेद दिखलाते हैं—

अष्टैतान् गृहिणां मूलगुणान् स्थूलवधादि वा।
फलस्थाने स्मरेद् द्यूतं मधुस्थान इहैव वा ॥३॥

अर्थ—उपासकाध्ययन अर्थात् श्रावकाचार शास्त्रोंके [१] अनुसार गृहस्थोंको सबसे पहिले धारण करनेयोग्य जो 'मद्य मांस

---

[१] मद्यमांसमधुत्यागाः सहोदुंबरपंचकैः। अष्टावेते गृहस्थानामुक्ता मूलगुणाः श्रुते ॥ २ ॥ (श्रीमत्सोमदेवाचार्यः) अर्थ—पांच प्रकारके उंद-बर फलोंके साथ साथ मद्य मांस और मधुका त्याग करना ये आठ मूलगुण श्रावकके होते हैं ऐसा शास्त्रोंमें कहा है।

मद्यं मांसं क्षौद्रं पंचोदुंबरफलानि यत्नेन। हिंसाव्युपरतकामै मोक्त-व्यानि प्रथममेव ॥ (श्रीमदमृतचंद्राचार्यः) अर्थ—हिंसा त्याग करनेकी इच्छा करनेवालोंको प्रथम ही यत्नपूर्वक मद्य मांस मधु और ऊमर कठुमर पीपर बड पाकर ये पांचों उदंबर फल छोड देने योग्य हैं।

मधु और पांचों उदंबरोंका त्याग करना ' ये आठ मूलगुण कहे हैं, उनमें मूलगुण धारण करानेवाले आचार्यको इसका स्मरण और रखना चाहिये कि इन्हीं मूलगुणोंको अन्य आचार्योंने दूसरी तरह से लिखा है, वही ' वा ' शब्दसे दिखलाते हैं। ऊपर जो पांच उदंबर फलोंका त्याग करना कहा है उनके बदलेमें श्री समंतभद्राचार्यने हिंसा, झूठ, चोरी, परस्त्री और परिग्रह इन पांचों पापोंका स्थूलरीतिसे अर्थात् एकदेश त्याग करना [1]कहा है अर्थात् उनके मतमें पांचों पापोंका एकदेश त्याग तथा मद्य मांस मधुका त्याग ये ही आठ मूलगुण हैं। इसीतरह भगवज्जिनसेनाचार्यका यह [2]मत है कि स्वामी समंतभद्राचार्यने जो आठ मूलगुण कहे हैं उनमें मधुके बदले जूआ खेलनेका त्याग करनों चाहिये अर्थात् उनके मतमें पांचों

१–मद्यमांसमधुत्यागैः सहाणुव्रतपंचकं । अष्टौ मूलगुणानाहुर्गृहिणां श्रमणोत्तमाः ॥ (स्वामिसमतंभद्राचार्यः)

अर्थ–मद्यमांस और मधुके त्यागके साथ पांचों अणुव्रतोंका पालन करना गृहस्थोंके आठ मूलगुण हैं ऐसा गणधरादि देवोंने कहा है।

२ हिंसासत्यस्त्येयादब्रह्मपरिग्रहाच्च बादरभेदात्। द्यूतान्मांसान्मद्याद्विरतिर्गृहिणोऽष्ट संत्यमी मूलगुणाः ॥ (श्रीमद्भगवज्जिनसेनाचार्यः)

अर्थ–हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह इन पांचों पापोंको स्थूलरीतिसे त्याग करना तथा जूआ मांस और मद्यका त्याग करना ये गृहस्थोंके आठ मूलगुण होते हैं।

पापोंका एकदेश त्याग तथा मद्य मांस और जूआका त्याग करना ये आठ मूलगुण हैं। इसप्रकार दो वा शब्दोंसे तीन पक्ष सूचित किये हैं। ऊपर जो " इतना स्मरण और रखना चाहिये " यह लिखा है उसका अभिप्राय यह है कि हिंसा, झूठ, चोरी, परस्त्री और परिग्रह ये पांच पाप, पांच उदंबरफल, मद्य मांस मधु और जूआ इनका त्याग करना मोक्षका कारण है इसलिये आचार्योंको [३]यम नियमरूपसे इनका त्याग करना चाहिये और गृहस्थोंको अवश्य त्याग करना चाहिये। मूलगुणोंको तो जन्मभरके लिये धारण करना चाहिये और बाकी बचे हुओंको हो सके तो जन्मभरके लिये और यदि न हो सके तो नियमरूपसे अवश्य त्याग करना चाहिये ॥३॥

आगे—मद्य[१] अर्थात् शराबमें बहुतसे जीव रहते हैं तथा उसके सेवन करनेसे इसलोक और परलोकमें अत्यंत दुःख होता है इसलिये शराब पीनेका अवश्य त्याग करना चाहिये ऐसा दिखलाते हैं—

३–जन्मभरके लिये त्याग करना यम है और कुछ दिनोंके लिये त्याग करना नियम है।

१. मनोमोहस्य हेतुत्वान्निदानत्वाच्चदुर्गतेः। मद्यं सद्भिः सदा त्याज्यमिहामुत्र च दोषकृत् ॥१॥ अर्थ–मद्य मनको मोहित करनेवाला है, नरकादि दुर्गतियोंका कारण है और इसलोक तथा परलोकमें दुःख देनेवाला है। इसलिये सत्पुरुषोंको सदा इससे अलग रहना चाहिये अर्थात् इसे छोडना चाहिये।

यदेकबिंदोः प्रचरंति जीवाश्चेत्तत् त्रिलोकीमपि पूरयंति ।
यद्विक्लवाश्चेममसुं च लोकं यस्यंति तत्कश्यमवश्यमस्येत् ॥४॥

अर्थ—जिसकी एक बूंदमें उत्पन्न हुये जीव निकलकर यदि उडने लगें तो उनसे ऊर्ध्वलोक मध्यलोक और अधोलोक ये तीनों ही लोक भरजायं इसके सिवाय जिसके पीनेसे मोहित हुये जीव इस भव और परलोक दोनों लोकोंका सुख नष्ट करते हैं दोनों भवोंको दुःखस्वरूप बना देते हैं ऐसा जो मद्य है उसका अवश्य त्याग करना चाहिये। अपने आत्माका हित चाहनेवाले पुरुषको मद्य न पीनेका दृढ नियम लेना चाहिये ॥४॥

आगे—मद्य पीनेसे द्रव्यहिंसा और भावहिंसा दोनों-तरहकी हिंसा होती है यह कहकर उसके त्याग करनेवालेको क्या क्या लाभ होते है और उसके पीनेवालोंको क्या क्या हानि होती है अथवा इसके त्याग करने और पीनेमें क्या क्या गुण दोष हैं इसीको दृष्टांतद्वारा स्पष्टरीतिसे दिखलाते हैं—

पीते यत्र रसांगजीवनिवहाः क्षिप्रं म्रियंतेऽखिलाः
कामक्रोधभयभ्रमप्रभृतयः सावद्यमुद्यंति च ।

विवेकः संयमो ज्ञानं सत्यं शौचं दया क्षमा । मद्यात्प्रलीयते सर्वं तृण्या वन्हिकणादिव ॥ अर्थ—जैसे अग्निका एक ही कण तृणोंके समूहको नाश कर देता है उसीतरह मद्य पीनेसे विचार, संयम, ज्ञान, सत्य, पवित्रता, दया, क्षमा, आदि समस्त गुण उसीसमय नष्ट हो जाते हैं ।

तन्मद्यं व्रतयन्न धूर्तिलपरास्कंदीव यात्यापदं
तत्पायी पुनरेकपादिव दुराचारं चरन्मज्जंति ॥५॥

अर्थ–जिस [1]मद्यके पीनेके बाद ही उस मद्यके रसमें उत्पन्न हुये अथवा जिनके समूहोंसे मिलकर वह मद्यका रस बना है ऐसे अनेक जीवोंके सब समूह उसी समय मर जाते हैं, तथा काम, क्रोध, भय, भ्रमै अर्थात् मिथ्याज्ञान अथवा चक्र के समान शरीरका फिरना, अभिमान, हास्य, अरति, शोक आदि निंद्य और पाप बढानेवाले परिणाम [2] उत्पन्न होते हैं।

---

१ रसजानां च बहूनां जीवानां योनिरिष्यते मद्यं। मद्यं भजतां तेषां हिंसा संजायतेऽवश्यं ॥ अर्थ–मद्य रससे उत्पन्न हुये बहुतसे जीवोंकी योनि अर्थात् उत्पन्न होनेका स्थान है । इसलिये जो मद्यका सेवन करते हैं उनके उन जीवोंकी हिंसा अवश्य होती है।

समुत्पद्य विपद्येह देहिनोऽनेकशः किल। मद्ये भवंति कालेन मनोमोहाय देहिनां ॥ अर्थ–मद्यमें अनेक जीव उत्पन्न होते और मरते रहते हैं और समय पाकर वे जीव उस मद्यके पीनेवालोंके मनको मोह उत्पन्न करते रहते हैं ।

मद्यं मोहयति मनो मोहितचित्तस्तु विस्मरति धर्मं। विस्मृतधर्मा जीवो हिंसामविशंकमाचरति ॥ अर्थ–मद्य मनको मोहित करता है तथा मोहितचित्तवाला पुरुष धर्मको भूल जाता है और धर्मको भूलाहुआ जीव नीडर होकर हिंसा करता है।

२–अभिमानभयजुगुप्साहास्यारतिशोककामकोपाद्याः । हिंसायाः पर्यायाः सर्वेऽपि च सरकसन्निहिताः ॥ अर्थ–अभिमान, भय, ग्लानि,

तथा जिसके न पीनेका व्रत ग्रहण करनेसे जिसप्रकार धूर्तिल नामके चोरको कीसीतरहकी विपत्ति नही हुई थी उसीप्रकार जिस कुलमें मद्य नहीं पिया जाता ऐसे कुलमें उत्पन्न होकर भी जो देव गुरु पंच आदिकी साक्षीपूर्वक मद्य न पीनेका व्रत ग्रहण करता है, अनेक तरहके दोषोंसे भरेहुये मद्यके छोडनेका पक्का नियम कर लेता है उसको किसीतरहका दुःख नहीं होता, और जिसके पीनेसे जिसप्रकार एकपाद नामके सन्यासीने (मिथ्यातपस्वी) अविवेकी होकर चांडालिनीके साथ सहवास किया था, मांस खाया था और न पीने योग्य चीजें पीयीं थीं तथा ऐसे दुराचरण करता हुआ वह अंतमें नरक आदि दुर्गतियोंमें गया था, उसीप्रकार जिस मद्यके पीनेवाले अनेक दुराचरण करतेहुये नरक आदि दुर्गतियोंमें डूबते हैं, उसप्रकारके मद्यको अवश्य छोड देना चाहिये। अभिप्राय यह है कि मद्य पीनेसे उसमें उत्पन्न होनेवाले अनेक जीवोंका घात होता है इससे द्रव्यहिंसा होती है और उसके पीनेवालोंके परिणाम क्रोध काम आदि रूप होते हैं इसलिये [1] भावहिंसा भी होती है। अतएव मद्य पीनेसे दोनों तरहकी हिंसा होती है

हास्य, अरति, शोक, काम, क्रोध आदि सब हिंसाकी पर्याय हैं अर्थात् वे सब एक तरहकी हिंसा हैं और वे सब मद्यके समीप रहते हैं। भावार्थ—मद्य पीनेसे अभिमान आदि भाव उत्पन्न होते हैं और वे सब हिंसाके ही भेद हैं इसलिये मद्य (शराब) पीनेसे भावहिंसा अवश्य होती है।

और उसके पीनेवाले एकपादके समान महा दुखी होते हैं तथा उसके त्याग करनेवाले दोनों तरहकी हिंसासे बचते हैं और वे धूर्तिलकी तरह सुखी होते हैं॥ ५ ॥

आगे– जो विशुद्ध आचरणोंका घमंड करते हुये भी मांसभक्षण करते हैं उनको निंद्य ठहराते हुये कहते हैं–

स्थानेऽश्नंतु पलं हेतोः स्वतश्चाशुचिकश्मलाः ।
श्वादिलालावदप्यद्युः शुचिंमन्याः कथं नु तत् ॥६॥

अर्थ–– जो जाति कुल आचार आदिसे मलिन अर्थात् नीच हैं वे लोहू वीर्य आदिसे अपवित्र अथवा विष्टाका कारण और विष्टास्वरूप होनेसे स्वभावसे ही अपवित्र ऐसे मांसको यदि भक्षण करें तो किसीतरह ठीक भी हो सकता है क्योंकि कदाचित् नीच लोगोंकी ऐसी प्रवृत्ति हो भी सकती है परंतु जो आपको पवित्र मानते हैं आचार विचारसे आत्माको पवित्र मानते हैं (परंतु वास्तवमें मांस आदि अभक्ष्य वस्तुओंके खानेसे पवित्र नहीं है) वे लोग बाज कुत्ता आदि अपवित्र जीवोंकी लार मिले हुये मांसको अथवा बाज कुत्ता आदि जीवोंकी लारके समान अपवित्र मांसको कैसे [1]खाते हैं ! क्योंकि यह

---

[1] रक्तमात्रप्रवाहेण स्त्री निंद्या जायते स्फुटं । द्विधातुजं पुनर्मांसं पवित्रं जायते कथं ॥ अर्थ–जब स्त्री रक्तके बहनेमात्रसे निंद्य और अपवित्र गिनी जाती है तब दो धातुओंसे उत्पन्न हुआ मांस भला कैसे पवित्र हो सकता है !

बडा भारी नीच कृत्य है। पंडितवर ऐसे पुरुषोंके लिये बडा भारी धिक्कार देते हैं और अपि शब्दसे आश्चर्य प्रगट करते हैं। ग्रंथकारने इस कृत्यको नीच दिखलानेके लिये और उन्हें धिक्कार देनेकेलिये ही गर्हा अर्थमें सप्तमी विभक्ति दी है ॥ ६ ॥

आगे–अपने आप मरेहुये मछली आदि पंचेंद्रिय जीवोंके मांस खानेमें कोई दोष नहीं है ऐसा माननेवालोंके लिये कहते हैं—

हिंस्रः स्वयं मृतस्यापि स्यादश्नन् वा स्पृशन्पलं।
पक्कापक्का हि तत्पेश्यो निगोदौघसुतः सदा ॥७॥

अर्थ–जो जीव मांस खानेवालेके विना किसी प्रयत्नसे अपने आप मरे हुये मछली भैंसा आदि प्राणियोंका मांस खाता है अथवा केवल उसका स्पर्श करता है वह भी द्रव्यहिंसा करनेवाला हिंसक अवश्य होता है। क्योंकि मांसका टुकडा

भक्षयंति पलमस्तचेतनाः सप्तधातुमयदेहसंभवं। यद्वदंति च शुचित्वमात्मनः किं विडंबनमतः परं बुधाः ॥ अर्थ–सातप्रकारकी धातुओंसे भरे हुये शरीरसे उत्पन्न हुये मांसको अज्ञानी लोग भक्षण करते हैं सो तो किसीतरह ठीक भी हो सकता है परंतु "हम पवित्र हैं" ऐसा अभिमान करनेवाले कितने ही पंडितजन मांस भक्षण करते हैं उनको क्या कहें उनकी विडंबना इससे अधिक और क्या होगी ?।

यतो मांसाशिषः पुंसो दमो दानं दयार्द्रता। सत्यशौचव्रताचारा न स्युर्विद्यादयोऽपि च ॥ अर्थ–मांस खानेवाले जीवोंके इंद्रियदमन, दान, दया, सत्य, पवित्रता, व्रत, आचार, विद्या, हिताहितका विचार आदि समस्त सद्गुण नष्ट हो जाते हैं।

चाहे कच्चा हो, चाहे अग्निमें पकाया हुआ हो, अथवा पक रहा हो उसमें अनंत साधारण निगोद जीवोंका समूह सदा उत्पन्न होता रहता है उसकी कोई अवस्था ऐसी नहीं है जिसमें जीवोंका समूह उत्पन्न न होता हो। अभिप्राय यह है कि मांस कैसा ही हो चाहे कच्चा हो चाहे पकाहुआ हो और चाहे पक रहा हो हरसमय उसमें अनंत जीव उत्पन्न होतेरहते हैं। मांस खाने अथवा स्पर्श करनेमें ऊपर द्रव्यहिंसा दिखलाई है, भावहिंसा आगेके श्लोकमें दिखलायंगे। इसतरह वह दोनोंतरहकी हिंसा करनेवाला होता है। इस श्लोकमें 'स्वयं मृतस्यापि' यहां पर जो अपि शब्द है जिसका अर्थ अपने आप 'मरे हुयेका भी' होता है उसका यह अभिप्राय है कि जब अपने प्रयत्नके विना ही स्वयं मरे हुये जीवका मांस स्पर्श करने अथवा खानेसे हिंसक होता है तो प्रयत्नपूर्वक मारे हुये जीवके मांसभक्षण करनेवालेका क्या कहना है वह तो महाहिंसक है ही ॥७॥

---

१ आमां वा पक्वां वा खादति यः स्पृशति वा पिशितपेशीं। स निहंति सततनिचितं पिंडं बहुजीवकोटीनां ॥ अर्थ—जो जीव कच्ची अथवा अग्निमें पकी हुई मांसकी डलीको खाता है अथवा छूता है वह पुरुष निरंतर इकठे हुये अनेक जीवोंके समूहके पिंडको नष्ट करता है अर्थात् उनका घात करता है।

आमास्वपि पक्वास्वपि विपच्यमानासु मांसपेशीषु। सातत्येनोत्पादस्तज्जातीनां निगोतानां ॥ अर्थ—विना पकी, पकी हुई, तथा पकती हुई भी मांसकी डालियोंमें उसी जातिके साधारण जीव निरंतर ही उत्पन्न होते रहते हैं।

आगे—मांसके खाने या छूनेसे अनंत जीवोंकी हिंसा होती है इंद्रियोंका दर्प बढता है इसलिये उसके सेवन करनेसे भावहिंसा अवश्य होती है यही दिखलातेहुये उसके खानेवाले नरक आदि दुर्गतियोंमें परिभ्रमण करते हैं इसका उपदेश देते हैं—

प्राणिहिंसा[1]र्पितं दर्पमर्पयत्तरसं तरां।
रसयित्वा नृशंसः स्वं विवर्तयति संसृतौ ॥ ८ ॥

अर्थ—जो मांस प्राणियोंकी हिंसा करनेसे उत्पन्न होता है अर्थात् जो पंचेंद्रिय जीवोंके मारनेसे अथवा उनकी द्रव्यहिंसा करनेसे उत्पन्न होता है और जो मदका अत्यंत आवेश (जोश) उत्पन्न करता है अर्थात् जिसके खानेसे इंद्रियोंका मद खूब बढता है खूब भावहिंसा होती है ऐसा जो मांस है उसे जो खाता है वह क्रूर कर्म करनेवाला हिंसक अपने आत्माको द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भाव इन पंच परावर्तनरूप दुःखमय संसारमें अनंतकालतक परिभ्रमण कराता है। अभिप्राय यह है कि मांस खानेसे द्रव्यहिंसा तथा भावहिंसा होती है और वह खानेवाला अनंत दुर्गतियोंमें भ्रमण करता हुआ दुःख भोगता है ॥ ८ ॥

१. न विना प्राणविघातान्मांसस्योत्पत्तिरिष्यते यस्मात्। मांसं भजतस्तस्मात्प्रसरत्यनिवारिता हिंसा ॥ अर्थ—प्राणोंका घात किये विना मांसकी उत्पत्ति कभी नहीं हो सकती इसलिये मांसभक्षी पुरुषके अनिवार्य हिंसा लगती है। भावार्थ—मांस शरीरका एक भाग है जो शरीरको छोडकर दूसरी जगह नहीं पाया जाता। जब शरीरका घात किया जायगा तब ही मांसकी उत्पत्ति होगी। इसलिये विना जीवघातके मांस कभी नहीं मिल सकता।

आगे—जो मांस खानेका संकल्प भी करता है उसकी इच्छा भी करता है उसके दोष तथा उसके त्याग करनेवालेके गुण उदाहरण द्वारा दिखलाते हैं—

भ्रमति पिशिताशनाभिध्यानादपि सौरसेनवत्कुगतीः ।
तद्विरतिरतः सुगतिं श्रयति नरश्चंडवत्खदिरवद्वा ॥९॥

अर्थ—जो जीव मांसभक्षण करनेकी इच्छा भी करता है वह सौरसेन राजाके समान नरक आदि अनेक दुर्गतियोंमें अनंतकालतक परिभ्रमण करता है। जब उसकी इच्छा करनेवाला ही दुर्गतियोंमें परिभ्रमण करता है तो उसे खानेवाला अवश्य ही भ्रमण करेगा अनेक तरहके दुख भोगेगा इसमें कोई संदेह नहीं है तथा जिसप्रकार किसी पूर्वकालमें उज्जैन नगरीमें उत्पन्न हुये चंड नामके चांडालने अथवा खदिरसार नामके भीलोंके राजाने मांसका त्याग कर सुख पाया था उसीप्रकार जिसने मांसभक्षण करना छोड दिया है वह प्राणी स्वर्ग आदि सुगतियोंके अनेक सुख भोगता है ॥ ९ ॥

आगे—गेंहू जो उडद आदि जो मनुष्योंके खानेके अन्न हैं वे भी एकेंद्रिय जीवोंके अंग हैं, जब उनके भक्षण कर-

---

ये भक्षयंत्यन्यपलं स्वकीयपलपुष्टये । त एव घातका यन्न वदको भक्षकं विना ॥ अर्थ–जो लोग अपना मांस पुष्ट करनेके लिये दूसरे प्राणियोंका मांस खाते है वे ही घातक है। यदि वे घातक (हिंसक) नहीं है तो कहो उन खानेवालोंके विना अन्य कौन हिंसक है ?

मांसास्वादनलुब्धस्य देहिनो देहिनं प्रति । हंतुं प्रवर्तते बुद्धिः शाकिन्य इव दुर्धियः ॥ अर्थ–मांसका स्वाद लेनेमें लुब्ध हुये ऐसे कुबुद्धी पुरुषकी बुद्धि शाकनीकी कुबुद्धिके समान अन्य प्राणियोंके मारनेमें ही प्रवर्त होती है।

नेमें दोष नहीं है तो मांस भक्षण करनेमें भी दोष नहीं है क्योंकि अन्नके समान मांस भी प्राणियोंका अंग है इसप्रकार अनुमानकर मांसभक्षण करनेमें दोष न माननेवाले अथवा मांसभक्षण करनेमें चतुर ऐसे लोगोंके लिये कहते हैं–

प्राण्यंगत्वे समेप्यन्नं भोज्यं मांसं न धार्मिकैः ।
भोग्या स्त्रीत्वाविशेषेऽपि जनैर्जायैव नांबिका ॥१०॥

अर्थ––मांस प्राणीका [1]अंग है और अन्न भी प्राणीका

---

१. मांसं जीवशरीरं जीवशरीरं भवेन्न वा मांसं । यद्वन्निंबो वृक्षो वृक्षस्तु भवेन्न वा निंबः॥ अर्थ-मांस प्राणियोंका शरीर है परंतु सब प्राणियों-के शरीर मांस नहीं कहलाते । क्योंकि गेहूं उडद आदि धान्य एकेंद्रिय जीव है परंतु उनमे रक्त मज्जा आदि नहीं है इसलिये ऐकेंद्रिय जीवों-के शरीरको मांस नहीं कह सकते इसका दृष्टांत देखिये– नीमको वृक्ष कह सकते हैं परंतु संसारमें जितने वृक्ष हैं सबको नीम नहीं कह सकते । क्योंकि वृक्ष शब्दकी व्याप्ति समस्त वृक्षोंपर है । जब वृक्षोंको नीम कहने लगेंगे तो आम बबूल आदि वृक्षोंको भी नीम कहना पडेगा और ऐसा कभी हो नहीं सकता । इसलिये अन्न जीवका शरीर होक-र भी मांस नहीं कहला सकता और न उसके खानेमें दोष है । व्यवहारमें भी रेशम आदि पदार्थ प्राणियोंके अंग होनेपर पवित्र माने जाते हैं और उनके समान हड्डी नख आदि पदार्थ पवित्र नहीं माने जाते । इसीप्रकार रोटी दाल भात आदि अन्नके पदार्थ सेवन करनेयोग्य हैं और भक्ष्य हैं तथा मांस अभक्ष्य है क्योंकि मांस खानेसे द्रव्यहिंसा व भावहिंसा दोनों ही अधिक होती हैं ।

अंग है। इसतरह यद्यपि दोनों समान हैं तथापि मांस लोहू आदिके विकारसे उत्पन्न होता है अतः उसमें दोष है इसलिये अहिंसा धर्मके पालन करनेवालोंको मांस भक्षण नहीं करना चाहिये। तथा गेंहू जो उडद आदि धान्य यद्यपि एकेंद्रिय जीवोंके अंग हैं तथापि वे लोहू आदिके विकारसे उत्पन्न नहीं होते इसलिये उसके खानेमें दोष नहीं है वह भक्ष्य है। अन्नमें प्राणीका अंग होनेसे मांस कल्पना नहीं हो सकती क्योंकि जो जो प्राणीका अंग होता है वह सब मांस होता है ऐसा नियम नहीं है। यदि

शुद्धं दुग्धं न गोमांसं वस्तुवैचित्र्यमीदृशं। विषघ्नं रत्नमाहेयं विषं च विपदे यतः ॥ **अर्थ**—एक ही जगह उत्पन्न होनेवाली दो वस्तुओंमें कितना अंतर होता है? देखो! गायका दूध शुद्ध है परंतु उसका मांस शुद्ध नहीं है। जैसे **रत्न** और **विष** दोनों ही सर्पमें उत्पन्न होते हैं परंतु तो भी उन दोनोंमें बडा अंतर है। रत्न विषका नाश करनेवाला है और विष प्राणोंका नाश करनेवाला है। यह केवल वस्तुके स्वभाव की ही विचित्रता है। अथवा—

हेयं पलं पयः पेयं समे सत्यपि कारणे। विषद्रोरायुषे पत्रं मूलं तु मृतये मतं ॥ **अर्थ**—गायके दूध और मांसके उत्पन्न होनेका घास पानी आदि एक ही कारण है तथापि मांस छोडने योग्य है और दूध पीने योग्य है। जैसे एक ही जल मिट्टीसे उत्पन्न होनेवाले विषवृक्षके पत्ते आयु बढानेवाले हैं और उसकी जड आयुको नाश करनेवाली है।

ऐसा नियम मान लिया जायगा तो जैसे नीम वृक्ष होता है इसतरह वृक्ष भी सब नीम होने चाहिये और फिर अशोक आदिको भी नीम कहना पडेगा इसलिये अन्न प्राणीका अंग होनेपर भी मांस नहीं है । जैसे माता और सहधर्मिणी स्त्री इन दोनोंमें यद्यपि स्त्रीपना एकसा है अर्थात् दोनों ही स्त्रीपर्यायको धारण करनेवाली हैं तथापि पुरुषोंको सहधर्मिणी स्त्री ही भोगने योग्य है माता नहीं । भावार्थ–पुरुष केवल स्त्रीका ही उपभोग करता है माताका नहीं इसीतरह धान्य ही भक्ष्य हैं मांस नहीं । ॥ १० ॥

पंचेंद्रियस्य कस्यापि बधे तन्मांसभक्षणे । यथा हि नरकप्राप्ति र्न तथा धान्यभोजनात् ॥ अर्थ–किसी भी पंचेंद्रिय प्राणीके मारने अथवा उसके मांस भक्षण करनेसे जैसी नरक आदि दुर्गति मिलती है वैसी दुर्गति अन्नके भोजन करनेसे नहीं होती ।

धान्यपाके प्राणिवधः परमेकोवशिष्यते । गृहिणां देशयमिनां स तु नात्यंतबाधकः ॥ अर्थ–गेहूं आदि धान्यके पकनेपर केवल एकेंद्रियका ही घात होता है सो एक देशसंयमको धारण करनेवाले गृहस्थोंके लिये वह अत्यंत बाधक नहीं होता, अर्थात् गृहस्थ उसका त्यागी नहीं होता ।

मांसखादकगतिं विमृशंतः सस्यभोजनरता इह संतः । प्राप्नुवंति सुरसंपदमुच्चै र्जैनशासनजुषो गृहिणोऽपि ॥ अर्थ–मांस खानेवालोंके भयंकर परिणामोंको विचारकर अर्थात् मांसका त्यागकर केवल धान्यका भोजन करनेवाले और जैनधर्मकी श्रद्धा रखनेवाले सज्जन चाहे गृहस्थ ही हों तथापि उन्हें स्वर्गलोककी उत्तम संपत्ति प्राप्त होती है ।

आगे—क्रमके अनुसार मधु अर्थात् शहतके दोष[1] दिखलाते हैं-

मधुकृद्व्रातघातोत्थं मध्वशुच्यपि बिंदुशः ।
खादन् बध्नात्यधं सप्तग्रामदाहांहसोऽधिकं ॥११॥

अर्थ—भौरा डांस मधुमक्खी आदि प्राणियोंके समुदायके विनाश होनेसे शहत उत्पन्न होता है इसके सिवाय उसमें हर-समय जीव उत्पन्न होते रहते हैं और मक्खी आदि प्राणियोंकी वह झूठन है इसलिये वह अत्यंत अपवित्र है कभी कभी शहत निकालनेवाले म्लेच्छ जीवोंकी लार वगैरह भी उसमें आपडती है इसतरह वह शहत महा अपवित्र और तुच्छ है । जो कोई मनुष्य ऐसे अपवित्र शहतकी एक बूंद भी खाता है उसे सात

---

१. अनेकजंतु संघातनिघातनसमुद्भवं । जुगुप्सनीयं लालावत्कः स्वादयति माक्षिकं ॥२॥ अर्थ—अनेक प्रकारके प्राणियोंके समुदायको विनाश करनेसे उत्पन्न हुये और लारके समान घृणित ऐसे शहतको भला कौन धर्मात्मा पुरुष भक्षण कर सकता है ? अथवा—

माक्षिकागर्भसंभूतबालांडकनिपीडनात् । जातं मधु कथं संतः सेवंते कललाकृति ॥२॥ अर्थ—जो मधुमक्खीके गर्भसे उत्पन्न होता है और छोटे छोटे अंडे बच्चोंको दाबकर निचोडनेसे निकलता है ऐसे मांसके समान शहतको सज्जन पुरुष कैसे सेवन करते हैं ? ॥

एकैककुसुमक्रोडाद्रसमापीय मक्षिकाः । यद्वमंति मधूच्छिष्टं तदश्नंति न धार्मिकाः ॥३॥ अर्थ—मधुमक्खी एक एक फूलके मध्य भागसे रस पीकर फिर उसे जो वमन करती है उसे शहत कहते हैं ऐसे झूठन शहतको धार्मिक लोग कभी नहीं खाते ।

गांव जलानेके पापसे भी अधिक पाप [1]लगता है। जब उसकी एक बूंद खानेमें इतना पाप है तब उसको अधिक खाने या अन्य किसी काममें लानेसे महा पाप होगा ही इसमें कोई संदेह नहीं है।

आगे—शहतके समान नवनीत अर्थात् मक्खन अथवा लौनीमें बहुत दोष है इसलिये उसके भी त्याग करनेका उपदेश देते हैं——

मधुवन्नवनीतं च मुंचेत्तत्रापि भूरिशः।
द्विमुहूर्तात्परं शश्वत्संसजंत्यंगिराशयः ॥१२॥

अर्थ——जिसप्रकार शहतमें सदा अनंत जीव उत्पन्न होते रहते हैं उसीप्रकार मक्खन वा लौनीमें भी दो मुहूर्तके बाद निरंतर अनेक सम्मूर्च्छन जीव उत्पन्न होते रहते हैं इसलिये

१—ग्रामसप्तकविदाहिरेफसा तुल्यता न मधुभक्षिरेफसः। तुल्यमंजलिजलेन कुत्रचिन्निम्नगापतिजलं न जायते॥ अर्थ—सात गांवोंके जलानेसे जो पाप हुआ है वह कुछ शहत खानेसे उत्पन्न हुये पापकी समानता नहीं कर सकता क्योंकि हाथकी हथेलीपर रक्खाहुआ पानी क्या समुद्रके पानी की बराबरी कर सकता है? अर्थात् कभी नहीं। अभिप्राय यह है।कि सात गांवोंके जलानेके पापसे भी शहत खानेमें अधिक पाप लगता है इसलिये उसके खानेकी इच्छा कभी नहीं करना चाहिये।

धर्मात्मा पुरुषोंको शहतके समान मक्खन वा लौनीका भी [1] त्याग कर देना चाहिये। अभिप्राय यह है कि मक्खन वा लौनीमें दो मुहूर्तके बाद जीव उत्पन्न होते हैं और फिर निरंतर उत्पन्न होते तथा मरते रहते हैं। इसलिये वह त्याज्य है॥१२॥

यश्चिरवादिषति सारघं कुधी मक्षिकागणविनाशनस्पृहः। पापकर्दमनिषेधनिम्नगा तस्य हंत करुणा कुतस्तनी ॥ अर्थ—जिस दुर्बुद्धिके शहत खानेकी इच्छा होती है उसके मधुमाक्खियोंके नाश करनेकी ही इच्छा होती है। ऐसे मनुष्यके पापरूपी कीचडको धो देनेवाली नदीके समान करुणा कहां रह सकती है? अर्थात् दुःखके साथ कहना पडता है कि उसके करुणा कभी नहीं रह सकती। अथवा—

स्वयमेव विगलितं यो गृह्णीयाद्वा छलेन मधुगोलात्। तत्रापि भवाति हिंसा तदाश्रय प्राणिनां घातात्॥ अर्थ—जो शहतके छत्तेसे कपटसे अथवा मक्खियों द्वारा स्वयमेव उगला हुआ शहत ग्रहण किया जाता है वहां भी उसके आश्रय रहनेवाले अनेक प्राणियोंके घातसे हिंसा अवश्य होती है।

१—यन्मुहूर्तयुगतः परं सदा मूर्च्छति प्रचुरजीवराशिभिः।

तद्गिलंति नवनीतमत्र ये ते व्रजंति खलु कां गतिं मृताः॥

अर्थ—दो मुहूर्त अर्थात् चार घडीके पीछे जिसमें अनेक सम्मूर्छन जीव भर जाते यैं तथा निरंतर उत्पन्न होते रहते हैं ऐसे मक्खनको जो लोग खाते हैं वे मरनेके पीछे किस दुर्गतिमें जायंगे? यह कह नहीं सकते।

आगे—पांचों उदंबर फलोंके खानेमें भी द्रव्यहिंसा और भावहिंसाका [२]दोष लगता है इसीको प्रतिपादन करते हैं—

पिप्पलोदुंबरप्लक्षवटफलगुफलान्यदन् ।

हंत्यार्द्राणि त्रसान् शुष्काण्यपि स्वं रागयोगतः ॥१३॥

अर्थ—पीपल, ऊमर (गूलर), पाकर, बड और कठूमर (काले गूलर अथवा अंजीर) इन पांचों वृक्षोंके हरे फल खानेवाला जीव सूक्ष्म और स्थूल दोनों तरहके त्रस जीवोंकी हिंसा[३] करता है क्योंकि इन फलोंमें अनेक सूक्ष्म स्थूल जीव

इस विषयमें अन्य आचार्योंका ऐसा भी मत है—

अंतर्मुहूर्तात्परतः सुसूक्ष्मा जंतुराशयः । यत्र मूर्च्छंति नाद्यं तन्नवनीतं विवेकिभिः ॥ अर्थ— मक्खन वा लौनीमें अंतमुहूर्तके पीछे अनेक सूक्ष्म जीव उत्पन्न हो जाते हैं इसलिये वह विवेकी पुरुषोंको नहीं खाना चाहिये ।

२—अश्वत्थोदुंबरप्लक्षन्यग्रोधादिफलेष्वपि । प्रत्यक्षाः प्राणिनः स्थूलाः सूक्ष्माश्चागमगोचराः ॥ अर्थ—उदंबर आदि पांचों फलोंमें स्थूलजीव कितने भरे हुये हैं वे तो प्रत्यक्ष ही देख पडते हैं परंतु उनमें सूक्ष्म भी अनेक जीव हैं जो कि देख नहीं पडते केवल शास्त्रोंसे जाने जाते हैं ।

३—ससंख्यजीवव्यपघातवृत्तिभिर्न धीवरैरस्ति समं समानता । अनंतजीवव्यपरोपकाणामुदुंबराहारविलोलचेतसां ॥ अर्थ—धीवर लोग नदी आदिमें जाल डालकर मछलीयां मारते हैं परंतु उन मरे हुये जीवोंकी संख्या होती है और उदुंबर खानेमें मरनेवालोंकी संख्या ही नहीं है अनंत जीव मर जाते हैं इसलिये इसमें भी अधिक पाप है ।

भरे रहते हैं । और जो जीव इन्हीं फलोंको सुकाकर खाता है अथवा बहुत दिन पडे रहनेसे जिनके सब त्रस जीव मर गये हैं ऐसे फलोंको खाता है वह भी उन फलोंमें अधिक राग रखनेसे उनमें अधिक प्रेम रखनेसे अपने आत्माका घात करता है । अभिप्राय यह है कि इन फलोंको हरे खानेसे द्रव्यहिंसा भावहिंसा दोनों ही होती हैं और [1]सूके खानेसे मुख्यतया भावहिंसा होती है और गौणतासे [2]द्रव्यहिंसा होती है इसलिये हरे सूके दोनों तरहके उदुंबरोंका त्याग करना चाहिये। यह श्लोक अंतर्दीपक अर्थात् बीचमें रक्खे हुये दीपकके समान है । बीचमें रक्खा हुआ दीपक जैसे पीछे रक्खे हुये पदार्थोंको भी प्रकाश करता है उसीतरह यह श्लोक भी सूके मद्य मांस मधुके खानेका भी निषेध करता है । भावार्थ—जैसे उदुंबर आदि फल हरे और सूके दोनों छोडने-योग्य हैं उसीतरह मद्य मांस मधु भी रस सहित और सूके

१—यानि तु पुनर्भवेयुः कालोच्छिन्नत्रसाणि शुष्काणि । भजतस्तान्यपि हिंसा विशिष्टरागादिरूपा स्यात् ॥ अर्थ—समय पाकर जिनके त्रस जीव मर गये हैं ऐसे सूके उदंबर आदि फलोंके खानेसे भी विशेष रागरूपी भावहिंसा होती है ।

२—यद्यपि सूके गूलर आदि फलोंमें त्रस जीव मर जायंगे तथापि उनका मांस उसीमें रहेगा इसलिये सूके उदंबर खानेसे मांस खानेका दोष भी अवश्य लगेगा ।

दोनों ही छोडनेयोग्य हैं। क्योंकि सूके मद्य आदिमें विशेष राग होनेसे आत्मघात होता है ॥ १३ ॥

आगे-जिसप्रकार मद्य मांस आदिके खानेमें दोष है उसीप्रकार रात्रिभोजन करने और विना छने पानीके पीनेमें भी दोष है इसलिये इन दोनोंके त्याग करनेकेलिये कहते हैं-

रागजीवबधापाय भूयस्त्वात्तद्वदुत्सृजेत् ।
रात्रिभक्तं तथा युंज्यान्न पानीयमगालितं ॥ १४॥

अर्थ-धर्मात्मा पुरुष जिसप्रकार मद्य आदिका त्याग करते हैं उसीप्रकार उन्हें रात्रिभोजनका त्याग भी अवश्य करना चाहिये। क्योंकि रात्रिमें भोजन करनेसे दिनकी अपेक्षा विशेष [1]राग होता है, [2]अधिक जीवोंका घात होता है और जलोदर आदि अनेक रोग हो जाते हैं। तथा ये ही सब दोष विना छने पानीके पीनेमें है, इसलिये धर्मात्मा पुरुषोंको विना छने पानी पीनेका त्याग भी करना चाहिये। पानी पीने योग्य पदार्थ हैं इसलिये पानी शब्दसे पीने योग्य अर्थात् पानी घी तेल दूध रस आदि समस्त पतले पदार्थ लेना चाहि-

---

१-रागाद्युदयपरत्वादनिवृत्तिर्नोतिवर्तते हिंसां। रात्रिं दिवमाहरतः कथं हि हिंसा न संभवति ॥ अर्थ-तीव्र राग आदि भावोंके उदयसे किसीका त्याग नहीं हो सकता और बिना त्याग किये हिंसा छूट नहीं सकती। इसलिये जो लोग रात और दिन खाते रहते हैं उनके हिंसा क्यों नहीं हो सकती? अर्थात् अवश्य होगी।

ये और इन सबको छानकर पीना चाहिये, तथा बिना छनेका त्याग करना चाहिये ॥ १४ ॥

आगे—भोले लोगोंकी रुचि बढानकोलिये रात्रिभोजनके त्यागका उत्तमफल दृष्टांतद्वारा दिखलाते हैं—

चित्रकूटेऽत्र मातंगी यामानस्तमितव्रतात् ।
स्वभर्त्रा मारिता जाता नागश्रीः सागरांगजा ॥१५॥

अर्थ—यहां ही अर्थात् मालवा देशके उत्तरदिशामें प्रसिद्ध चित्रकूटपर्वतपर रहनेवाली एक चांडालिनीको जागरिक नामके उसके पतिने मार डाला था परंतु उस चांडालीनीने एक

यद्येवं तर्हि दिवा कर्तव्यो भोजनस्य परिहारः । भोक्तव्यं तु निशायां नेत्थं नित्यं भवति हिंसा ॥ नैवं वासरभुक्ते भवति हि रागाधिको रजनिभुक्तौ । अन्नकवलस्य भुक्तेः भुक्ताविव मांसकवलस्य ॥ **भावार्थ**—यदि सदाकाल भोजन करनेसे ही हिंसा होती है तो दिनके भोजनका त्याग करके रात्रिको ही भोजन करना चाहिये, क्योंकि ऐसा करनेसे सदा हिंसा नहीं होगी ? सो ऐसा नही है क्योंकि जैसे अन्नके भोजनसे मांसके भोजनमें अधिक राग होता है उसीतरह दिनके भोजनसे रात्रिके भोजनमें अधिक राग होता है ।

२—अर्कालोकेन विना भुंजानः परिहरेत्कथं हिंसां । अपि बोधिते प्रदीपे भोज्यजुषां सूक्ष्मजीवानां ॥ **अर्थ**—सूर्यके प्रकाशके विना अर्थात् रात्रिमें भोजन करनेवाले पुरुषोंके जलाये हुये दीपकमें भी भोजनमें मिले हुये सूक्ष्म जंतुओंकी हिंसा किसप्रकार दूर की जा सकती है ? ।

पहरतक अर्थात् तीन घंटे तक रात्रीभोजन त्यागका व्रत पालन किया था इसलिये उसी पुण्यके प्रभावसे वह चांडालिनी मरकर शेठ सागरदत्तकी नागश्री नामकी पुत्री हुई थी। अभिप्राय यह है कि एक पहरतक ही रात्रिभोजनका त्याग कर देनेसे चांडालिनीने भी एक धार्मिक श्रीमानके यहां जन्म लिया था। यदि इसे अच्छे गृहस्थ धारण करे तो फिर उनकी बात ही क्या है उन्हें अवश्य ही स्वर्गादिके सुख मिलेंगे ॥१५॥

आगे—जिसने मद्यमांस मधु आदिका त्याग कर दिया है आठ मूलगुण धारण करलिये हैं ऐसे पाक्षिक श्रावकको अपनी शक्तिके अनुसार अहिंसा आदि अणुव्रतोंका भी अभ्यास करना चाहिये ऐसा कहते हैं—

स्थूलहिंसानृतस्तेयमैथुनग्रंथवर्जनं ।
पापभीरुतयाभ्यस्येद्बलवीर्यानिगूहकः ॥१६॥

अर्थ—आहार आदिसे उत्पन्न होनेवाली शक्तिको बल कहते हैं और स्वाभाविक शक्तिको पराक्रम वा वीर्य कहते हैं। श्रावकको अपने बल और पराक्रमको न छिपाकर अर्थात् अपनी शक्तिके अनुसार पाप होनेके डरसे स्थूलहिंसा, झूठ, चोरी, परस्त्री और धन धान्य दासी दास आदि अधिक परिग्रह इन पांचों पापोंके त्याग करनेका अभ्यास करना चाहिये, अर्थात् इनके त्याग करनेकी भावना रखना चाहिये। श्रावकको हिंसा-

दिकमें पाप होनेके डरसे स्थूल हिंसाआदिके त्याग करनेका अभ्यास करना चाहिये राजा आदिके डरसे नहीं, क्योंकि यदि वह राजादिके डरसे हिंसादिके त्याग करनेका अभ्यास करेगा तो उससे उसके कर्म नष्ट नहीं होंगे ॥१६॥

आगे–स्थूल हिंसादिके त्याग करनेवाले श्रावकको वेश्या आदिके समान जूआका भी त्याग करना चाहिये ऐसा उपदेश देते हैं–

द्यूते हिंसानृतस्तेयलोभमायामये सजन् ।
क स्वं क्षिपति नानर्थे वेश्याखेटान्यदारवत् ॥१७॥

अर्थ––जूआ खेलनेमें हिंसा, झूठ, चोरी, लोभ और कपट आदि दोषोंकी ही अधिकता होती है । अर्थात् जूआ इन दोषोंसे भरपूर भरा हुआ है । जूआके समान वेश्यासेवन, परस्त्रीसेवन और शिकार खेलना भी हिंसा झूठ चोरी आदि पापोंसे भरा हुआ है । इसलिये जैसे वेश्यासेवन परस्त्रीसेवन और शिकार खेलनेसे यह जीव स्वयं नष्ट होता है, जातिभ्रष्ट होता है और धर्म अर्थ काम इन पुरुषार्थोंसे भ्रष्ट होता है उसीप्रकार जो श्रावक हिंसा झूठ चोरी लोभ और कपट इन पापोंसे भरे हुये ऐसे जुआके खेलनेमें अत्यंत आसक्त होता है वह अपने आत्माको तथा अपनी जातिको किस किस आपात्तिमें नहीं डाल देता है ! अर्थात् वह स्वयं नष्ट होता है उसके धर्म अर्थ काम ये सब पुरुषार्थ नष्ट हो जाते हैं और वह अपनी

जातिको भी रसातलमें पहुंचा देता है। अभिप्राय यह है कि पाक्षिक श्रावकको वेश्यासेवन परस्त्रीसेवन और शिकार खेलनेका भी त्याग करना चाहिये तथा इसीतरह जूआ खेलनेमें भी आसक्त नहीं होना चाहिये। क्योंकि इन सबमें हिंसादि पाप होते हैं। यहांपर "जूआमें आसक्त नहीं होना चाहिये" ऐसा जो लिखा है उसका यह अभिप्राय है कि पाक्षिक श्रावक केवल क्रीडा करने वा चित्त प्रसन्न करनेके लिये जूआ खेलनेका त्याग नहीं कर सकता। पाक्षिक श्रावकके लिये केवल जूआमें आसक्त होनेका निषेध है ॥१७॥

१—सर्वानर्थप्रथनं मथनं शौचस्य सद्म मायायाः। दूरात्परिहर्तव्यं चौर्यासत्यास्पदं द्यूत ॥ अर्थ—जूआ खेलना सब अनर्थोंका कारण है, पवित्रताका नाश करनेवाला है, मायाका घर और चोरी झूठका स्थान है इसलिये इसे दूरसे ही छोड देना चाहिये।

कौपीनं वसनं कदन्नमशनं शय्याधरा पांसुला। जल्पाश्लीलगिरः कुटुंबकजनद्रोहः सहाया विटाः॥ व्यापाराः परवंचनानि सुहृदश्चौरा महांतो द्विषः। प्रायः सैष दुरोदरव्यसनिनः संसारवासक्रमः॥ अर्थ—जुआरी लोगोंके पास लंगोटीके सिवाय अन्य वस्त्र नहीं ठहरते, बुरे अन्न ही खानेको मिलते हैं, धूलीवाली जमीन ही सोनेको मिलती है, उनके वचन सदा अश्लील रहते हैं वे कुटुंबी जनोंसे सदा द्वेष रखते हैं, लुच्चे लफंगे उनके सहायक होते हैं, दूसरोंको ठगना ही उनका व्यापार होता है, चोर ही उनके मित्र होते हैं और पूज्य वा बडे पुरुषोंको वे शत्रु समझते हैं। जुआरी लोगोंके संसारमें रहनेका निवास प्रायः इसीतरहका होता है।

आगे– धर्माचार्योंका उपदेश जैनसिद्धांतसे विरुद्ध न होकर भी शिष्योंके अनुरोधसे अनेक तरहका होता है इसलिये ही श्रावकोंके आठ मूलगुण दूसरी तरहसे भी कहते हैं–

मद्यपलमधुनिशासनपंचफलीविरतिपंचकाप्तनुती ।
जीवदया जलगालनमिति च क्वचिदष्टमूलगुणाः ॥१८॥

अर्थ–[1]मद्यका त्याग, मांसका त्याग, शहतका त्याग, रात्रीभोजनका त्याग, पांचों उदंबरफलोंका त्याग, सवेर दोपहर और शाम इन तीनों समय देवपूजा (देववंदना) करना, दया करने योग्य प्राणियोंपर दया करना और पानी छानकर कामम लाना श्रावकोंके लिये ये आठ मूलगुण भी किसी किसी शास्त्रमें लिखे हैं ॥ १८ ॥

आगे––इस मूलगुणोंके प्रकरणका उपसंहार करते हैं और जो सम्यग्दर्शनको सदा शुद्ध रखकर मद्य मांस आदिको त्याग करते हैं तथा यज्ञोपवीत धारण करते हैं ऐसे ब्राह्मण

१–मद्योदुंबरपंचकामिषमधुत्यागाः कृपा प्राणिनां । नक्तं भुक्तिविमुक्तिराप्तविनुतिस्तोयं सुवस्त्रस्रुतं ॥ एतेष्टौ प्रगुणा गुणा गणधरैरागारिणां कीर्तिता । एकेनाप्यमुना विना यदि भवेद्भूतो न गेहाश्रमी ॥ अर्थ–मद्यका त्याग, पाचों उदंबरफलोंका त्याग, मांसका त्याग, मधुका त्याग, रात्रिभोजनका त्याग तथा प्राणियोंपर दया करना, तीनो समय देवबंदना करना और पानी छानकर काममें लाना ये आठ मुख्य गुण अर्थात् मूलगुण गृहस्थोंके लिये गणधरदेवने कहे हैं । इनमेंसे यदि एक भी गुण कम हो तो उसे गृहस्थ नहीं कह सकते ।

क्षत्रिय वैश्यको ही जैनधर्मके सुननेका अधिकार है ऐसा प्रगट-कर दिखलाते हैं–

> यावज्जीवमिति त्यक्त्वा महापापानि शुद्धधीः ।
> जिनधर्मश्रुतेर्योग्यः स्यात्कृतोपनयो द्विजः ॥ १९ ॥

अर्थ—ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य ये तीनों वर्ण द्विज कहलाते हैं क्योंकि शास्त्रोंमें लिखा है "त्रयोवर्णा द्विजातयः" अर्थात् तीनों वर्ण द्विज हैं । जो दो वार जन्म ले उसे द्विज कहते हैं । ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य ये प्रथम तो माताके गर्भसे जन्म लेते हैं और फिर इनका दूसरा जन्म जैन शास्त्रोंमें कहे हुये यज्ञोपवीत आदि संस्कारोंसे होता है । ये संस्कार अथवा इन संस्कारोंद्वारा जन्म सम्यग्ज्ञानादि बढानेके लिये ही होता है । इन दो प्रकारके जन्म लेनेसे ही ये द्विज कहलाते है । जो पुरुष इन तीनों वर्णोंमेंसे किसी वर्णका हो और जिसने विधिपूर्वक मौंजीबंधन सहित यज्ञोपवीत (जनेऊ) धारण किया हो उसकी बुद्धि यदि सम्यग्दर्शनसे विशुद्ध हो गई हो अर्थात् उसके सम्यग्दर्शन हो और वह अनंत संसारको बढानेवाले मद्य मांस आदि पहिले कहे हुवे महापापोंको जन्मभरके लिये उपर लिखे अनुसार त्याग कर दे अर्थात वह यदि सम्यग्दर्शनपूर्वक आठ मूलगुण धारण करले तब वह पुरुष वीतराग सर्वज्ञदेवके कहेहुये उपासकाध्ययन (श्रावकाचार) आदि धर्मशास्त्रोंके

सुननेका अधिकारी[1] होता है। अभिप्राय यह है कि जिनके गर्भाधान आदि सब संस्कार हुये हैं ऐसे ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य यज्ञोपवीत धारण करनेके पीछे आठ मूलगुणोंको धारणकर जैन धर्म और श्रावकाचार आदि शास्त्रोंके पढने सुननेके योग्य होते हैं। (शूद्रोंके लिये बाइसवां श्लोक देखिये)॥१९॥

आगे—स्वाभाविक और पीछेसे ग्रहण किये हुये अलौकिक गुणोंको धारण करनेवाले भव्य पुरुषोंको यथायोग्य रीतिसे कहते हैं—

जाता जैनकुले पुरा जिनवृषाभ्यासानुभावाद्गुणैः
येऽयत्नोपनतैः स्फुरंति सुकृतामग्रेसराः केऽपि ते।
येऽप्युत्पद्य कुदृक्कुले विधिवशाद्दीक्षोचिते स्वं गुणै-
र्विद्याशिल्पविमुक्तवृत्तिनि पुनंत्यन्वीरते तेऽपि तान्॥२०॥

अर्थ—जो जिनेंद्रदेवकी उपासना करते हैं अर्थात् जो अरहंत भगवानको ही देव मानते हैं उन्हें जैन कहते हैं। उनका जो कुल है अर्थात् दादा परदादा आदि पहिलेके पुरुषोंकी परंपरासे आया हुआ जो वंश है जो कि जैन शास्त्रोंमें कहे हुये गर्भाधानादि निर्वाण पर्यंत क्रिया मंत्र संस्कार आदिके

१. अष्टावनिष्टदुस्तरदुरितायतनान्यमूनि परिवर्ज्य। जिनधर्मदेशनाया भवंति पात्राणि शुद्धधियः॥ अर्थ—दुःख देनेवाले, दुस्तर और पापोंके स्थान ऐसे इन मद्य मांस आदि आठों पदार्थोंका परित्याग कर अर्थात् आठ मूलगुण धारण कर निर्मलबुद्धि-वाले पुरुष जिनधर्मके उपदेश सुननेके पात्र होते हैं।

संबंधसे वृद्धिको प्राप्त हुआ है उसे जैनकुल कहते हैं। जो पुरुष पहिलेके अनेक जन्मोंमें बार बार सर्वज्ञदेवके कहे हुये जैनधर्मके पालन करनेसे प्राप्त हुये पुण्यकर्मके उदयसे जैनकुलमें [1]उत्पन्न हुये हैं, और विना ही प्रयत्न किये अर्थात् जैनकुलमें उत्पन्न होनेसे ही अपने आप प्राप्त हुये सम्यग्दर्शन आदि गुणोंसे जो लोगोंके चित्तमें आश्चर्य उत्पन्न करते हैं ऐसे पुरुष सम्यग्दर्शनके साथ साथ प्राप्त होनेवाले पुण्यकर्मके उदयसे पुण्यवान पुरुषोंमें भी मुख्य गिने जाते हैं और वे इस वर्तमान समयमें बहुत थोडे हैं। तथा कितने ही भव्यपुरुष ऐसे हैं कि जो मिथ्यादृष्टियोंके ऐसे कुलमें उत्पन्न हुये हैं कि जिसमें जीविकाके लिये नाचना गाना आदि विद्या और बढईका काम शिल्प ये दोनों काम नहीं होते हैं अर्थात् जिस कुलमें विद्या और शिल्पको छोडकर शेष असि मसि कृषि और व्यापार ये चार ही जीविकाके उपाय हैं और जो कुल दीक्षा ग्रहण करनेके योग्य है। व्रतोंको प्रगट कर दिखाना अथवा व्रतोंके सन्मुख अपनी वृत्ति रखना इसको दीक्षा कहते हैं। यहांपर उपासकदीक्षा अर्थात् श्रावकोंके व्रत धारण करना, जिनमुद्रादीक्षा अर्थात् मुनियोंके व्रत धारण करना और यज्ञोपवीतसं-

---

१. जो जीव पूर्व जन्ममें जैनधर्मका पालन करते थे वे इस जन्ममें भी आकर जैनकुलमें उत्पन्न होते हैं क्योंकि उनका संस्कार ही वैसा होता है।

स्कार ये तीन दीक्षायें ग्रहण की गई हैं। इन तीनोंमेंसे वह कुल किसी दीक्षाके योग्य हो। जो पुरुष मिथ्यात्वके साथ साथ होनेवाले पुण्यकर्मके उदयसे मिथ्यादृष्टियोंके ऐसे कुलमें जन्म लेकर आगे कहे हुये तत्त्वोंका श्रद्धान करना आदि गुणोंसे अपने आत्माको पवित्र करते हैं वे भी जैनकुलमें उत्पन्न होनेवालोंके समान ही हो जाते हैं। ग्रंथकारने ऐसे लोगोंके लिये अपि शब्दसे आश्चर्य प्रगट किया है अर्थात् यह भी एक आश्चर्य है कि मिथ्यादृष्टियोंके कुलमें उत्पन्न होनेवाले भी तत्वार्थश्रद्धान आदि गुणोंको धारण कर जैनकुलमें उत्पन्न होनेवाले पुण्यवान सम्यग्दृष्टियोंके समान गिने जाते हैं। अभिप्राय यह है कि भव्य दो प्रकारके हैं—एक तो वे कि जो जैनकुलमें जन्म लेकर पूर्व जन्मके संस्कारसे स्वभावसे ही धर्मात्मा हैं, और दूसरे वे कि जो मिथ्यादृष्टियोंके कुलमें जन्म लेकर जैनधर्म धारणकर धर्मात्मा हुये हैं ॥ २० ॥

आगे—ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य इन द्विजातियोंमेंसे कुलक्रमसे आये हुये मिथ्याधर्मको छोडकर और विधिपूर्वक जैनधर्मको धारण कर जो स्वाध्याय ध्यान आदिके निमित्तसे अशुभ कर्मोंका नाश करता है उस भव्य पुरुषकी प्रशंसा करते हैं—

तत्त्वार्थं प्रतिपद्य तीर्थकथनादासाद्य देशव्रतं
तद्दीक्षाग्रधृतापराजितमहामंत्रोऽस्तदुर्दैवतः।
आंगं पौर्वमथार्थसंग्रहमधीत्याधीतशास्त्रांतरः
पर्वांते प्रतिमासमाधिमुपयन् धन्यो निहंत्यंहसी॥२१॥

अर्थ—मिथ्याधर्म छोडकर जैनधर्म धारण करनेके लिये आठ प्रकारके संस्कार[१] करने पडते हैं और वे संस्कार इस प्रकार है कि जो मिथ्यादृष्टि भव्य पुरुष तीर्थ अर्थात् धर्माचार्य अथवा गृहस्थाचार्यके उत्तम उपदेशसे जीव अजीव आदि तत्त्वोंका निश्चय करता है अर्थात् उनका श्रद्धान करता है (इसका नाम अवतारक्रिया है) फिर

१. इन संस्कारोंका विशेष वर्णन भगवाज्जिनसेनाचार्यप्रणीत आदिपुराणके ३९ वें पर्वमें दीक्षान्वयक्रियाके अंतर्गत कहा है। अणुव्रत अथवा महाव्रत स्वीकार करनेमें सन्मुख हुई मनुष्योंकी वृत्तिको दीक्षा कहते हैं। दीक्षा संबंधी क्रियाओंको दीक्षान्वयाक्रिया कहते हैं। उसके ४८ भेद है उनमेंसे जो भव्य जीव मिथ्यादृष्टि कुलमें उत्पन्न होकर जैनधर्म स्वीकार करते हैं उनके लिये आठ क्रियायें कही हैं और वे क्रमसे ये हैं—

अवतारो वृत्तलाभः स्थानलाभो गणग्रहः । पूजाराध्यपुण्ययज्ञौ दृढचर्योपयोगिता॥ **अर्थ**—अवतार, वृत्तलाभ, स्थानलाभ, गणग्रह, पूजाराध्य, पुण्ययज्ञ, दृढचर्या और उपयोगिता ये आठ क्रिया हैं इनमेंसे प्रत्येकका लक्षण इसप्रकार है कि दिगंबरमुनि अथवा धर्मनिष्ठ विद्वान् गृहस्थाचार्य इनमेंसे किसी एकके उत्तम उपदेशसे मिथ्यात्वको छोडकर अरहंत देवके कहे हुये तत्त्वोंके श्रद्धान करनेको **अवतारक्रिया** कहते हैं। इसका दूसरा नाम धर्मजन्म भी है क्योंकि—

गुरुर्जनयिता तत्त्वज्ञानं गर्भः सुसंस्कृतः । तथा तत्रावतीर्णोसौ भव्यात्मा धर्मजन्मना ॥ **अर्थ**—गुरु ही पिता है और उससे उत्पन्न हुआ तत्त्वज्ञान उत्तम संस्कार सहित एक गर्भ है उस ज्ञानगर्भसे यह

पहिले कहे हुये मूलगुण अणुव्रत आदि [1]देशव्रतको धारण करता है, (इसे व्रतलाभाक्रिया कहते हैं) तदनंतर प्रथम ही श्रावककी दीक्षा धारणकर अर्थात् श्रावकके व्रत ग्रहणकर गुरुके मुखसे गणधरादि देवोंके द्वारा पूज्य ऐसे अपराजित [2]महामंत्र-

---

भव्यात्मा धर्मस्वीकाररूप अवतार लेता है इसलिये इस अवतारको **धर्मजन्म** कहते हैं। अभिप्राय यह है कि जब यह जीव एक शरीरको छोडकर दूसरे शरीरको धारण करता है तब वह उसका शरीरजन्म गिना जाता है। इसीतरह यह जीव जब मिथ्यात्वधर्मको छोडकर सम्यग्दर्शन स्वीकार करता है तब वह उसका धर्मजन्म कहना ही चाहिये।

१–ततोस्य वृत्तलाभः स्यात्तदैव गुरूपादयोः। प्रणतस्य व्रतव्रातं विधानेनोपसेदुषः ॥ **अर्थ**–जिससमय इस भव्यके गुरुके उपदेशसे सम्यक्त्व प्रगट होता है उसीसमय यदि वह गुरुके चरणकमलोंको नमस्कारकर विधिपूर्वक आठ मूलगुण आदि व्रत धारण करे तो उसकी वह **वृत्तलाभाक्रिया** कही जाती है।

२–ततः कृतोपवासस्य पूजाविधिपुरस्सरं। स्थानलाभो भवेदस्य तत्रायमुचितो विधिः ॥ **अर्थ**—वृत्तलाभके पीछे जिंनेंद्रदेवकी पूजाकर उपवासादि करनेको **स्थानलाभ** कहते हैं। इसका क्रम इसप्रकार है—

जिनालये शुचौ रंगे पद्ममष्टदलं लिखेत्। विलिखेद्वा जिनास्थानमंडलं समवृत्तकं ॥ श्लक्ष्णेन पिष्टचूर्णेन सलिलालोडितेन वा। वर्तनं मंडलस्येष्टं चंदनादिद्रवेण वा ॥ तस्मिन्नष्टदले पद्मे जैने वास्थानमंडले। विधिना लिखिते तज्ज्ञैर्विष्वग्विरचितार्चने ॥ जिनार्च्याभिमुखं सूरिर्विधिनैनं निवेशयेत्। तवोपासकदीक्षेयमिति मूर्ध्नि मुहुः स्पृशन् ॥ पंचमुष्टि

को अर्थात् पंचनमस्कार महामंत्रको स्वीकार करता है, (इसको स्थानलाभ क्रिया कहते हैं ।) फिर वह कुदेवोंका

विधानेन स्पृष्ट्वैनमधिमस्तकं । पूतोसि दीक्षयेत्युक्त्वा सिद्धशेषां च लंभयेत् ॥ ततः पंचनमस्कारपदान्यस्मायुपादिशेत् । मंत्रोयमखिलात्पापात्त्वां पुनीतादितीरयन् ॥ कृत्वा विधिमिमं पश्चात्पारणाय विसर्जयेत् । गुरोरनुग्रहात्सोपि संप्रीतः स्वं गृहं व्रजेत् ॥

अर्थ—जिनालयके निर्मल मंडपमें अनेक रंगके वारीक पिसे चूर्णसे अथवा पानीमें मिलाये हुये पिसे चूर्णसे अथवा चंदन आदि सुगंधित घिसी हुये द्रव्योंसे किसी जानकार मनुष्यसे शास्त्रमें कही हुई विधिके अनुसार आठ पांखुरीका कमल अथवा समान गोलाकार श्री जिनेंद्रदेवका समवसरणमंडल लिखावे । और उसके मध्यभागमें श्रीजिनेंद्रदेवकी प्रतिमा स्थापनकर उसकी पूजा करावे। तदनंतर वह गुरु उस शिष्यको विधिपूर्वक उस प्रतिमाके सामने बिठाकर " तुझे यह उपासकदीक्षा देता हूं " ऐसा कहता हुआ उसके मस्तकको बार बार स्पर्श करे । इसप्रकार पंचमुष्टि करे अर्थात् पांच बार उसके मस्तकको स्पर्श करे और फिर " तू पवित्र है अब उपासकदीक्षा ग्रहण कर " इसप्रकार कहकर उसके मस्तकपर तीर्थोदक छिडके उसके बाद " यह मंत्र तुझे समस्त पापोंसे पवित्र करेगा " यह कहकर उस शिष्यको पंच नमस्कारमंत्रका उपदेश दे । इसप्रकार सब विधि करके उसे पारणा करनेकेलिये आज्ञा देवे, तथा वह शिष्य भी " आज मुझपर गुरुकी बडी कृपा हुई है " इसप्रकार बडा हर्ष मानकर घर जावे । इसे स्थानलाभ कहते हैं ।

त्याग करता है, (इसे [1]गणग्रह क्रिया कहते हैं)
तदनंतर ग्यारह अंग संबंधी उद्धारग्रंथ सूत्र आदि ग्रथोंको पढता है, (इसे [1]पूजाराध्यक्रिया कहते हैं) फिर चौदह पूर्व संबंधी शास्त्रोंको पढता है, (इसे [2]पुण्ययज्ञक्रिया कहते हैं) इसके बाद वह न्याय व्याकरण अलंकार गणित और बुद्ध मीमांसा न्याय

घर आनेपर– इयंतं कालमज्ञानात्पूजिताः स्थ कृतादरं । पूज्यास्त्विदानीमस्माभिरस्मत्समयदेवताः ॥ ततोपमृषितेनालमन्यत्र स्वैरमास्यतां । इति प्रकाशमेवैता नीत्वान्यत्र क्वचित्त्यजेत ॥ गणग्रहः स एषः स्यात्प्राक्तनं देवतागणं । विसृज्यार्चयतः शांता देवताः समयोचिताः ॥

अर्थ– मिथ्यादेवताओंको उद्देश करके इसप्रकार कहे कि "आज तक मैंने अपने अज्ञानसे तुम्हारा बडा आदरसत्कार किया है, अब मेरे जिनशास्त्र और जिनदेवता ही पूज्य हैं इसलिये अब मुझपर क्रोध न करके अपनी इच्छानुसार कहीं दूसरी जगह चले जाइये " इसप्रकार कहकर उस मिथ्यादेवताकी मूर्तिको घरके बाहर कहीं भी जाकर रखदे इसप्रकार पहिलेके मिथ्यादेवताओंको छोडकर जिनधर्ममें मान्य ऐसे शांत देवताओंकी पूजा किया करे इसे **गणग्रह** कहते हैं।

१–पूज्याराध्याख्यया ख्याता क्रियास्य स्यादतः परा। पूजोपवाससंपत्या शृण्वतोऽगार्थसंग्रहं ॥ अर्थ—तदनंतर पूजा और उपवास करके द्वादशांगका अर्थ ग्रहण करना इसे **पूजाराध्यक्रिया** कहते हैं।

२–ततोन्या पुण्ययज्ञाख्या क्रिया पुण्यानुबंधिनी । शृण्वतः पूर्वविद्यानामर्थं सब्रह्मचारिणः ॥ अर्थ—उसके बाद गुरुके मुखसे अपने सहधर्मियोंके साथ साथ पूर्वविद्या अर्थात् चौदह पूर्वोंका अर्थ सुनना सो पुण्यबंध करनेवाली **पुण्ययज्ञक्रिया** कहलाती है।

आदिके दर्शनशास्त्रोंको पढता है, और (इसका नाम [3]दृढचर्या है) तदनंतर वह प्रत्येक महीनेकी दोनों अष्टमी और दोनों चतुर्दशीको रात्रीकी प्रतिमायोग धारण करनेका अभ्यास करता है ।(इसका नाम उपयोगिताक्रिया है):इसप्रकार आठों संस्कार कर वह धन्य और पुण्यवान पुरुष द्रव्य और भाव दोनों प्रकारके पापोंको नष्ट करता है । अभिप्राय यह है कि जो कोई अन्यधर्मी अपना मिथ्याधर्म छोडकर जैनधर्म पालन करना चाहे तो उसे ये ऊपर लिखे हुये आठ संस्कार करने ही चाहिये। यह उसके लिये एकतरहका प्रायश्चित्त है। इन संस्कार वा क्रियाओंके किये विना वह जैनधर्म पालन करनेका योग्य पात्र नहीं गिना जाता । जबतक उसके संस्कार न बदले जायंगे तबतक उसपर मिथ्यासंस्कारोंका असर बना ही रहेगा । इसलिये ये क्रियायें कहीं गईं हैं ॥ २१ ॥

३—तदास्य दृढचर्याख्या क्रिया स्वसमयश्रुतं । निष्ठाप्य श्रृण्वतो ग्रंथान् बाह्यानन्यांश्चकांश्चन ॥ अर्थ—फिर अपने धर्मशास्त्र अच्छीतरह पढकर अन्यमतके दर्शन आदि लौकिक ग्रंथोंके अभ्यास करनेको **दृढचर्याक्रिया** कहते हैं ।

४—दृढव्रतस्य तस्यान्या क्रिया स्यादुपयोगिता । पर्वोपवासपर्यंते प्रतिमायोगधारणं ॥ अर्थ—जिसके व्रत दृढ हो चुके हैं ऐसा भव्य जीव प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशीके पर्वोंमें उपवास करके रात्रिको प्रतिमायोग धारण करता है उसे **उपयोगिताक्रिया** कहते हैं ।

आगे– जिसके आचरण आदि शुद्ध हैं ऐसे शूद्रको भी ब्राह्मण आदिके समान यथायोग्य धर्मक्रियाओंके करनेका अधिकार है ऐसा मानते हुये कहते हैं–

शूद्रोऽप्युपस्कराचारवपुःशुध्यास्तु तादृशः ।
जात्या हीनोऽपि कालादिलब्धौ ह्यात्मास्ति धर्मभाक् ॥

अर्थ– जिसके आसन आदि उपकरण अर्थात् सोने बैठनेकी सब चीजें शुद्ध हैं, मद्य मांसादिका त्याग करनेसे जिसके आचरण भी शुद्ध हैं और जिसका शरीर भी शुद्ध है ऐसा शूद्र भी जैनधर्मके सुननेके योग्य हो सकता है। इसका कारण यह है कि जो जातिसे हीन हैं अथवा छोटी जातिवाले हैं, अपिशब्दसे जो उत्तम जातिके तथा मध्यम जातिके ब्राह्मण क्षत्रियादिक हैं वे भी काललब्धि देशलब्धि आदि धर्म धारण करनेकी योग्य सामग्री मिलनेपर ही श्रावक धर्मको धारण कर सकते हैं। अभिप्राय यह है कि जैसे ब्राह्मण आदि उत्तम वर्णवाले पुरुष काललब्धि धर्म साधन करनेकी सामग्री मिलनेपर ही श्रावकधर्मको धारण करते हैं उसीप्रकार [1]शूद्र भी आचरण आदिसे शुद्ध होनेपर और काललब्धि आदि

[1] जातिगोत्रादिकर्माणि शुक्लध्यानस्यहेतवः । येषु ते स्युस्त्रयो वर्णाः शेषाः शूद्राः प्रकीर्तिताः ॥ अर्थ–शुक्लध्यानके कारण ऐसे उत्तम जाति और उत्तम गोत्रादि कर्म जिनमें विद्यमान हैं ऐसे तीन (ब्राह्मण क्षत्री वैश्य) वर्ण हैं और शेष सब शूद्र हैं क्योंकि उनमें जाति कुल आदिक शुद्ध नहीं है।

धर्मसाधन करनेकी सामग्री मिलने पर श्रावकधर्मको पालन [1]कर सकता है। श्रावकके मूलगुण तथा अणुव्रत आदि सर्वसाधारण हैं इन्हें हरकोई पालन कर सकता है।

इसप्रकार अहिंसा पालन करना, सत्य भाषण करना, अचौर्यव्रत पालना, इच्छाका परिमाण कर लेना और वेश्यां आदि निषिद्ध स्त्रियोंमें ब्रह्मचर्य धारण करना अर्थात् उनका त्याग करना ये सर्व साधारण धर्म हैं इन्हें हरकोई धारण कर सकता है यह बात कह चुके ॥ २२ ॥

१–इससे यह भी समझ लेना चाहिये कि शूद्रोंको ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्योंके समान केवल श्रावकधर्मके पालन करनेका तथा जैनधर्मके सुननेका अधिकार दिया है। ब्राह्मणादिके समान उनके संस्कार नहीं होते हैं इसलिये उनके और द्विजोंके साथ पंक्ति भोजन तथा कन्यादान आदिका व्यवहार नहीं होता। प्रत्येक धर्म साधारण हैं उन्हें प्रत्येक जीव धारण कर सकता है चाहे वह ब्राह्मण हो चाहे चांडाल और चाहे पशुपक्षी हो। पंक्तिभोजन और कन्यादान आदिका संबंध जातिके साथ है। धर्मशास्त्रके अनुसार जिन जिन जातियोंका जिन जिन जातियोंके साथ पंक्तिभोजन आदिका व्यवहार कहा है उन्हींके साथ हो सकता है अन्यके साथ नहीं, क्योंकि वह सर्वसाधारण नहीं है। पंक्तिभोजनादिका संबंध जातिके साथ है धर्मके साथ उसका कोई संबंध नहीं है तथा धर्मको भी जातिके साथ कोई संबंध नहीं है। जिस वैष्णवधर्मको ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य पालन करते है उसीको चांडाल भी पालता है परंतु चांडालके साथ ब्राह्मणादिका पंक्तिभोजन वा कन्यादानका व्य-

आगे—पढना, पूजन करना और दान देना ये ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्योंके समान धर्म हैं परंतु पढाना पूजन कराना और दान लेना ये ब्राह्मणोंके ही विशेष काम हैं इसी विषयको कहनेकेलिये आगेके प्रकरणका प्रारंभ करते हैं और प्रथम ही पूजनादि करनेकेलिये पाक्षिक श्रावकको प्रेरणा करते हैं—

यजेत देवं सेवेत गुरून्यात्राणि तर्पयेत्।
कर्म धर्म्यं यशस्यं च यथालोकं सदा चरेत् ॥२३॥

अर्थ—श्रावकको इंद्रादि देवोंके द्वारा पूज्य ऐसे परमात्मा वीतराग सर्वज्ञदेवकी प्रतिदिन पूजा करना चाहिये, धर्माचार्य आदि दिगंबर मुनियोंकी उपासना सेवा सदा करनी चाहिये, पूज्य मोक्षमार्गमें तल्लीन हुये ऐसे उत्तम मध्यम जघन्य पात्रोंमेंसे किसीको तृप्त करना चाहिये अर्थात् प्रतिदिन पात्रदान देना चाहिये, तथा "अपने आश्रित लोगोंको खिलाकर खाना, रात्रिभोजन नहीं करना आदि कार्य जिनमें दया प्रधान है जो धर्मकार्य कहलाते हैं और यश बढानेवाले हैं ऐसे कार्य भी अवश्य करने चाहिये। 'च' शब्दसे यह सूचित होता है कि

वहार नहीं हो सकता। इसी तरह शूद्र भी केवल श्रावकधर्म पालन कर सकता है, द्विजोंके समान वह यज्ञोपवीत आदि संस्कार तथा उनके साथ पंक्तिभोजन आदि व्यवहार नहीं कर सकता। ऐसे लौकिक व्यवहार वह उन्हींके साथ कर सकता हैं कि जिनके साथ उसकी जातिके व्यवहार होते वा हो सकते हों चाहे वे किसीधर्मका पालन करनेवाले हों।

धर्मकार्य अवश्य करने चाहिये, और यदि उन्हीं धर्मकार्योंसे यश बढता हो तो वह कार्य स्वयं कल्याण करनेवाला है, उसे करना ही चाहिये अथवा जो आवश्यक बातें इस श्लोकमें नहीं कहीं हैं उनका ग्रहण भी 'च' शब्दसे होता है। जैसे ब्रह्म-मुहूर्तमें अर्थात् सूर्योदयसे दो घडी पहिले उठना, शौच जाना, दतौन करना, स्नान करना आदि जो आरोग्य बढानेवाले आयुर्वेदमें प्रसिद्ध हैं वे कार्य प्रतिदिन करना चाहिये। ये सब कार्य लोकानुसार करने चाहिये अथवा अरहंतदेवके उपदेशके अनुसार संध्यावंदन आदि कार्योंको नित्य करना चाहिये ॥ २३ ॥

आगे-अठारह श्लोकोंमें जिनपूजाको विस्तार रीतिसे लिखते है-

यथाशक्ति यजेतार्हद्देवं नित्यमहादिभिः ।
संकल्पतोऽपि तं यष्टा भेकवत्स्वर्महीयते ॥ २४ ॥

अर्थ-प्रत्येक मनुष्यको अपनी पूर्ण शक्तिके अनुसार नित्यमह आदि यज्ञोंके द्वारा श्री अरहंतदेवकी पूजा करनी

१. दानं पूजा जिनैः शीलमुपवासश्चतुर्विधः । श्रावकाणांः मतो धर्मः संसारारण्यपावकः ॥ अर्थ—दान, पूजा, शील और उपवास यह जो जिनेंद्रदेवका कहा हुआ चार प्रकारका श्रावकोंका धर्म है वह दुःखमय संसार वनको जलानेकेलिये अग्निके समान है।

आराध्यंते जिनेंद्रा गुरुषु च विनतिर्धार्मिके प्रीतिरुच्चैः । पात्रेभ्यो दानमापन्निहतजनकृते तच्च कारूण्यबुध्द्या ॥ तत्त्वाभ्यासः

चाहिये । क्योंकि अब मुझे जिनपूजा करनी चाहिये ऐसे संकल्प करनेमात्रसे जिनपूजा करनेवाला जीव राजग्रह नगरके शेठके जीव मेंडकके समान स्वर्गलोकमें भी पूज्य होता है। अपि शब्दसे यह सूचित होता है कि जब मेंडक ऐसे तिर्यंच जीव केवल जिनपूजाका संकल्प करनेसे ही स्वर्गमें भी पूज्य हुआ तब जो मनुष्य अपने शरीरसे अष्ट द्रव्य लेकर तथा बचनोंसे अनेक तरहके स्तोत्र पढकर भगवानकी पूजा स्तुति करता है उसकी महिमा कौन बर्णन कर सकता है ? अभिप्राय यह है कि मनुष्यमें ज्ञान आदि गुणोंकी योग्यता सबसे अधिक है, जब मेंडक ऐसा तिर्यंच ही पूजाके संकल्पमात्रसे उत्तम देव हुआ तो जो मनुष्य मन वचन कायसे अष्ट द्रव्य लेकर भगवानकी पूजा करता है उसकी क्या बात है, उसे सबसे अधिक सुख मिलना ही चाहिये और मिलता ही है ॥ २४ ॥

स्वकीयव्रतरतिरमलं दर्शनं यत्र पूज्यं । तद्गार्हस्थ्यं बुधानामितरदिह पुनर्दुःखदो मोहपाशः॥ अर्थ—जिनेंद्रदेवकी आराधना, गुरुके समीप बिनय, धर्मात्मा लोगोंपर प्रेम, सत्पात्रोंको दान, बिपत्तिमें फंसेहुये लोगोंका करुणा बुद्धिसे दुःख दूर करना, तत्त्वोंका अभ्यास, अपने व्रतोंमें लीन होना, और निर्मल सम्यग्दर्शनका होना ये सब क्रियायें जहां मन बचन कायसे चलती हैं वही गृहस्थधर्म वा गृहस्थपना विद्वानोंको मान्य है और जहांपर ये क्रियायें नहीं हैं वह गृहस्थपना इस लोक और परलोक दोनोंमें दुःख देनेवाला केवल मोहका जाल है।

आगे—नित्यमहको कहते हैं-

> प्रोक्तो नित्यमहोऽन्वहं निजगृहान्नीतेन गंधादिना
> पूजा चैत्यगृहेऽर्हतः स्वाविभवाच्चैत्यादिनिर्मापणं ।
> भक्त्या ग्रामगृहादिशासनविधादानं त्रिसंध्याश्रया
> सेवा स्वेऽपि गृहेऽर्चनं च यमिनां नित्यप्रदानानुगं॥२५॥

अर्थ—प्रतिदिन अपने घरसे गंध पुष्प अक्षत आदि पूजाकी सामग्री ले जाकर जिनमंदिरमें अरहंतदेवकी पूजा करना, अपना धन खर्चकर जिनबिंब अथवा जिनमंदिर बनवाना, जिनमंदिर तथा पाठशाला आदिमें पूजा स्वाध्याय तथा अध्ययन आदिके लिये भक्तिपूर्वक राजनीतिके अनुसार सनदपत्र आदि लिखकर अथवा रजिष्टर्ड कराकर गांव घर खेत दुकान आदि देना[1] अपने घर अथवा जिनमंदिरमें सवेरे दोपहर और शामको

१. यदि यहांपर कोई ऐसी शंका करे कि मंदिरके लिये खेत आदि देनेमें पापबंध होता है क्योंकि खेतके जोतने बोनेमें हिंसा होती है इसलिये खेतका देना हिंसादान है । परंतु ऐसे कहनेवालेको यह विचार करलेना चाहिये कि मंदिरके लिये जो खेत आदि देनेमें पापबंध होता है वह किसको होता है ! क्या मंदिरके स्वामी तीर्थंकरको होता है या देनेवालेको ! तीर्थंकरको हो नहीं सकता क्योंकि वे रागद्वेषरहित हैं निस्पृह हैं, उनके लिये देना न देना समान है और न वे ग्रहण करते हैं न उनके किसी काममें आता है इसलिये उन्हें किसीतरह पापबंध नहीं हो सकता । इसीतरह देनेवालेको भी पापबंध नहीं हो सकता क्योंकि उस खेत आदिके दे चुकनेपर फिर वह उसका स्वामी नहीं है

तीनों समय नित्य अरहंतदेवकी आराधना करना और संयमी मुनियोंको प्रतिदिन आहारदान आदि देकर उनकी पूजा करना यह सब अलग अलग नित्यमह कहलाता है ॥२५॥

उसके साथ फिर उसका कोई संबंध नहीं है, विना स्वामीसंबंधके उस संबंधी हिंसा आदि पाप किसीको नहीं लग सकते। यदि विना संबंधके भी पाप लग सकते हों तो मुनियोंको भी संसारमात्रकी हिंसाके पाप लगने चाहिये। यह अवश्य है कि खेतके जोतने बोनेमें हिंसा होती है परंतु यदि जिनमंदिरमे न देकर वह भूमि गृहस्थके भोगोपभोगके काम आती तो कहना चाहिये कि हिंसा आदि पापसे उत्पन्न हुआ धन फिर भी पापकार्यमें लगाया गया! यदि वही भूमि या खेत जिनमंदिरमें दे दिया जाय तो उससे पापकार्य न होकर फिर पुण्यकार्य होने लगे। जिस गृहस्थके जिस भूमिका धन भोगोपभोगमें लगनेसे पाप होता था उसी धनके जिनमंदिरमें लगनेसे जो बड़ा भारी पुण्य होता है उसका भागीदार वही गृहस्थ होता है कि जिसने वह भूमि दी है। **भूमिधन अटल धन है**। सोना चांदी रुपये आदिक नष्ट हो सकते हैं, चोरी जा सकते हैं, जल सकते हैं, परंतु भूमिधन कभी नष्ट नहीं होता कभी जल नही सकता। जबतक उस मंदिरकी सत्ता रहेगी तबतक उसकी रक्षाका अटल और निर्विघ्न उपाय **भूमिधन है**। जहांपर मंदिरोकी रक्षाके लिये भूमि देना प्रचलित है ऐसे कर्नाटक आदि देशोमें हजारों वर्षोंके जिनमंदिर अभीतक सुरक्षित हैं उनका प्रक्षाल पूजन आदि निर्विघ्न होता रहता है। इसलिये जिन-मंदिर पाठशाला आदिकी यावज्जीव अटल रक्षा करनेके लिये उसके लिये खेत आदि भूमिका देना ही सबसे अच्छा उपाय है।

आगे—आष्टाह्निक और ऐंद्रध्वजको कहते हैं—

जिनार्चा क्रियते भव्यैर्या नंदीश्वरपर्वणि।
अष्टाह्निकोऽसौ सेंद्राद्यैः साध्या त्वैंद्रध्वजो महः ॥ २६ ॥

अर्थ—नंदीश्वर पर्वके दिनोंमें अर्थात् प्रतिवर्ष असाढ कार्तिक और फाल्गुन महीनेके शुक्लपक्षकी अष्टमीसे पौर्णिमा तक अंतके आठ दिनोंमें जो अनेक भव्यजन मिलकर अरहंतदेवकी पूजा करते हैं उसे आष्टाह्निक मह कहते हैं। तथा जो इंद्र प्रतींद्र और सामानिक आदि देवोंके द्वारा एक विशेष जिनपूजा की जाती है उसे ऐंद्रध्वजमह कहते हैं ऐसा आचार्योंने कहा है ॥ २६ ॥

आगे—महामहको कहते हैं—

भक्त्या मुकुटबद्धैर्या जिनपूजा विधीयते।
तदाख्याः सर्वतोभद्रचतुर्मुखमहामहाः ॥ २७ ॥

अर्थ—अनेक शूरवीर आदि लोगोंने जिनपर मुकुट बांधा हो उन्हें मुकुटबद्ध राजा कहते हैं ऐसे मुकुटबद्ध राजाओंके द्वारा भक्तिपूर्वक जो जिनपूजा की जाती है उसे चतुर्मुख, सर्वतोभद्र अथवा महामह कहते हैं। यह यज्ञ प्राणीमात्रका कल्याण करनेवाला है इसलिये इसका नाम सर्वतोभद्र है, चतुर्मुख अर्थात् चार दरवाजेवाले मंडपमें किया जाता है इसलिये चतुर्मुख कहलाता है और अष्टाह्निककी अपेक्षा बडा है इसलिये इसे महामह कहते हैं। इसप्रकार इसके तीनों ही नाम

सार्थक हैं। मुकुटबद्ध राजा लोग भक्तिपूर्वक ही इसे करते हैं, चक्रवर्तीकी आज्ञा अथवा भयसे नहीं। यह यज्ञ भी कल्पवृक्षके समान है, अंतर केवल इतना है कि कल्पवृक्ष यज्ञमें संसारभरको इच्छानुसार दान आदि दिया जाता है और इस यज्ञमें केवल उस मुकुटबद्ध राजाके स्वाधीन देशमें ही दानादि दिया जाता है ॥२७॥

आगे—कल्पवृक्ष यज्ञको कहते हैं—

किमिच्छकेन दानेन जगदाशाः प्रपूर्य यः।
चक्रिभिः क्रियते सोऽर्हद्यज्ञः कल्पद्रुमो मतः ॥२८॥

अर्थ—याचकोंकी इच्छानुसार संसारभरके लोगोंके मनोरथोंको पूर्णकर चक्रवर्ती राजाओंके द्वारा जो अरंहतदेवकी पूजा की जाती है उसे कल्पवृक्षमह कहते हैं। यही आचार्योंकी संमति है। भावार्थ—तुमको क्या चाहिये? तुम्हारी क्या इच्छा है? इच्छा हो सो लीजिये इसप्रकार प्रेमपूर्वक पूछकर सबकी इच्छा पूर्णकर चक्रवर्ती जो जिनपूजा करता है उसे कल्पवृक्षमह कहते हैं। (जिसप्रकार कल्पवृक्षसे लोगोंकी सब इच्छायें पूर्ण होती हैं उसीप्रकार इस यज्ञसे भी सब याचकोंकी इच्छायें पूर्ण हो जाती हैं इसलिये ही इसका नाम कल्पवृक्षयज्ञ है ॥२८॥

आगे—बलि स्नपन आदि विशेष पूजायें सब नित्यमहादिकोंमें ही अंतर्भूत हैं ऐसा दिखलाते हैं—

बलिस्नपननाट्यादि नित्यं नैमित्तिकं च यत् ।
भक्ताः कुर्वीति तेष्वेव तद्यथास्वं विकल्पयेत् ॥२९॥

अर्थ—भक्तजन लोग जो नित्य अथवा किसी पर्वके दिन जो बलि अर्थात् नैवेद्य आदि भेट अथवा पूजनकी सामग्री, अभिषेक, नृत्य, गाना, बजाना, प्रतिष्ठा, रथयात्रा आदि करते हैं उन सबका समावेश यथायोग्य उन ऊपर लिखे यज्ञोंमें ही करना चाहिये । भावार्थ— अभिषेक आदि ऊपर कहे हुये पूजन सब नित्यमह आदि यज्ञोंके ही भेद हैं ॥२९॥

आगे–जल आदि द्रव्योंसे होनेवाली प्रत्येक पूजाका फल कहते हैं–

वार्धारा रजसः शमाय पदयोः सम्यक्प्रयुक्तार्हतः
सद्गंधस्तनुसौरभाय विभवाच्छेदाय संत्यक्षताः ।
यष्टुः स्रग्दिविजस्रजे चरुरुमास्वाम्याय दीपस्त्विषे
धूपो विश्वदृगुत्सवाय फलमिष्टार्थाय चार्घाय सः ॥३०॥

अर्थ–शास्त्रोंमें कही हुई विधिके अनुसार श्री जिनेंद्रदेवके चरणकमलोंमें अर्पण की हुई जलधारा पापोंको शांत कर देती है अथवा ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मोंको शांत कर देती है । भावार्थ– अरहंतदेवके चरणकमलोंको जल चढानेसे सब पाप नष्ट हो जाते हैं अथवा ज्ञानावरण दर्शनावरण कर्म नष्ट हो जाते हैं । तथा श्री जिनेंद्रदेवके चरणकमलोंमें विधिपूर्वक गंध (चंदन) चढानेसे चढानेवालेका शरीर सुगंधित

हो जाता है। विधिपूर्वक अखंड अक्षतोंके द्वारा पूजा करनेसे पूजा करनेवालेका ऐश्वर्य तथा अणिमा महिमा आदि विभूति निरंतर बनी रहती है। श्री अरहंतदेवके चरणकमलोंमें विधिपूर्वक पुष्पमाला चढानेसे चढानेवालेको स्वर्गमें कल्पवृक्षोंकी मालायें प्राप्त होती हैं। विधिपूर्वक नैवेद्यसे पूजा करनेवाला अनंत लक्ष्मीका स्वामी होता है। विधिपूर्वक दीपकी आरति करनेवालेकी कांति बढ जाती है। अरहंतदेवके चरणकमलोंमें विधिपूर्वक धूप चढानेसे परम सौभाग्यकी प्राप्ति होती है, अनार बिजोरा आदि फल चढानेसे पूजा करनेवालेको इच्छानुसार फलकी प्राप्ति होती है और विधिपूर्वक अर्घ अर्थात् पुष्पांजलि चढानेसे पूजा करनेवालेको विशेष आदर सत्कारकी प्राप्ति होती है अथवा वह संसारमें पूज्य माना जाता है। अथवा पूजा करनेवालेको गाना बजाना नृत्य करना आदि जो जो अच्छा लगता है उसीसे विधिपूर्वक श्री जिनेंद्रदेवकी पूजा करनेसे उस मनुष्यको उसी वस्तुकी प्राप्ति होती है। अभिप्राय यह है कि जिस किसी उत्तम वस्तुसे विधिपूर्वक जिनेंद्रदेवकी पूजा की जाती है पूजा करनेवालेको वैसी ही उत्तम उत्तम वस्तुओंकी प्राप्ति होती है। भगवानकी की हुई पूजा कभी निष्फल नहीं होती ॥३०॥

आगे—श्री जिनेंद्रदेवकी पूजाकी उत्तम विधि और उससे होनेवाले लोकोत्तर विशेष फलको कहते हैं—

चैत्यादौ न्यस्य शुद्धे निरुपरमनिरौपम्यतत्तद्गुणौघ-
श्रद्धानात्सोऽयमर्हन्निति जिनमनघैस्तद्विधोपाधिसिद्धैः
नीराद्यैश्चारुकाव्यस्फुरदनणुगुणग्रामरज्यन्मनोभि-
र्भव्योऽर्चन् दृग्विशुद्धिं प्रबलयतु यया कल्पते तत्पदाय ॥३१॥

अर्थ—अरहंतदेवमें अनेक असाधारण गुण हैं जो कभी नाश नहीं होते और न संसारमें जिनकी कुछ उपमा है जैसे व्यवहार नयसे जिनमें दर्शनविशुद्धि आदिकी भावनायें मुख्य है ऐसे पंचकल्याणक गुण हैं और निश्चयनयसे चैतन्य अचैतन्य आदि पदार्थोंके आकाररूप परिणत होना अर्थात् उन सब पदार्थोंका जानना आदि हैं। भव्य जीवको प्रथम ही इन सब गुणोंके समूहमें श्रद्धान वा अनुराग अथवा प्रेम करना चाहिये, और फिर वह रुद्र आदिके आकारसे रहित शुद्ध निर्दोष प्रतिमामें अथवा आदि शब्दसे प्रतिमा न मिलनेपर जिनेंद्रदेवके आकारसे रहित ऐसे अक्षत आदिकोंमें भी श्री जिनेंद्रदेवकी स्थापना कर अर्थात् "उत्सर्पिणीके तृतीय और अवसर्पिणीके चतुर्थकालमें जो अरहंतदेव चौंतीस अतिशय अष्ट महाप्रातिहार्य और अनंत चतुष्टयसहित समवसरणमें विराजमान होकर तत्त्वोंका उपदेश देते हुये भव्य जीवोंको पवित्र करते थे, ये वे ही अरहंत देव हैं" इसप्रकार नाम स्थापना द्रव्य भावके द्वारा स्थापना करे अर्थात् उस प्रतिमामें अथवा अक्षत आदिकोंमें अरहंतदेवको साक्षात् मानें और फिर जो काव्य शब्द और अर्थोंके दोषोंसे रहित है

जिसमें माधुर्य आदि गुण हैं उपमा आदि अलंकार हैं और इसलिये ही जो काव्य जाननेवाले रसिक लोगोंके चित्तको प्रसन्न करनेवाला है तथा जिसमें लोकोत्तर वर्णन है ऐसे गद्यपद्यमय रमणीय काव्योंके द्वारा जिस जल चंदन आदि सामग्रीके स्वाभाविक निर्मलता और सुगंधि आदि बडे बडे गुणोंके समुदाय भव्य लोगोंके चित्तमें चमत्कार उत्पन्न कर रहे हैं अर्थात् ऐसे उत्तम काव्योंके द्वारा जिसकी प्रशंसा गाई जा रही है और इसलिये ही उन भव्य लोगोंके चित्त जिस जल चंदन आदि सामग्रीमें जबर्दस्ती लग रहे हैं तथा जो जल चंदन आदि सामग्री हठपूर्वक नहीं लाई गई है, चित्तको मलिन करनेवाली नहीं है, अपने तथा अन्य किसी [1]पुरुषके खानेके बादकी बची हुई नहीं है और भी कोई पाप उत्पन्न करनेवाले दोष जिसमें नहीं है और पापरहित कारणोंसे तैयार की गई है ऐसी जल चंदन आदि सामग्रीसे श्री जिनेंद्रदेवकी पूजा करते हुये भव्यजन शंकादि दोषोंसे रहित ऐसे तत्त्वोंके श्रद्धान करनेरूप विशुद्ध सम्यग्दर्शनको और भी दृढ करें अर्थात् उस विशुद्ध सम्यग्दर्शनको इतना मजबूत करलें कि जिससे वह अपना उत्कृष्ट फल दे सके, और उसी मजबूत किये हुये विशुद्ध सम्यग्दर्शनसे वह भव्य तीर्थंकर पदवीको प्राप्त हो जाय। क्योंकि यह

१ जो सामग्री किसी अन्य देवतापर चढी हुई है वह भी नहीं चढाना चाहिये।

प्रसिद्ध ही है कि उत्कृष्ट विशुद्ध सम्यग्दर्शन यदि अकेला भी हो तो भी उस एकसे ही अतिशय पुण्यस्वरूप तीर्थंकर प्रकृतिका बंध हो जाता है। अभिप्राय यह है कि अरहंतके गुणोंमें अनुराग रखकर तदाकार वा अतदाकार प्रतिमामें उन अरहंतदेवका स्थापन करना चाहिये और फिर जल चंदन आदि उत्तम सामग्रीसे मनोहर काव्य पढते हुये उनकी ऐसी पूजा करनी चाहिये कि जिससे उन भव्य जीवोंका विशुद्ध सम्यग्दर्शन और भी मजबूत हो जाय और उससे उसे तीर्थंकर पद मिल जाय ॥ ३१ ॥

आगे—अहिंसादि अणुव्रतोंको पालन करनेवाले ऐसे जिनेंद्रदेवकी पूजा करनेवाले भव्य जीवोंको इच्छानुसार विशेष फलकी प्राप्ति होती है ऐसा कहते हैं—

हक्पूतमपि यष्टारमर्हतोऽभ्युदयश्रियः ।
श्रयंत्यहंपूर्विकया किं पुनर्व्रतभूषितं ॥३२॥

अर्थ—ग्रंथकार अपि शब्दसे आश्चर्य प्रगट करते हैं अर्थात् आश्चर्य दिखलाते हुये कहते हैं कि जो केवल सम्यग्दर्शनसे ही विशुद्ध है मूलगुण उत्तरगुणोंसे रहित हैं ऐसे अरहंतदेवकी पूजा करनेवाले श्रावकोंको बडप्पन, आज्ञा, ऐश्वर्य, बल, परिवार और भोगोपभोग आदि संपदायें " पहिले मैं प्राप्त होऊं, पहिले मैं प्राप्त होऊं " इसप्रकार परस्पर ईर्षा करती हुई बहुत शीघ्र प्राप्त हो जाती हैं तब फिर जो सम्यग्दर्शनसे पवित्र हैं और

अहिंसादि व्रतरूप अलंकारोंसे भूषित हैं ऐसे जिनेंद्रदेवकी पूजा करनेवाले श्रावकोंको उन संपत्तियोंके प्राप्त होनेका क्या ठिकाना है उन्हें तो वे संपदायें विशेष रूपसे अवश्य मिलती हैं ॥३२॥

आगे—जिनपूजामें विघ्न न आनेका उपाय बतलाते हैं—

यथास्वं दानमानाद्यैः सुखीकृत्य विधार्मिणः ।
सधर्मणः स्वसात्कृत्य सिध्यर्थी यजतां जिनं ॥३३॥

अर्थ—जिसकी ऐसी इच्छा है कि जिनपूजा निर्विघ्न समाप्त हो अथवा शुद्ध आत्माकी प्राप्ति हो ऐसे भव्य पुरुषोंको उचित है कि वह प्रथम ही शैव वैष्णव आदि विधर्मी लोगोंको अथवा सब धर्मोंसे विमुख लोगोंको यथायोग्य धनादिक देकर, उनका आदर सत्कार कर, उनके आनेपर खडे होना, उनके पीछे चलना, आसन देना आदि समयानुसार आदर सत्कारसे उन्हें सुख देकर अनुकूल करे, और फिर सहधर्मी अर्थात् जैनियोंको अपने स्वाधिन कर जिनपूजा करावे । अभिप्राय यह है कि जिनपूजा रथयात्रा आदिमें विघ्न करनेवाले प्रायः विधर्मी लोग ही होते हैं इसलिये जिसतिसतरहसे पहिले उनको प्रसन्न करना चाहिये तथा सहधर्मियोंको भी अपनेमें शामिल कर लेना चाहिये ऐसा करनेसे दैवी विघ्नके सिवाय कोई लौकिक विघ्न नहीं आ सकते ॥३३॥

आगे—[1]स्नानकर शरीर शुद्धकर जिनपूजा करनी

१—नित्यं स्नानं गृहस्थस्य देवार्चनपरिग्रहे । यतेस्तु दुर्जनस्पर्शात्स्नानमन्याद्विगर्हितं ॥ अर्थ—जिनपूजा आदि करनेके लिये

चाहिये तथा जिसने स्नान नहीं किया है उसे स्नान किये हुये किसी अन्यसे पूजा करानी चाहिये ऐसा कहते हैं--

स्त्र्यारंभसेवासंक्लिष्टः स्नात्वाऽऽकंठमथाशिरः।
स्वयं यजेतार्हत्पादानस्नातोऽन्येन याजयेत् ॥३४॥

अर्थ—जो मनुष्य स्त्रीसमागम, खेती, व्यापार आदि आजीविकाके उपायोंसे थका हुआ है अर्थात् इन कामोंसे जिसके

गृहस्थको नित्य स्नान करना चाहिये और मुनिको दुर्जन अर्थात् स्पर्श न करनेयोग्य ऐसे चांडाल आदि शूद्रोंके स्पर्श हो जानेपर स्नान करना चाहिए। विना दुर्जनके स्पर्श हुये स्नान करना मुनिके लिये निंद्य है।

वातातपादिसंस्पृष्टे भूरितोये जलाशये। अवगाह्याचरेत्स्नानमतोऽन्यद्गालितं भजेत् ॥ अर्थ—जिस जलाशयमें पानी बहुत हो और उसपरसे भारी पवनका (हवाका) झकोरा निकल गया हो अथवा उसपर धूप पड रही हो तो उसमें अवगाहन करके अर्थात् डुबकी मारकर गृहस्थको स्नान करना चाहिये और जो ऐसा जलाशय न मिले तो फिर छने हुये पानीसे स्नान करना चाहिये।

पादजानुकटिग्रीवाशिरःपर्यंतसंश्रयं। स्नानं पंचविधं ज्ञेयं यथादोषं शरीरिणां ॥ अर्थ—केवल पैर धो लेना, घुटनेतक धोना, कमरतक धोना, कंठतक शरीर धो डालना और शिरतक स्नान करना इसप्रकार स्नान पांच प्रकारका है। उनमेंसे प्राणियोंको जिस दोषकेलिये जैसा स्नान उचित हो वही करना चाहिये।

ब्रह्मचर्योपपन्नस्य निवृत्तारंभकर्मणः। यद्वातद्वा भवेत्स्नानमंत्यमन्यस्य तु द्वयं ॥ अर्थ—जो ब्रह्मचारी हैं और जिन्होंने खेती व्यापार

शरीर और मनमें संताप हो रहा है जिसका शरीर और मन पसीना, तंद्रा आलस्य और मनकी चंचलता आदि दोषोंसे

आदि आरंभकर्म छोड दिये हैं उन्हें इन पांचोंमेंसे इच्छानुसार कोई भी स्नान कर लेना चाहिये परंतु जो गृहस्थ हैं, खेती व्यापार आदि आरंभकर्म करते हैं उन्हें कंठतक अथवा शिरपर्यंत ये दो ही स्नान करना चाहिये।

सर्वारंभाविजृंभस्य ब्रह्माजिह्मस्य देहिनः। अविधाय बहिःशुद्धिं नाप्तोपास्त्यधिकारिता ॥ अर्थ–जो खेती आदि सबतरहके आरंभ करता हैं और जो स्त्री सहित गृहस्थ है उसका अंतरंग शुद्ध होनेपर भी बाह्य शुद्धि अर्थात् स्नान आदिके विना उसे जिनपूजा करनेका अधिकार नहीं है।

आप्लुतः संप्लुतश्चांतः शुचिवासोविभूषितः। मौनसंयमसंपन्नः कुर्याद्देवार्चनाविधिं ॥ अर्थ–प्रथम ही शुद्ध जलसे स्नान करना चाहिये फिर मंत्रपूर्वक आचमन आदिसे अंतःकरणकी शुद्धि करनी चाहिये और फिर शुद्ध वस्त्रोंसे सुशोभित होकर मौन और संयम धारण कर भव्य पुरुषको विधिपूर्वक देवपूजा करनी चाहिये।

दंतधावनशुद्धास्यो मुखवासोचृताननः। असंजातान्यसंसर्गः सुधीर्देवानुपाचरेत् ॥ अर्थ–प्रथम ही शौचादिकसे आकर हाथ पैर धोकर दतौन (नीम बबूल आदिकी १२ अंगुल लंबी छोटी उंगलीके समान मोटी लकडीसे) करना चाहिये, फिर मुखशुद्धि (कुरले) कर स्नान करना चाहिये, फिर डुपट्टेसे मुख ढककर अपवित्र मनुष्य अथवा अपवित्र पदार्थके स्पर्शसे बचते हुये विद्वान् पुरुषको अरहंतदेवकी पूजा करनी चाहिये।

दूषित हो रहा है ऐसे भक्तपुरुषको[1] अपने अपने दोषके अनुसार कंठपर्यंत अथवा शिरपर्यंत स्नानकर पवित्र होकर [स्वयं श्री जिनेंद्रदेवके चरणकमलोंकी पूजा करनी चाहिये। यदि कारणवश वह स्नान न कर सके तो उस भक्त गृहस्थको किसी अपने साथीको, साथ पढनेवालेको अथवा किसी सहधर्मीको (जैनीको) स्नानकराकर उससे पूजा करानी चाहिये। अभिप्राय यह है कि गृहस्थको विना स्नान किये पूजा करनेका अधिकार नहीं है॥ ३४॥

आगे—जिनप्रतिमा और जिनमंदिर आदिके बनानेमें विशेष फल होता है ऐसा कहते हुये उनके बनानेका समर्थन करते हैं—

निर्माप्यं जिनचैत्यतद्गृहमठस्वाध्यायशालादिकं
श्रद्धाशक्त्यनुरूपमस्ति महते धर्मानुबंधाय यत्।
हिंसारंभविवर्तिनां हि गृहिणां तत्तादृगालंबन-
प्रागल्भीलसदाभिमानिकरसं स्यात्पुण्यचिन्मानसं ॥३५॥

अर्थ—पाक्षिक श्रावकको अपनी श्रद्धा और सामर्थ्यके अनुसार जिनबिंब, जिनमंदिर, मठ, पाठशाला, स्वाध्याय-शाला आदि धर्मायतन (धर्मके स्थान) [2]बनवाने चाहिये।

१—इससे यह भी सिद्ध होता है कि स्नान करनेसे और मनके संताप पसीना तंद्रा आलस्य और खेद आदि दोष सब दूर हो जाते हैं तथा शरीर और मन शुद्ध हो जाता है। दतौन करनेसे मुह शुद्ध हो जाता है।

२—यद्यप्यारंभतो हिंसा हिंसायाः पापसंभवः। तथाप्यत्र कृतारंभो महत्पुण्यं समश्नुते ॥ अर्थ—यद्यपि आरंभ करनेसे हिंसा होती है

क्योंकि उनके बनवानेसे बडा भारी धर्मानुबंध होता है अर्थात् जिसे धर्मका लाभ नहीं है उसे धर्मका लाभ होता है, जिसे लाभ हुआ है उसके धर्मकी रक्षा होती है और जिस धर्मकी रक्षा हो रही है उसकी वृद्धि होती है। ये सब काम जिनमंदिर आदि धर्मायतनोंसे ही होते हैं तथा इन्हीं धर्मायतनोंसे जिनमें प्रायः हिंसा होती है ऐसे खेती व्यापार आदि आरंभोंमें निरंतर लगे रहनेवाले गृहस्थोंका मन पुण्यको बढानेवाला और पवित्र निर्मल चैतन्यरूप ज्ञानको प्रगट करनेवाला होता है। अर्थात् खेती व्यापार आदि करनेवाले गृहस्थ भी जिनमंदिर आदि धर्मायतनोंसे ही अपना पुण्य बढासकते हैं अथवा अपना निर्मल ज्ञान प्रगट कर सकते हैं। इसके सिवाय जिनमंदिर स्वाध्याय-शाला आदि तथा इन्हींके समान तीर्थयात्रा आदि जो जो सम्यग्दर्शनको विशुद्ध करनेवाले साधन है, उनकी दृढता वा मजबूती होनेसे चित्तमें अहंकारसे आत्मगौरवसे भरा हुआ

और हिंसासे पाप उत्पन्न होता है तथापि जिनमंदिर पाठशाला स्वाध्यायशाला आदिके बनवानेमें मिट्टी पत्थर पानी लकडी आदिके इकट्ठे करनेसे आरंभ करनेवाला पुरुष महा पुण्यका अधिकारी होता है।

निरालंबनधर्मस्य स्थितिर्यस्मात्ततः सतां। मुक्तिप्रासादसोपान-मात्तैरुक्तो जिनालयः॥ अर्थ—जिन जिनमंदिरोंमें आधाररहित धर्मकी स्थिति बनी हुई है इसलिये वे जिनमंदिर सज्जनपुरुषोंको मोक्षरूपी महलपर चढनेकेलिये सीढीके समान हैं ऐसा जिनेंद्रदेवने कहा है।

एक प्रकारका हर्ष प्रगट होता है। अभिप्राय यह है कि जिन मंदिर स्वाध्यायशाला आदि बनवानेसे धर्मकी रक्षा और वृद्धि होती है उससे खेती व्यापार आदि हिंसारूप आरंभ करनेवाले भी पुण्य इकठा करलेते हैं और सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि हो जानेसे एकतरहका हर्ष बना रहता है। इस श्लोकमें धर्मानुबंधका महत् अर्थात् बडा भारी विशेषण देकर ग्रंथकारने यह दिखलाया है कि यद्यपि जिनमंदिर आदि बनवानेमें हिंसादि दोष लगते हैं परंतु वे दोष नहीं है पुण्यबंधके कारण हैं। किसी ग्रंथमें कहा भी है " तत्पापमपि न पापं यत्र महान्धर्मानुबंधः" अर्थात् वह पाप भी पाप नहीं है कि जिसमें बडा भारी धर्मानुबंध हो ॥ ३५ ॥

आगे—इस कलिकालमें प्रायः विद्वान् पुरुषोंका चित्त भी जिनप्रतिमाके देखनेसे ही जिनेंद्रदेवकी सेवा पूजा करनेमें तत्पर होता है इसलिये इस कलिकालको धिक्कार देते है—

धिग्दुःषमाकालरात्रिं यत्र शास्त्रदृशामपि।
चैत्यालोकादृते न स्यात्प्रायो देवविशा मतिः ॥ ३६ ॥

अर्थ—यह पंचमकाल एक प्रकारकी कालरात्रि अर्थात् मरनेकी रातके समान है क्योंकि इसमें ऐसे तीव्र मोहनीय कर्मका उदय होता है जो किसीसे निवारण नहीं किया जा सकता इसलिये इस पंचमकालको धिक्कार हो। इसे धिक्कार

देनेका भी कारण यह है कि इस कालमें जिनके शास्त्ररूपी नेत्र है ऐसे विद्वान लोगोंकी बुद्धि अर्थात् अंतःकरणकी प्रवृत्ति भी प्रायः जिनप्रतिमाके दर्शन किये विना जिनभक्ति करनेमें अर्थात् उन्हींको एकमात्र शरण मानकर पूजा सेवा करनेमें प्रवृत्त नहीं होती ? । प्रायः शब्दसे यह अभिप्राय है कि कोई कोई ज्ञान और वैराग्यभावनामें तत्पर भव्यजीव प्रतिमादर्शनके विना भी परमात्माके आराधन करनेमें लीन हो जाते हैं और अन्यलोग प्रतिमाके दर्शन करनेसे ही परमात्माका आराधन कर सकते है ॥ ३६ ॥

आगे——इस कलिकालमें जिनधर्मकी स्थिति अच्छे अच्छे जिनमंदिरोंके आधारपर ही है ऐसा कहते हैं—

प्रतिष्ठायात्रादिव्यतिकरशुभस्वैरचरण-
स्फुरद्धर्मोद्धर्षप्रसररसपूरास्तरजसः ।
कथं स्युः सागाराः श्रमणगणधर्माश्रमपदं
न यत्रार्हद्गेहं दलितकलिलीलाविलसितं ॥ ३७ ॥

अर्थ——जिसके निमित्तसे कलिकालमें होनेवाले दुष्ट लीलाके विलास अर्थात् दुष्टनीति अथवा विना किसी रोक टोकके बकनेवाले संक्लेश परिणाम नष्ट हो जाते हैं और जो मुनियोंको धर्मसेवन करनेके लिये निवासस्थान है ऐसा जिनमंदिर जिस नगर वा गांवमें नहीं है उस जगह निवास करनेवाले गृहस्थ प्रतिष्ठा, यात्रा, पूजा, अभिषेक, रथोत्सव, जागरण

आदि पुण्यकार्योंके समुदायमें जो स्वेच्छापूर्वक मनबचनकायकी शुभ प्रवृत्ति अर्थात् पुण्य बढानेवाली प्रवृत्ति होती है और उस शुभ प्रवृत्तिसे जो धर्मका उत्सव स्फुरायमान होता है तथा उस धर्मके उत्सवसे बहुतदेर तक ठहरनेवाला जो एक प्रकारका हर्ष प्रगट होता है उस हर्षरूपी जलके प्रवाहसे जिनको समस्त पापरूपी धूल नष्ट हो गई है ऐसे किसप्रकार हो सकते हैं ?

भावार्थ– जहां जिन मंदिर होता है वहांके गृहस्थ पूजा अभिषेक आदि धर्मकार्य करके सदा धर्मोत्सव करते रहते हैं जिससे उनके पुण्यका बंध होता रहता है और अशुभ कर्म नष्ट होते रहते हैं। परंतु जहां जिनमंदिर नहीं है वहांके गृहस्थ इस धर्मकार्यसे वंचित रहते हैं, इसलिये वहां न तो धर्मका उद्योत होता है और न वे गृहस्थ पुण्यबंध कर सकते हैं न अशुभ कर्म नष्ट कर सकते हैं। इसलिये धर्मकी स्थितिमें जिनमंदिर ही मुख्य कारण है ॥ ३७ ॥

आगे–इस कलिकालमें वसतिकाके विना सज्जन मुनियोंका चित्त भी स्थिर नहीं रह सकता है इसलिये उसकी आवश्यकता दिखलाते हैं–

मनो मठकठेराणां वात्ययेवानवस्थया ।
चेक्षिप्यमाणं नाद्यत्वे क्रमते धर्मकर्मसु ॥ ३८ ॥

अर्थ–जिसप्रकार वायुके समुहसे रुई इधर उधर उडती फिरती है उसीप्रकार इस कलिकालमें मठसे दरिद्र अर्थात्

जिनके रहनेका कोई एकांत स्थान नहीं है ऐसे बनमें रहनेवाले मुनियोंका चित्त भी थोडे बहुत राग द्वेषके विकाररूप परिणामोंसे बार बार चंचल होता हुआ अर्थात् इधर उधर भटकता हुआ सामायिक आदि अवश्य करनेयोग्य धर्मक्रियाओंमें उत्साह नहीं करता है। अभिप्राय यह है कि आजकल चित्तकी स्थिरता इतनी नहीं है कि जिससे मुनि बनमें रह सकें। इसलिये विना वसातिकाके उनका चित्त स्थिर नहीं रह सकता और फिर न उनसे धर्मक्रियायें ही बन सकतीं हैं इसलिये मुनियोंके लिये वसातिकायें अवश्य बनवानी चाहिये ॥ ३८ ॥

आगे—स्वाध्यायशालाके विना बडे बडे पंडितोंका शास्त्रोंका मर्मरूप तत्त्वज्ञान स्थिर नहीं रह सकता ऐसा दिखलाते हैं—

विनेयवद्विनेतॄणामपि स्वाध्यायशालया ।
विना विमर्शशून्या धीर्दृष्टेऽप्यंधायतेऽध्वनि ॥ ३९ ॥

अर्थ—पाठशाला और स्वाध्यायशालाके विना जिस प्रकार शिष्योंकी बुद्धि तत्त्वोंको नहीं जान सकती उसीप्रकार विना पाठशालाके अथवा स्वाध्यायशालाके बडे बडे पंडितोंकी बुद्धि समस्त शास्त्रोंका अभ्यास करनेपर भी निरंतर तत्त्वविचार करनेके विना शास्त्रोंमें अथवा मोक्षमार्गरूप कल्याणमार्गमें अंधी हो जाती है, अर्थात् तत्त्वोंको नहीं जान सकती, अथवा जानेहुये तत्त्वोंको भूल जाती है। भावार्थ—पाठशाला

और स्वाध्यायशालाके विना पंडित और उपाध्याय लोगोंका अभ्यास भी छूट जाता है तथा विना अभ्यासके वे पढा हुआ भी भूल जाते हैं और तत्त्वविचारमें अंध हो जाते हैं इसलिये धर्मकी रक्षाका मुख्य उपाय पाठशाला वा स्वाध्यायशाला स्थापन करना है।

तात्पर्य—यह है कि धनाढ्य पुरुषोंको जिनबिंब, जिनमंदिर, वसतिका और स्वाध्यायशाला अवश्य बनवाना चाहिये, इस कालमें ये ही कल्याण करनेवाले हैं तथा ये ही धर्मवृद्धिके मुख्य कारण हैं ॥ ३९ ॥

आगे—कृपा करने योग्य प्राणियोंपर कृपाकरके अन्नक्षेत्र और औषधालय भी खोलना चाहिये तथा अनेक आरंभ करनेवाले गृहस्थोंको जिनपूजाके लिये पुष्पवाटिका (बगीची) वगैरह बनानेमें भी कोई दोष नहीं हैं, ऐसा दिखलाते हुये कहते हैं—

सत्रमप्यनुकंप्यानां सृजेदनुजिघृक्षया।
चिकित्साशालवदुष्येन्नेज्यायै वाटिकाद्यपि ॥४०॥

अर्थ—जिन जीवोंपर अवश्य कृपा करनी चाहिये अर्थात् जो अवश्य कृपा करनेके पात्र हैं भूख प्यास और राग आदिसे दुखी हैं उनके उपकार करनेकी इच्छासे पाक्षिक श्रावकोंको औषधालय खोलना चाहिये और उसीतरह सदावर्तशाला (अन्नक्षेत्र, जहांसे नित्य अन्न दियाजाता हो) और प्याऊ (पानी

पीनेका स्थान) भी बनवाना चाहिये । तथा जिनपूजाके लिये पुष्पवाटिका (बगीची) वावडी सरोवर आदिके बनवानेमें भी कोई दोष[1] नहीं है । पहिले अपि शब्दसे प्याऊका ग्रहण किया गया है । दूसरा अपि आदर वाचक है और यह सूचित करता है कि जो जीव अपने विषयसुख सेवन करनेकेलिये खेती व्यापार आदि करते हैं वे यदि धर्मबुद्धिसे बगीची वावडी आदि बनवावें तो उनको लोकमें व्यवहारकी दृष्टिसे कोई दोष नहीं हैं तथापि जो बगीची आदि बनवाना नहीं चाहते हैं वे भी यदि द्रव्यके बदले पुष्प आदि लेकर उनसे भगवानकी पूजा करें तो भी उन्हें बडे भारी पुण्यकी प्राप्ति होती है । अभिप्राय यह है कि औषधालय, अन्नक्षेत्र खोलना, प्याऊ बनवाना और जिन-पूजामें पुष्प जल आदि चढानेके लिये बगीचा वावडी कूआ आदि बनवाना पाक्षिक श्रावकका कर्तव्य है । ॥४०॥

आगे—कपटरहित भक्तिसे किसीतरह भी जिनेंद्रदेवकी सेवा करनेवाले जीवके समस्त दुःखोंका नाश हो जाता है

१—जिनमंदिर समवसरणकी प्रतिकृति अर्थात् नकल है । जिस-प्रकार समवसरणमें पुष्पवाटिका वावडी तडाग आदि होते हैं उसीप्रकार जिनमंदिरकी सीमामें भी होने चाहिये अन्यथा एकतरहकी कमी समझी जायगी । जिनपूजनमें पुष्पोंकी आवश्यकता पडती ही है इसलिये पुष्पोंके लिये बगीचा और जलके लिये वावडी आदि बनवाना सर्वथा उचित और शास्त्रोक्त है ।

और सब जगह समस्त इष्ट संपदाओंकी तथा इच्छानुसार पदार्थोंकी प्राप्ति होती है ऐसा कहते हैं—

यथाकथंचिद्भजतां जिनं निर्व्याजचेतसां।
नश्यंति सर्वदुःखानि दिशः कामान् दुहंति च ॥४१॥

अर्थ—जो जीव छल कपट रहित भक्तिपूर्वक अभिषेक, पूजन, स्तोत्र आदि किसीतरह भी अरहंतदेवकी सेवा करते हैं उनके समस्त शरीरके और मनके संताप नष्ट हो जाते हैं और समस्त दिशायें उनके मनोरथ पूर्ण करती हैं अर्थात् छल कपट रहित भक्तिपूर्वक जिनेंद्रदेवकी पूजा करनेवालोंको जिस जिस पदार्थकी इच्छा होती है वे सब पदार्थ उन्हें सब जगह मिल जाते हैं ॥४१॥

आगे—अरहंतदेवकी पूजा तो प्रतिदिन करनी ही चाहिये परंतु अरहंतदेवकी पूजाके समान सिद्ध परमेष्ठीकी पूजा भी करनी चाहिये ऐसा उपदेश देते हैं—

जिनानिव यजन्सिद्धान् साधून् धर्मं च नंदति।
तेऽपि लोकोत्तमास्तद्वच्छरणं मंगलं च यत् ॥४२॥

अर्थ—यह जीव जिसप्रकार अरहंतदेवकी पूजा करता है उसीप्रकार यदि सिद्ध भगवानकी पूजन करे तथा मोक्षकी सिद्धिको ही सिद्ध करनेवाले साधु लोगोंकी अर्थात् सार्थक नाम होनेसे आचार्य, उपाध्याय और मुनियोंकी पूजा करे तथा व्यवहार और निश्चय इन दोनों प्रकारके रत्नत्रयरूप धर्मकी भी

पूजा करे तो वह अंतरंग और बहिरंग विभूतिसे अवश्य ही वृद्धिको प्राप्त होता है। क्योंकि सिद्ध भगवान् आचार्य उपाध्याय साधु और धर्म ये सब अरहंतदेवके समान ही लोकमें उत्कृष्ट हैं उन्हीं के समान शरण हैं अर्थात् पापोंसे रक्षा करनेवाले वा दुःख दूर करनेवाले हैं और उन्हीं अरहंतदेवके समान मंगलस्वरूप हैं अर्थात् पापोंको नष्ट करनेवाले हैं और पुण्य बढानेवाले हैं। अभिप्राय यह है कि अरहंत सिद्ध साधु और धर्म ये चारों समान हैं इनकी समान रीतिसे पूजा करनी चाहिये ॥४२॥

आगे-पूज्य पूजाविधिको प्रकाशकर सबसे बडा उपकार करनेवाला श्रुत देवता है इसलिये उसके पूजन करनेके लिये कहते हैं-

यत्प्रसादान्न जातु स्यात्पूज्यपूजाव्यतिक्रमः ।
तां पूजयेज्जगत्पूज्यां स्यात्कारोड्डमरां गिरं ॥ ४३ ॥

अर्थ-जिसके प्रसादसे पूज्य अर्थात् अरहंत सिद्ध साधु और धर्मकी पूजा करनेमें शास्त्रोक्त विधिका कभी उल्लंघन नहीं होता अर्थात् जिसके प्रसादसे पूजाकी शास्त्रानुसार विधि जानी जाती है, सब लोग जिसकी पूजा करते हैं और जो 'स्यात्' वा 'कथंचित्' शब्दके प्रयोगसे सर्वथा एकांतवादियोंसे अजेय है अर्थात् कोई जिसका उल्लंघन नहीं कर सकता ऐसी श्रुतदेवता अर्थात् जिनवाणीकी पूजा भी कल्याण चाहनेवाले पाक्षिक श्रावकोंको अवश्य करनी चाहिये ॥ ४३ ॥

आगे—जिनवाणीकी पूजा करनेवाले परमार्थसे (यथार्थमें) जिनेंद्रदेवकी ही पूजा करनेवाले हैं ऐसा उपदेश देते हैं—

ये यजंते श्रुतं भक्त्या ते यजंतेऽजसा जिनं ।
न किंचिदंतरं प्राहुराप्ता हि श्रुतदेवयोः ॥ ४४ ॥

अर्थ—जो लोग भक्तिपूर्वक श्रुतपूजा करते हैं वे परमार्थसे अर्थात् वास्तवमें जिनेंद्रदेवकी ही पूजा करते हैं । क्योंकि आचार्योंने जिनेंद्रदेव और श्रुतदेवता अर्थात् जिनवाणीमें कुछ भी अंतर नहीं कहा है । जो अरहंत देव है वही जिनवाणी है और जो जिनवाणी है वही अरहंतदेव है ऐसा समजना चाहिये ॥४॥

इसप्रकार देवपूजाकी विधि कही । अब आगे—गुरु साक्षात् उपकार करनेवाले हैं इसलिये उनकी नित्य उपासना करनी चाहिये ऐसा कहते हैं—

उपास्या गूरवो नित्यमप्रमत्तैः शिवार्थिभिः ।
तत्पक्षताक्ष्यपक्षांतश्चरा विघ्नोरगोत्तराः ॥ ४५ ॥

अर्थ—जो परम कल्याण अर्थात् मोक्षकी इच्छा करनेवाले सज्जन पुरुष हैं उनको प्रमाद छोड कर नित्य ही धर्मकी आराधना करनेकी प्रेरणा करनेवाले गुरुओंकी सेवा करनी चाहिये । क्योंकि जो पुरुष गुरुओंकी आधीनता अथवा आज्ञारूपी गरुडपक्षीके समीप

रहता है वह धर्मकार्य करनेमें आनेवाले विघ्नरूपी सर्पोंसे दूर ही रहता है। अभिप्राय यह है कि अपकार करनेसे विघ्न सर्पोंके समान हैं और उनको दूर करनेवाली गुरुकी आज्ञा वा आज्ञाके अनुसार चलना गरुडपक्षीके समान है। जो गुरुकी आज्ञानुसार चलते हैं उन्हें कभी किसी धर्मकार्यमें विघ्न नहीं आते। इसके सिवाय गुरु सदा धर्मकार्य करनेकी प्रेरणा किया करते हैं इसलिये गुरुकी उपासना वा सेवा नित्य करनी चाहिये ।४५॥

आगे—गुरुकी उपासना करनेकी विधि बतलाते हैं—

निर्व्याजया मनोवृत्त्या सानुवृत्त्या गुरोर्मनः ।
प्रविश्य राजवच्छश्वद्विनयेनानुरंजयेत् ॥४६॥

अर्थ—जिसप्रकार सेवक लोग राजाके मनको प्रसन्न किया करते हैं उसीप्रकार कल्याण चाहनेवाले श्रावकोंको दंभ और छलकपटरहित अपने चित्तकी वृत्तिसे तथा उनकी इच्छानुसार उन गुरुके अंतःकरणमें प्रवेशकर मन बचन कायकी विनयसे नित्य ही गुरुका मन प्रसन्न करना चाहिये। आते ही उनके सामने खडे हो जाना, उनके पीछे पीछे चलना आदि कायकी विनय है, हितमित वचन कहना बचनकी विनय है और उनका शुभ चिंतवन करना मनकी विनय है। इन तीनों तरहकी विनयसे गुरुका चित्त प्रसन्न करना चाहिये ॥४६॥

आगे—विनयसे गुरुका चित्त प्रसन्न करना चाहिये इसीको प्रगट कर दिखलाते हैं—

पार्श्वे गुरूणां नृपवत्प्रकृत्यभ्यधिकाः क्रियाः ।
अनिष्टाश्च त्यजेत्सर्वा मनो जातु न दूषयेत् ॥४७॥

अर्थ—जिसप्रकार राजाओंके समीप क्रोध हास्य आदि स्वभावसे अधिक क्रियायें नहीं की जातीं उसीप्रकार गुरुके समीप भी क्रोध हास्य विवाद आदि जो क्रियायें स्वभावसे अधिक अर्थात् विकारसे उत्पन्न होनेवाली हैं वे क्रियायें नहीं करनी चाहिये। इनके सिवाय गुरुके समीप जिन क्रियाओंका वा चेष्टाओंका शास्त्रोंमें निषेध किया है अर्थात् जो [1]शास्त्रविरुद्ध हैं ऐसी क्रियायें भी नहीं करनी चाहिये । ये ऊपर लिखी हुईं क्रियायें गुरुके समीप कभी नहीं करनी चाहिये यदि श्रावक रोगी वा दुःखी हो तथापि उसे भी ये क्रियायें नहीं करनी चाहिये ॥ ४७ ॥

आगे—दान देकर पात्रोंको भी संतुष्ट करना चाहिये ऐसा जो पहिले लिखा गया था उसी दानकी विधिको बढाकर दिखलाते हैं—

१–निष्ठीवनमवष्टंभं जृंभणं गात्रभंजनं । असत्यभाषणं नर्महास्यं पादप्रसारणं ॥ अभ्याख्यानं करस्फोटं करेण करताडनं । विकारमंग-संस्कारं वर्जयेद्यतिसन्निधौ ॥ अर्थ–थूकना, गर्व करना, जंभाई लेना, शरीर मोडना, झूठ बोलना, खेलना, हंसना, पैर फैलाना, झूठा दोष आरोपण करना, हाथ ठोंकना, ताली बजाना, तथा शरीरके अन्य विकार करना और शरीरका संस्कार करना इत्यादि क्रियाओंको गुरुके समीप नहीं करना चाहिये ।

पात्रागमविधिद्रव्यदेशकालानतिक्रमात् ।

दानं देयं गृहस्थेन तपश्चर्यं च शक्तितः ॥ ४८ ॥

अर्थ—गृहस्थको [1]पात्र, शास्त्र, विधि, द्रव्य, देश और कालके अनुसार रत्नत्रयके बढानेवाली वस्तु दान देनी चाहिये और अपनी शक्तिके अनुसार अनशन आदि तप करना चाहिये। अभिप्राय यह है कि प्रत्येक गृहस्थको अपनी शक्तिके अनुसार दान और तपश्चरण करना चाहिये ॥ ४८ ॥

आगे—सम्यग्दृष्टी श्रावकके नित्य आवश्यक समझकर किये हुये दान और तपके अवश्य होनेवाले विशेष फलको कहते हैं—

नियमेनान्वहं किंचिद्यच्छतो वा तपस्यतः ।

संत्यवश्यं महीयांसः परे लोका जिनश्रितः ॥४९॥

अर्थ—परमात्माकी भक्ति करनेवाला भव्य पुरुष यदि प्रतिदिन नियमसे शास्त्रानुसार थोडा भी दान दे अथवा थोडा ही तपश्चरण करे तो भी उसे परलोकमें अर्थात् दूसरे जन्ममें इंद्र आदिके श्रेष्ठ पद अवश्य मिलते हैं ॥४९॥

१—वर्यमध्यजघन्यानां पात्राणामुपकारकं । दानं यथायथं देयं वैयावृत्यविधायिना ॥ अर्थ—वैयावृत्य करनेवालोंको उत्तम मध्यम और जघन्य ऐसे तीनों तरहके पात्रोंको उपयोगी ऐसा दान विधिपूर्वक अपनी शक्तिके अनुसार देना चाहिये ।

आगे—किन किनको दान देना चाहिये और क्यों देना चाहिये यही दिखलाते हैं—

धर्मपात्राण्यनुग्राह्याण्यमुत्र स्वार्थसिद्धये ।
कार्यपात्राणि चात्रैव कीर्त्यै त्वौचित्यमाचरेत् ॥५०॥

अर्थ—रत्नत्रयको साधन करनेवाले मुनि श्रावक आदि धर्मपात्र गिने जाते है । धर्म अर्थ काम इन पुरुषार्थोंमें सहायता देनेवाले कार्यपात्र गिने जाते हैं । अपना कल्याण चाहनेवाले श्रावकको परलोकमें स्वार्थ साधन करनेके लिये अर्थात् दूसरे जन्ममें स्वर्ग आदिके उत्तम सुख प्राप्त करनेके लिये मुनि आदि धर्मपात्रोंको उनके उपयोगी पदार्थ देकर उनका उपकार करना चाहिये । तथा इस लोकमें अपना स्वार्थ सिद्ध करनेके लिये अर्थात् धर्म, अर्थ और काम इन तीनों पुरुषार्थोंकी प्राप्ति होनेके लिये इन तीनों पुरुषार्थोंके सहायक ऐसे कार्यपात्रोंको यथायोग्य पदार्थ देकर अनुगृहीत करना चाहिये, और अपनी कीर्ति फैलनेके लिये यथायोग्य कार्य करना चाहिये अर्थात् यथायोग्य दान देकर और प्रियवचन कहकर सबको संतुष्ट करना चाहिये।

अभिप्राय—यह है कि परलोक सुधारनेके लिये धर्मपात्रोंको दान देना चाहिये । इस जन्ममें अपना कार्य सिद्ध करनेके लिये अपने सहायक लोगोंको संतुष्ट रखना चाहिये और अपना यश बढानेके लिये धर्मकी रक्षा करते हुये यथायोग्य रीतिसे सबको संतुष्ट करना चाहिये ॥५०॥

आगे—धर्मपात्रोंको उनके गुणोंके अनुसार उन्हें तृप्त करना चाहिये ऐसा दिखलाते हैं—

समयिकसाधकसमयद्योतकनैष्ठिकगणाधिपान् धिनुयात् ।
दानादिना यथोत्तरगुणरागात्सद्गृही नित्यं ॥ ५१ ॥

अर्थ—जिनसमय अर्थात जिनेंद्रदेवके कहे हुये शास्त्रोंके आश्रय रहनेवाले अर्थात् शास्त्रोंकी आज्ञानुसार चलनेवाले मुनि अथवा गृहस्थोंको [1]समयिक कहते हैं । ज्योतिष मंत्रवाद आदि संसारी लोगोंके उपकार करनेवाले शास्त्रोंके जाननेवालेको [2]साधक कहते हैं । वादविवाद आदि कर अपने मोक्षमार्गकी

१—गृहस्थो वा यतिर्वापि जैनं समयमाश्रितः । यथाकालमनुप्राप्तः पूजनीयः सुदृष्टिभि : ॥ अर्थ—सम्यग्दृष्टी श्रावकको देशकालके अनुसार जैनधर्मको धारण करनेवाले और यथायोग्य समयपर अपने घर आये हुये मुनि अथवा गृहस्थका आदरसत्कार करना ही चाहिये ।

२—ज्योतिर्मंत्रनिमित्तज्ञः सुप्रज्ञः कार्यकर्मसु । मान्यः समयिभिः सम्यक् परोक्षार्थसमर्थधीः ॥ अर्थ—ज्योतिःशास्त्र, मंत्रशास्त्र, शकुनशास्त्र, वैद्यकशास्त्र आदि शास्त्रोंको जाननेवाले तथा परोक्ष (दूर वा छिपे हुये) पदार्थोंको जाननेवाले और कार्य करनेमें चतुर ऐसे लोगोंका भी श्रावकको यथायोग्य आदर सत्कार करना चाहिये अर्थात् उसे दान और मान देना चाहिये । क्योंकि—

दीक्षायात्राप्रतिष्ठाद्याः क्रियास्तद्विरहे कुतः । तदर्थं परपृच्छायां कथं च समयोन्नतिः ॥ अर्थ—ज्योतिःशास्त्र मंत्रशास्त्र आदि जानने-

प्रभावना करनेवालेको [1]समयद्योतक कहते हैं। मूलगुण और उत्तरगुणोंसे प्रशंसनीय ऐसे तप करनेवालेको नैष्ठिक[2] कहते हैं। धर्माचार्य अथवा उसीके समान बुद्धिमान गृहस्थाचार्यको गणाधिप[3] कहते हैं। इन पांचोंतरहके पात्रोंको

वालोंके विना दीक्षा यात्रा प्रतिष्ठा आदि क्रियायें कैसे हो सकेंगी और यदि उनके लिये अन्य धर्मियोंके पास जाओगे तो फिर अपने धर्मकी उन्नति कैसे होगी?

१–लोकवित्त्वकवित्वाद्यैर्वादवाग्मित्वकौशलैः। मार्गप्रभावनोद्युक्ताः संतः पूज्या विशेषत ः॥ अर्थ–जो लोक चातुर्य, कविता, तथा वाद उपदेश आदिकोंकी कुशलतासे जिनमतकी प्रभावना करनेमें सदा तत्पर रहते हैं ऐसे सज्जन पुरुषोंकी पूजा (आदरसत्कार) विशेषतासे करनी चाहिये।

२–मूलोत्तरगुणश्लाघ्यैस्तपोभिर्निष्ठितस्थितिः। साधुः साधु भजेत्पूज्यः पुण्योपार्जनपंडितैः। अर्थ—पुण्यके उपार्जन करनेमें चतुर लोगोंको मूलगुण और उत्तरगुणोंसे प्रशंसनीय ऐसे तपके करनेवाले साधुकी पूजा सेवा उत्तम प्रकारसे करनी चाहिये।

३–ज्ञानकांडे क्रियाकांडे चातुर्वर्ण्यपुरस्सरः। सूरिर्देव इवाराध्यः संसाराब्धितरंडकः। अर्थ—ज्ञानकांड और क्रियाकांडके चलानेमें चारों वर्णोंमें श्रेष्ठ ऐसे धर्माचार्य अथवा गृहस्थाचार्य संसाररूपी समुद्रसे पार करनेमें नावके समान हैं इसलिये देवके समान उनकी पूजा करनी चाहिये।

उनके उत्कृष्ट गुणोंमें प्रेम रखकर अथवा जिसमें जो गुण उ-त्कृष्ट हो उसीमें प्रेम रखकर उन्हें दान देकर, मान देकर, आसन देकर, वचनालापकर तथा और भी आदरसत्कारके उपायोंसे पाक्षिक श्रावकको अथवा ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य इन तीनों वर्णों-मेंसे किसी गृहस्थको तृप्त करना चाहिये। अभिप्राय यह है कि प्रत्येक गृहस्थको ये पांचों तरहके पात्र तृप्त करने चाहिये।

यहांपर मोक्ष प्राप्त करनेवाले मुनि और श्रावकोंको रत्नत्रय गुणोंके बढानेके लिये तृप्त करना पात्रदान कहलाता है और भोगोपभोग सेवन करनेवाले गृहस्थोंको वात्सल्य भावसे यथायोग्य अनुग्रह करना समानदत्ति कहलाती है। शास्त्रकारने इसप्रकार दो विभाग किये हैं ॥ ५१ ॥

आगे—समानदत्तिकी विधिका उपदेश देते हैं—

स्फुरत्येकोपि जैनत्वगुणो यत्र सतां मतः।
तत्राप्यजैनैः सत्पात्रैर्द्योत्यं खद्योतवद्रवौ ॥ ५२ ॥

अर्थ—एक जिनेंद्र ही देव है क्योंकि वही मुझे संसार समुद्रसे पार करनेवाला है ऐसे गाढ श्रद्धानका नाम जैनत्व गुण है। यह जैनत्व गुण साधु लोगोंको भी इष्ट है। जिस पुरुषमें ज्ञान तपसे रहित केवल एक जैनत्व गुण अर्थात् सम्यग्दर्शन देदीप्यमान हो उसके सामने महादेवकी भक्ति वि-ष्णुकी भक्ति आदि भूतोंसे जकडे हुये अजैन पुरुष यदि ज्ञान

और तपश्चरणसहित हों तथापि वे ऐसे प्रभारहित ज्ञान पडते हैं जैसे सूर्यके सामने खद्योत। अभिप्राय यह है कि जैसे सूर्यके सामने खद्योत प्रभा रहित हो जाता है उसीप्रकार ज्ञान तपश्चरणसे रहित सम्यग्दृष्टि जैनीके सामने ज्ञानतपश्चरण सहित मिथ्या-दृष्टि भी प्रभारहित हो जाता है। जैनी ज्ञान तपसे रहित हो-कर भी सूर्यके समान है और अन्यधर्मी ज्ञान तप सहित भी खद्योतके समान है। अपि शब्दसे यह सूचित होता है कि जब जैनी ज्ञान तप रहित होकर भी सूर्यके समान है तब फिर यदि वह ज्ञान तप सहित हो तो फिर उसकी महिमाका क्या पार है ॥ ५२ ॥

आगे—अपना कल्याण चाहनेवाले लोगोंको जैनियोंपर अवश्य अनुग्रह करना चाहिये ऐसा कहते हैं—

वरमेकोऽप्युपकृतो जैनो नान्ये सहस्रशः।
दलादिसिद्धान्कोऽन्वेति रससिद्धे प्रसेदुषि ॥ ५३ ॥

अर्थ—यदि किसी एकही जैनीका उपकार किया जाय तो वह बहुत अच्छा है परंतु अन्यमतवाले हजारों पुरुषोंका भी उपकार करना उससे अच्छा नहीं है इसी बातको दृष्टांत देकर स्पष्ट दिखलाते हैं कि यदि पारे आदि औषधियोंसे ही दरिद्रता व्याधि बुढापा आदिको अवश्य दूर करनेकी शक्ति रखनेवाला प्रसन्न होकर अपना अनुग्रह करना चाहे तो उसे छोडकर जिससे कोई दूसरी चीज नहीं खरीदी जा सकती ऐसे

कृत्रिम सुवर्ण रखनेमें प्रसिद्ध पुरुषको अथवा वर्णकी उत्कृष्टतासे प्रसिद्ध पुरुषको कौन ढूंडता है? भावार्थ—जिसप्रकार झरसे ही दरिद्रता रोग आदि सब तरहके दुःख दूर करनेवाला कोई तांत्रिक पुरुष प्रसन्न होकर अपनी दरिद्रता आदि सब दूर करना चाहता हो तो उसे छोड़कर झूठा बनाया हुआ सुवर्ण रखनेवाले पुरुषके समीप कोई नहीं जाता उसीप्रकार बुद्धिमान पुरुष प्रथम जैनियोंका ही उपकार करते हैं अन्य-मतवालोंका नहीं। क्योंकि उनका उपकार करनेसे धर्मकी कुछ वृद्धि नहीं होती ॥ ५३ ॥

आगे—नाम स्थापना आदि निक्षेपोंसे विभाग किये हुये चारोंप्रकारके जैनी पात्र हैं और उनमें भी उत्तरोत्तर दुर्लभ है ऐसा दिखलाते हैं—

नामतः स्थापनातोऽपि जैनः पात्रायते तरां।
स लभ्यो द्रव्यतो धन्यै र्भावतस्तु महात्मभिः ॥ ५४ ॥

अर्थ—जिसकी जैन ऐसी संज्ञा है ऐसा नामजैन, तथा जिसमें यह वही जैन है अथवा वैसा ही जैन है ऐसी कल्पना की गई हो ऐसा स्थापनाजैन ये दोनों ही जैन अजैन पात्रोंकी अपेक्षा मोक्षके कारण ऐसे रत्नत्रयगुणोंको प्राप्त करनेवाले पात्रके समान बहुत उत्कृष्ट पात्र जान पडते हैं। क्योंकि इन दोनोंके सम्यग्दर्शनके साथ साथ होनेवाले पुण्यकर्मोंका आस्रव होता रहता है। तथा वही द्रव्यजैन अर्थात् जिसमें आगामी

कालमें सम्यग्दर्शनगुणके प्राप्त होनेकी योग्यता है ऐसा जैन बडे पुण्यवानोंको प्राप्त होता है और भावजैन अर्थात् जिसमें उसीसमय जैनत्वगुण अर्थात् सम्यग्दर्शन विद्यमान हो ऐसा जैन बडे महात्माओंको अथवा महाभाग अर्थात् बडे भाग्यवान लोगोंको प्राप्त होता है। अभिप्राय यह है कि अजैनोंकी अपेक्षा [1]नामका जैनी तथा स्थापना किया हुआ जैनी भी अच्छा है। द्रव्यजैनी भाग्यवानोंको ही मिलता है अर्थात् दुर्लभ है और भावजैनी और भी दुर्लभ है ॥ ५४ ॥

आगे—भावजैनपर कपटरहित प्रेम करनेवालेको उसका फलस्वरूप स्वर्ग और मोक्षकी संपत्ति प्राप्त होती है ऐसा दिखलाते हैं—

प्रतीतजैनत्वगुणेऽनुरज्यन्निर्व्याजमासंसृति तद्गुणानां ।
धुरि स्फुरन्नभ्युदयैरहप्तस्तृप्तस्त्रिलोकीतिलकत्वमेति ॥५५॥

अर्थ—जिसका जैनत्व गुण प्रसिद्ध है अर्थात् जिसके वास्तवमें सम्यग्दर्शन विद्यमान हैं ऐसे भव्यपात्र पुरुषपर जो गृहस्थ कपट रहित स्वयं प्रेम करता है वह पुरुष मोक्ष प्राप्त होनेतक प्रत्येक जन्ममें वास्तवमें सम्यग्दर्शन गुणको धारण करनेवाले लोगोंके सामने भी अधिक तेजस्वी होता है। तथा सम्यग्दर्शनके साथ रहनेवाले पुण्यकर्मके उदयसे किसी तरहका

१ जिनके सम्यग्दर्शन नहीं है परंतु जो रूढि या कुलपरंपरासे जैनधर्म पालन करते हैं वे नामजैन वा स्थापनाजैन कहला सकते हैं।

अभिमान नहीं करता और आज्ञा ऐश्वर्य आदि प्राप्त हुई संपदाओंसे तृप्त होता हुआ अर्थात् उनमें किसी तरहकी तृष्णा न करता हुआ अंतमें तीनों लोकोंका तिलक होता है अर्थात् मोक्षपदको प्राप्त करता है। भावार्थ—सम्यग्दृष्टी पुरुषपर अनुराग करनेवाला पुरुष भी अनेक तरहकी सुख संपत्तियोंका उपभोग करता हुआ अंतमें मुक्त होता है ॥ ५५ ॥

आगे—गृहस्थाचार्यकेलिये अथवा यदि गृहस्थाचार्य न हो तो किसी मध्यम पात्रके लिये कन्या सुवर्ण आदि दान देना पाक्षिक श्रावकका कर्तव्य है ऐसा उपदेश देते हैं—

निस्तारकोत्तमायाथ मध्यमाय सधर्मणे ।
कन्याभूहेमहस्त्यश्वरथरत्नादि निर्वपेत् ॥ ५६ ॥

अर्थ—जो संसारसमुद्रसे पार जानेके लिये प्रयत्न करानेवाले गृहस्थोंमें श्रेष्ठ हैं और जिसके क्रिया मंत्र व्रत आदि सब अपने समान हैं ऐसे गृहस्थाचार्यके लिये अथवा यदि ऐसा गृहस्थाचार्य न मिले तो मध्यम अथवा जघन्य श्रावकके लिये कन्या, भूमि, सुवर्ण, हाथी, घोडे, रथ, रत्न, और आदि शब्दसे वस्त्र, घर, नगर, आदि धर्म अर्थ काम इन तीनों पुरुषार्थोंको सिद्ध करनेवाले पदार्थोंका दान देना चाहिये।

इस श्लोकमें जो अथ शब्द दिया है वह दूसरे पक्षको सूचित करता है अथवा अधिकारको सूचित करता है। इस श्लोकके

पहिले जघन्य समदत्तिका व्याख्यान कर चुके थे अब इस श्लोकसे मध्यम समानदत्तिका अधिकार करते हैं अर्थात् यहांसे मध्यम समानदत्ति कहते हैं। गृहस्थमें यदि अधिक भी गुण हों तथापि वह मुनिकी अपेक्षा मध्यम पात्र ही गिना [1]जाता है (ग्रंथकारने इस श्लोकमें देनेके अर्थमें वप् धातुका प्रयोग किया है जिसका अर्थ 'बोना' होता है इसके देनेका यह अभिप्राय है कि जैसे बीजके बोनेसे कई गुना मिलता है इसीतरह कन्या आदि देनेसे स्वयं अधिक भोगोपभोगकी प्राप्ति होती है ॥५६॥

आगे—समानधर्मी श्रावकके लिये कन्या आदि देनेका कारण बतलाते हैं—

आधानादि क्रियामंत्रव्रताद्यच्छेदवांच्छया।
प्रदेयानि सधर्मेभ्यः कन्यादीनि यथोचितं ॥५७॥

अर्थ—गर्भाधान, प्रीति, सुप्रीति आदि गृहस्थोंको अवश्य करने योग्य ऐसीं अरहंतदेवकी कही हुईं क्रियायें हैं, तथा

१–चारित्रासारमें लिखा है– "समदत्तिः स्वसमक्रियामंत्राय निस्तारकोत्तमाय कन्याभूमिसुवर्णहस्त्यश्वरथरत्नादिदानं। स्वसमानाभावे मध्यमपात्रस्यापि दानमिति"॥ अर्थात्–जिसके क्रिया मंत्र व्रत आदि सब अपने समान हैं ऐसे गृहस्थाचार्यके लिये अर्थात् जो संसारसे पार–जानेके उद्योगमें लगा है तथा दूसरोंको लगाता है ऐसे उत्तम गृहस्थके लिये कन्या, भूमि, सुवर्ण, हाथी, घोडा, रथ, रत्न आदि दान देना चाहिये। यदि गृहस्थाचार्य न मिले तो मध्यमपात्रके लिये ही ऊपर कहे हुये पदार्थ देना चाहिये इसे समानदत्ति कहते हैं।

अरहंतदेवके कहे हुये जो उन्हीं क्रियासंबंधी मंत्र हैं, अथवा अपराजित मंत्र हैं, मद्यका त्याग मांसका त्याग आदि जो व्रत हैं तथा आदि शब्दसे देवपूजा पात्रदान आदि जो जो धर्मकार्य हैं उनका कभी नाश न हो वे सदा ज्यों के त्यों निरंतर चलते रहें ऐसी इच्छासे गृहस्थोंको समानधर्मी गृहस्थोंके लिये यथोचित अर्थात् जो जिसके योग्य हो उसको वही देना अथवा जिसको जिसकी आवश्यकता हो उसको वही देना ऐसा विचारकर कन्या भूमि सुवर्ण आदि पदार्थोंको उत्तम बनाकर देना चाहिये। भावार्थ—समान धर्मियोंको कन्या आदि देनेसे जैनधर्मका विच्छेद कभी नहीं हो सकता, क्योंकि उसकी प्रत्येक संतान जैनधर्म धारण करनेवाली होगी। इसतरह कन्या आदिका दान जैनधर्मकी वृद्धि होने और शास्त्रोक्त मंत्र व्रत क्रिया आदिकोंका निरंतर प्रचार होनेमें कारण हैं इसलिये वह पुण्यका भी कारण है ॥५७॥

आगे—कन्यादानकी विधि और उसका फल कहते हैं—

> निर्दोषां सुनिमित्तसूचिताशिवां कन्यां वरार्हैर्गुणैः
> स्फूर्जंतं परिणाय्य धर्म्यविधिना यः सत्करोत्यंजसा।
> दंपत्योः स तयोस्त्रिवर्गघटनात् त्रैवर्गिकेष्वग्रणी-
> र्भूत्वा सत्समयास्तमोहमहिमा कार्ये परेऽप्यूर्जति ॥५८॥

अर्थ—जो कन्या सामुद्रिक शास्त्रमें कहे हुये दोषोंसे रहित है और जिसमें सामुद्रिकशास्त्र, ज्योतिःशास्त्र तथा जिससे भविष्यतकी बात जानी जाय ऐसे अन्य शास्त्रोंके अनु-

सार अपना और वरका कल्याण सूचित करनेवाले लक्षण विद्यमान हैं ऐसी कन्याको जिसमें वरके योग्य कुल, शील, माता पिता आदि गुरुजन, विद्या, धन, सुंदरता, योग्य उमर और कन्याको ग्रहण करनेकी इच्छा आदि जो जो गुण हैं वे सब विचार करनेवालोंके चित्तमें साफ दिखाई दे रहे हैं। ऐसे साधर्मी पुरुषके लिये धर्मशास्त्रमें कही हुई [1]विधिके अनुसार अग्नि द्विज और देवोंकी साक्षीपूर्वक ब्राह्म प्राजापत्य आर्ष और दैव इन चारों प्रकारके विवाहोंमेंसे

१—भगवज्जिनसेनाचार्य प्रणीत आदिपुराणमें विवाहकी संक्षिप्त विधि इसप्रकार लिखी है—

ततोऽस्य गुर्वनुज्ञानादिष्टा वैवाहिकी क्रिया।
वैवाहिके कुले कन्यामुचितां परिणेष्यतः॥
सिद्धार्चनविधिं सम्यग्निर्वर्त्य द्विजसत्तमाः।
कृताग्नित्रयसंपूजाः कुर्युस्तत्साक्षिकां क्रियां॥
पुण्याश्रमे क्वचित्सिद्धप्रतिमाभिमुखं तयोः।
दंपत्योः परया भूत्या कार्यः पाणिग्रहोत्सवः॥
वेद्यां प्रणीतमग्नीनां त्रयं द्वयमथैककं।
ततः प्रदक्षिणीकृत्य प्रशय्य विनिवेशनं॥
पाणिग्रहणदीक्षायां नियुक्तं तद्वधूवरं।
आसप्ताहं चरेद्ब्रह्मव्रतं देवाग्निसाक्षिकं॥
क्रांत्वा स्वस्योचितां भूमिं तीर्थभूमीर्विहृत्य च।
स्वगृहं प्रविशेद्भूत्या परया तद्वधूवरं॥

यथायोग्य किसी एक विवाहकी विधिसे विवाहकर वस्त्र आदिसे यथायोग्य सत्कार कर देता है वह कन्या देकर सत्कार करनेवाला गृहस्थ उन दोनों वरवधूओंके लिये धर्म अर्थ और

विमुक्तकंकणं पश्चात्स्वगृहे शयनीयकं ।
अधिशय्य यथाकालं भोगांगैरुपलालितं ॥
संतानार्थमृतावेव कामसेवां मिथो भजेत् ।
शक्तिकालव्यपेक्षोयं क्रमोऽशक्तेष्वतोऽन्यथा ॥

अर्थ—तदनंतर अर्थात् व्रतावरण क्रिया समाप्त होनेके पीछे पिताकी आज्ञानुसार विवाहके योग्य कुलमें जन्मी हुई कन्याको विवाहकर स्वीकार करनेवालेको वैवाहिकी क्रिया कही है। उसकी विधि यह है कि प्रथम ही सिद्धार्चनविधि अर्थात् विधिपूर्वक सिद्धपरमेष्ठीकी आराधना अच्छीतरह करे। पीछे गार्हपत्य दाक्षिणाग्नि और आह्वनीय ऐसी तीन अग्नियोंको स्थापनकर विधिपूर्वक उनकी पूजा करे और विवाहकी समस्त क्रियायें इन अग्नियोंके समक्षमें ही करे। किसी किसी पवित्र प्रदेशमें सिद्धप्रतिमाके सन्मुख अथवा सिद्धप्रतिमा न होनेपर सिद्धयंत्रके सन्मुख उन दोनों वर कन्याओंके पाणिग्रहणका उत्सव बड़े ठाठसे करे। वधू और वर दोनों ही वेदीपर सिद्ध कीगई तीन दो अथवा एक ही अग्निकी प्रदक्षिणा दें और फिर आसन बदलकर बैठ जायं अर्थात् वरके आसनपर वधू और वधूके आसनपर वर बैठे। जिनको पाणिग्रहण दीक्षा दे दी गई है अर्थात् जिनकी विवाहविधि समाप्त हो चुकी है ऐसे वे दोनों ही वरवधू देव और अग्निके समक्ष सात दिनतक ब्रह्मचर्य व्रत धारण करें। तदनंतर उनके विहार करने योग्य किसी भूमिका (किसी देश वा नगरका) देशाटन

काम इन तीनो पुरुषार्थोंको संपादन कर देता है इसलिये वह धर्म अर्थ काम इन पुरुषार्थोंके सेवन करनेवालोंमें प्रधान गिना जाता है तथा सज्जन पुरुषोंकी संगति और जैन शास्त्रोंके निमित्तसे चारित्रमोहनीयकर्मकी तीव्रता नष्ट कर अवश्य करने योग्य ऐसे [1]इसलोक संबंधी और परलोक संबंधी कार्योंके करनेमें समर्थ होजाता है। अभिप्राय यह है कि

कराकर तथा किसी तीर्थस्थानके दर्शन कराकर उन दोनों वरवधूओंको बडी विभूतिके साथ घरमें प्रवेश करावे। घर जाकर वे दोनों ही अपना कंकण छोडें और भोगोपभोग सामग्रीसे शोभायमान ऐसे घरमें कोमल शय्यापर शयन करें। उन दोनोंको संतान उत्पन्न करनेके लिये ऋतुकालमें ही परस्पर कामसेवन करना चाहिये अन्य कालमें नहीं। शक्ति और कालकी अपेक्षा रखनेवाला यह क्रम केवल समर्थ लोगोंके लिये कहा है असमर्थ लोगोंके लिये इससे उलटा समझना चाहिये अर्थात् असमर्थ लोग यथाशक्ति ब्रह्मचर्यका पालन करें।

१—द्वौ हि धर्मौ गृहस्थानां लौकिकः पारलौकिकः। लोकाश्रयो भवेदाद्यः परः स्यादागमाश्रयः॥ अर्थ—गृहस्थोंका धर्म दो प्रकारका है एक इस लोकमें काम आनेवाला लौकिक और दूसरा परलोकमें काम आनेवाला पारलौकिक। उनमेंसे पहिला जो लौकिक है वह तो देशकालके अनुसार लोकके आश्रय है अर्थात् देशकालके अनुसार उसकी विधि बदलती भी रहती है परंतु वह धर्मशास्त्रसे विरुद्ध कभी नहीं होती। तथा दूसरा जो पारलौकिक है वह जैनसिद्धांतके अनुसार सदा एकसा ही रहता है।

जो योग्य कन्याको सुशिक्षित कर योग्य वरके लिये विवाहकर देता है वह गृहस्थोंमें मुख्य गिना जाता है तथा वही इस लोक संबंधी और परलोक संबंधी सब काम कर सकता है। अपि शब्दसे इस लोक संबंधी कार्योंकी सामर्थ्य सूचित होती है ॥ ९८ ॥

जातयोऽनादयःसर्वास्तत्क्रियापि तथाविधाः। श्रुतिःशास्त्रांतरं वास्तु प्रमाणं कात्र नः क्षतिः ॥ अर्थ—सब जातियां अनादिसे चली आती हैं और उनकी क्रियायें भी अनादिसे चली आती हैं। इन क्रियाओंको कहनेवाला चाहे वेद हो, स्मृति हो अथवा और कोई शास्त्र हो हमें प्रमाण है क्योंकि इसमें हमारी कोई हानि नहीं है।

सर्व एव हि जैनानां प्रमाणं लौकिको विधिः। यत्र सम्यक्त्वहानिर्न यत्र न व्रतदूषणं ॥ अर्थ–जिसमें सम्यग्दर्शनकी क्षति न हो और व्रतोंमें किसी तरहका दोष न आवे ऐसी लोकमें प्रचलित समस्त विधि जैनियोंको प्रमाण हैं। भावार्थ-वायुशुद्धि, गोमयशुद्धि, मृत्तिका-शुद्धि, जलशुद्धि आदि ऐसी समस्त विधि जो कि लोगोंमें प्रचलित हैं मान्य हैं कि जिनके करनेमें सम्यक्त्वकी हानि और व्रतोंमें दोष न आवे वे सब जैनियोंको प्रमाण हैं।

स्वजात्यैव विशुद्धानां वर्णानामिह रत्नवत्। तत्क्रियाविनियोगाय जैनागमविधिः परं ॥ अर्थ–जिसप्रकार रत्न स्वभावसे ही शुद्ध है परंतु उसे शाणपर रखना कोने निकालना आदि उसके संस्कार केवल उसकी शोभा बढानेके लिये किये जाते हैं। उसीप्रकार अपनी जातिसे शुद्ध होनेपर भी ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य इन तीनों वर्णोंको विशेष महत्त्व लानेके लिये जैनशास्त्रोंके अनुसार सब संस्कार आदि विधि करना चाहिये।

आगे—उत्तम कन्या देनेवालेको एक साधर्मीका उपकार करनेसे बडे भारी पुण्यका लाभ होता है ऐसा दिखलाते हैं—

सत्कन्यां ददता दत्तः सत्रिवर्गो गृहाश्रमः ।
गृहं हि गृहिणीमाहु र्न कुड्यकटसंहतिं ॥ ५९ ॥

अर्थ—अपनी स्त्रीमें संतोष रखना, इंद्रियोंको वश करना, देव गुरु आदिकी सेवा करना और सत्पात्रको दान देना आदि श्रावकोंका धर्म कहलाता है । वेश्यासेवन आदि व्यसनोंसे रहित होकर निर्विघ्न द्रव्यका उपार्जन करना, उपार्जन किये हुये अर्थात् कमाये हुये द्रव्यकी रक्षा करना और रक्षा किये हुये द्रव्यको बढाना इन तीनोंके द्वारा अपने भाग्यके अनुसार प्राप्त हुई जो ग्राम सुवर्ण आदि संपत्ति है उसे अर्थ कहते है । अपने आत्माके एक यथेष्ट और अपूर्व रससहित जो समस्त इद्रियोंको प्रेम उत्पन्न करानेमें कारण है अर्थात् जिससे समस्त इंद्रियां तृप्त होती हैं और सुख मिलता है उसे काम कहते हैं । अपनी कुलीन स्त्रियोंके साथ समागम करनेवालोंको इसका अनुभव होता है । अन्य शास्त्रोंमें भी ऐसा ही लिखा है कि—" संकल्परमणीयस्य प्रीतिसंभोगशोभिनः । रुचिरस्याभिलाषस्य नाम काम इति स्मृतिः ॥ १ ॥ अर्थात्—जो चित्तको अच्छा लगे, जो प्रेम और उपभोग करनेमें अच्छा जान पडे ऐसी सुंदर इच्छाका नाम काम है । ये तीनों ही अर्थात् धर्म अर्थ काम सुयोग्य स्त्रीके साथ होनेसे ही सिद्ध हो

सकते हैं। जबतक घरमें सुयोग्य स्त्री न होगी तबतक ये तीनों ही सिद्ध न हो सकेंगे। इसलिये जिस सद्‌गृहस्थने साधर्मी श्रावकके लिये सामुद्रिक दोषोंसे रहित, कुलीनता आदि गुणोंसे सुशोभित ऐसी प्रशस्त कन्याका दान किया उसने उस सधर्मीके लिये धर्म अर्थ काम इन तीनों पुरुषार्थों सहित गृहाश्रम ही दिया ऐसा समझना चाहिये। क्योंकि विद्वान् लोग कुलस्त्रीको ही घर कहते हैं मिट्टी काठ आदिसे दीवाल और छत बनाकर खडे कियेको घर नहीं बतलाते हैं। अभिप्राय यह है कि कन्या गृहाश्रम देनेके ही समान है। जिस अवस्थामें घरमें रहकर ही धर्मानुष्ठान किया जाय अथवा जिस अवस्थामें घर ही तपश्चरण करनेका स्थान माना जाय उसे गृहाश्रम कहते हैं। गृहस्थ वा श्रावक घरमें रहकर ही सबतरहके धर्मानुष्ठान करता है अथवा शक्तिके अनुसार दान तप आदि करता है और वे दान तप वा धर्मानुष्ठान विना सुयोग्य स्त्रीकी सहायताके हो नहीं सकते इसलिये कन्या देना धर्मानुष्ठान करनेका साधन बना देना है, और इसलिये ही उसे बड भारी पुण्यकी प्राप्ति होती है ॥ ५३ ॥

आगे—विवाहकर कुलस्त्री स्वीकार करना दोनों लोकोंमें अभिमत फल देनेवाला है इसलिये धर्म अर्थ काम इन तीनों पुरुषार्थोंको सेवन करनेवाले गृहस्थोंको अवश्य स्वीकार करना चाहिये ऐसा उपदेश देते हैं—

धर्मसंततिमाक्लिष्टां रतिं वृत्तकुलोन्नतिं।

देवादिसत्कृतिं चेच्छन् सत्कन्यां यत्नतो वहेत् ॥ ६० ॥

अर्थ—निरंतर धर्म चलानेके लिये पुत्र पौत्र आदि संतान होना, अथवा धर्मका कभी विच्छेद न होना, क्लेशरहित निर्विघ्न संभोगसुखकी प्राप्ति होना, आचरण और कुलकी उन्नति करना तथा देवपूजा, आहारदान, द्विज बांधव आदिकोंका आदर सत्कार करना इत्यादि कामोंकी इच्छा करनेवाले पुरुषको यत्नपूर्वक श्रेष्ठ कन्याके साथ अथवा सज्जन पुरुषकी कन्याके साथ विवाह करना चाहिये। यदि श्रावक किसी श्रेष्ठ कन्याके साथ विवाह न करेगा तो ऊपर लिखे हुये धर्मकार्य उससे कभी नहीं हो सकेंगे ॥ ६० ॥

आगे—जिसके स्त्री नहीं है अथवा जिसके दुष्ट स्त्री है ऐसे पात्रको भूमि सुवर्ण आदि दान देनेसे कुछ उपकार नहीं होता, इसलिये श्रेष्ठ कन्या देकर सधर्मी पुरुषोंका उपकार करना ही चाहिये। इसी विधिको स्थापन करनेके लिये ऊपर लिखे अर्थका प्रकारांतरसे समर्थन करते हैं—

सुकलत्रं विना पात्रे भूहेमादिव्ययो वृथा।

कीटैर्दंदश्यमानेऽतः कोऽम्बुसेकात् द्रुमे गुणः ॥ ६१ ॥

अर्थ—जिसके श्रेष्ठ स्त्री नहीं है ऐसे पात्रको अर्थात् जिसमें मोक्षके कारण सम्यग्दर्शन आदि गुण विद्यमान

हैं परंतु जिसके श्रेष्ठ स्त्री नहीं है ऐसे गृहस्थको पृथ्वी सुवर्ण आदि दान देना व्यर्थ है क्योंकि जिस वृक्षका मध्यभाग घुनके कीडोंने बुरीतरहसे खा डाला है ऐसे वृक्षको जल सींचनेसे क्या लाभ है ? अर्थात् कुछ नहीं । अभिप्राय यह है कि जब विना स्त्रीवालेको धन देना व्यर्थ है तब साधर्मी पुरुषको श्रेष्ठ कन्या देकर धन देना चाहिये ॥६१॥

आगे—विषयसुखोंका उपभोग करनेसे ही चारित्र-मोहनीयकर्मके उदयकी तीव्रता होती है और उन्हीं विषय-सुखोंका उपभोग करनेसे वह चारित्रमोहनियकर्मके उदयकी तीव्रता शांत हो जाती है । इसलिये उन्हीं उपभोगोंके द्वारा चारित्रमोहनीयकर्मका तीव्र उदय शांत कर फिर वह विषय सुखोंका उपभोग छोड देना चाहिये और अपने समान अन्य सधर्मी लोगोंसे भी छुडाकर उन्हें विरक्त कराना चाहिये ऐसा उपदेश देते है—

विषयेषु सुखभ्रांतिं कर्माभिमुखपाकजां ।
छित्वा तदुपभोगेन त्याजयेत्तान् स्ववत्परं ॥६२॥

अर्थ—अपने फल देनेके सन्मुख हुये चारित्रमोहनीय कर्मके उदयसे विषयोंमें जो सुखकी भ्रांति उत्पन्न हुई है अर्थात् ये विषय सुखके कारण हैं अथवा सुखस्वरूप हैं ऐसी जो विपरीत बुद्धि उत्पन्न हुई है उसे विषयसेवनके द्वारा नष्ट कर फिर उन विषयोंको छोड देना चाहिये । तथा जिसप्रकार उन विष-

योंको छोडकर वह स्वयं विरक्त हुआ है उसीप्रकार जिसको श्रेष्ठ कन्या वा धन आदि दिया है ऐसे साधर्मी पुरुषसे वा अन्य साधर्मी पुरुषसे भी विषयोंको छुडाना चाहिये, और उन्हें विरक्त करना चाहिये ॥६२॥

आगे—इस पंचमकालके कारण लोग प्रायः आचरण-रहित ही देखे जाते हैं इससे कितने ही दाता लोगोंके चित्त संशय अथवा ग्लानिसे भरजाते हैं इसलिये ऐसे दाताओंको समाधान करनेके लिये चार श्लोक कहते हैं—

दैवाल्लब्धं धनं प्राणैः सहावश्यं विनाशि च ।
बहुधा विनियुंजानः सुधीः समयिकान् क्षिपेत् ॥६३॥

अर्थ—जो धन इस जन्ममें केवल पूर्व पुण्यके उदयसे विना पुरुषार्थ किये अर्थात् पिता आदि पूर्वजोंका कमाया[१] हुआ ही मिला है वह भी अपने प्राणोंके साथ अवश्य ही नष्ट होगा अर्थात् मरनेके पीछे अपने काम न आवेगा, अपने साथ न जायगा ऐसे धनको जो लज्जा भय और पक्षपात आदि अनेक तरहसे खर्च करता है ऐसा अपना कल्याण चाहनेवाला कौन बुद्धिमान पुरुष है जो जैनधर्मको धारण करनेवाले गृहस्थ अथवा मुनिका तिरस्कार करे, अर्थात् कोई नहीं । अभिप्राय यह है कि धनाढ्य-लोग जब अपने लिये पूर्वजोंके मिले हुये धनको कार्य अकार्यका

१—पूर्वजोंके कमाये हुयेसे यह अभिप्राय है कि ऐसा धन उत्तम नहीं गिना जाता, उत्तम धन अपना कमाया हुआ गिना जाता है।

विचार न करते हुये जिसतिसतरह खर्च कर देते हैं तो उन्हें किसी धर्मात्मा भाईकी विपत्ति दूर करनेका समय आनेपर उसके अवगुण निकालकर अथवा गुणोंको ही अवगुण कहकर उसकी निंदा कभी नहीं करनी चाहिये ॥ ६३ ॥

आगे—उसे क्या करना चाहिये सो कहते हैं—

विन्यस्यैदंयुगीनेषु प्रतिमासु जिनानिव ।
भक्त्या पूर्वमुनीनर्चेत्कुतः श्रेयोऽतिचर्चिनां ॥६४॥

अर्थ—जिसप्रकार रत्न पाषाण आदिकी प्रतिमाओंमें ऋषभदेव आदि जिनेंद्रदेवकी स्थापनाकर उनकी पूजा करते हैं उसीप्रकार सद्गृहस्थको इस पंचमकालमें होनेवाले मुनियोंमें नाम स्थापना आदि विधिसे पूर्वकालके मुनियोंकी स्थापनाकर भक्तिपूर्वक उनकी पूजा करनी चाहिये। [1]क्योंकि अतिशय पीसनेवालेको अर्थात् सबजगह परीक्षा करनेवाले-

---

१—इसविषयमें सोमदेव आचार्यने इसप्रकार लिखा है-

भुक्तिमात्रप्रदाने तु का परीक्षा तपस्विनां । ते संतः संत्वसंतो वा गृही दानेन शुध्यति ॥ अर्थ—केवल आहारदान देनेके लिये मुनियोंकी क्या परीक्षा करना चाहिये ? अर्थात् कुछ नहीं । वे मुनि चाहे अच्छे हों या बुरे हों गृहस्थ तो उन्हें दान देनेसे शुद्ध ही हो जाता है अर्थात् गृहस्थको पुण्य ही होता है।

सर्वारंभप्रवृत्तानां गृहस्थानां धनव्ययः । बहुधास्ति ततोऽत्यर्थं न कर्तव्या विचारणा ॥ अर्थ—इस संसारमें सब प्रकारके खेती व्यापार-

को भी सुख और पुण्य कहांसे मिल सकता है ? । अभिप्राय यह है कि स्थापना करनेसे अपूज्य वस्तु भी पूज्य हो जाती है । जिसप्रकार प्रतिमामें अरहंतकी स्थापनाकर अरहंतकी पूजा

आदि आरंभ करनेवाले गृहस्थोंका धन प्रत्येक कार्यमें चाहे जितना खर्च होता है जब उधर उसका लक्ष्य नहीं है तो दान देनेमें भी बहुतसा विचार नहीं करना चाहिये ।

यथायथा विशिष्यंते तपोज्ञानादिभिर्गुणैः । तथा तथाधिकं पूज्या मुनयो गृहमेधिभिः ॥ अर्थ–तप और ज्ञान आदि गुणोंके द्वारा मुनियोंकी योग्यता जैसी जैसी अधिक होती जाती है उसीतरह गृहस्थोंको उनकी अधिक अधिक पूजा करनी चाहिये ।

दैवाल्लब्धं धनं धन्यैर्वप्तव्यं समयाश्रिते । एको मुनिर्भवेल्लभ्यो न लभ्यो वा यथागमं ॥ अर्थ–पुण्यवान पुरुषोंको पूर्व पुण्यके उदयसे जो धन मिला है उसे अपने धर्मको पालन करनेवाले श्रावकोंके लिये यथायोग्य खर्च कर देना चाहिये । क्योंकि शास्त्रानुसार पूर्ण चारित्रको पालन करनेवाला कोई एक आदि मुनि मिले अथवा न भी मिले ।

उच्चावचजनप्रायः समयोऽयं जिनेशिनां । नैकस्मिन् पुरुषे तिष्ठेदेकस्तंभ इवालयः ॥ अर्थ–यह श्री जिनेंद्रदेवका कहा हुआ धर्म ऊंच नीच दोनों प्रकारके मनुष्योंसे भरा हुआ है । जिसप्रकार एक खंबेके आधार पर घर नहीं ठहर सकता उसीप्रकार यह धर्म भी किसी एक ऊंच अथवा नीच मनुष्यके आधारपर नहीं रह सकता ।

ते नामस्थापनाद्रव्यभावन्यासैश्चतुर्विधाः । भवंति मुनयः सर्वे दानमानादिकर्मसु ॥ अर्थ–दान मान आदि क्रियाओंके करनेके लिये

करते हैं उसीप्रकार आजकलके मुनियोंमें पहिलेके मुनियोंकी स्थापना कर उन पहिलेके मुनियोंकी ही पूजा करनी चाहिये। स्थापना मात्र करनेके लिये विशेष परीक्षाकी आवश्यकता नहीं है ॥ ६४ ॥

आगे--फिर भी ऊपर लिखे हुये विषयको ही समर्थन करते हुये कहते हैं--

---

अर्थात् दान आदि देनेके लिये वे सब मुनि नाम स्थापना द्रव्य भाव इन निक्षेपोंसे चारप्रकारके होते हैं। भावार्थ-चारों प्रकारके मुनि पूज्य दान देनेयोग्य और सत्कार करनेयोग्य हैं। परंतु इतना विशेष है कि—

उत्तरोत्तरभावेन विधिस्तेषु विशिष्यते। पुण्यार्जने गृहस्थानां जिनप्रतिकृतिष्विव ॥ अर्थ-जिसप्रकार जिनेंद्रदेवकी प्रतिमा और साक्षात् जिनेंद्रदेव इन दोनोंकी पूजामें प्राप्त होनेवाले पुण्यमें विशेषता है उसी-प्रकार उन मुनियोंमें उत्तरोत्तर अर्थात् नाममुनिकी अपेक्षा स्थापनामुनि, स्थापनासे द्रव्य और द्रव्यनिक्षेपसे भावनिक्षेपद्वारा पूजा करनेसे गृहस्थोंके पुण्योपार्जनमें भी विशेषता होती है अर्थात् उत्तरोत्तर निक्षेपद्वारा पूजा करनेसे अधिक अधिक पुण्योपार्जन होता है।

काले कलौ चले चित्ते देहे चान्नादिकीटके। एतच्चित्रं यदद्यापि जिनरूपधरा नराः ॥ अर्थ-इस कलिकालमें चित्त सदा चलायमान रहता है शरीर एक तरहसे केवल अन्नका कीडा ही बन रहा है ऐसी अवस्थामें भी वर्तमानमें जिनरूप धारण करनेवाले (मुनि) विद्यमान हैं यही आश्चर्य है।

भावो हि पुण्याय मतः शुभः पापाय चाशुभः ।

तद्दुष्यंतमतो रक्षेद्धीरः समयभक्तितः ॥ ६५ ॥

अर्थ--सिद्धांतके अनुसार शुभ परिणामोंसे पुण्यबंध होता है और अशुभ परिणामोंसे पापका बंध होता है इसलिये जिनके स्वभावमें कुछ विकार नहीं होता ऐसे धीर पुरुषोंको उचित है कि वे जैनशासनकी भक्तिसे अर्थात् कलिकालमें भी ये जैनशासनको (जैनमतको) धारण करते हैं इसलिये ये जिनदेवके समान पूज्य हैं ऐसी अनुराग बुद्धिसे हटते हुये अर्थात् दूषित होते हुये अपने परिणामोंकी रक्षा करें। अभिप्राय यह है कि जिनधर्मके धारण करनेवालोंमें भक्ति न होना अशुभ परिणाम हैं ऐसे परिणामोंको रोकना चाहिये और उनमें भक्तिरूप शुभ परिणाम करना चाहिये कि जिससे पुण्यका बंध हो ॥६५॥

आगे--ज्ञान और तप दोनों अलग अलग, तथा मिले हुये और उनके धारण करनेवाले क्यों पूज्य हैं उसमें हेतु कहते हैं--

---

यथा पूज्यं जिनेंद्राणां रूपं लेपादिनिर्मितं । तथा पूर्वमुनिच्छायाः पूज्याः संप्रति संयताः ॥ अर्थ-जिसप्रकार चित्र आदिसे बनाया जिनेंद्रदेवकारूप पूज्य है उसी प्रकार वर्तमानकालके मुनि पूर्वकालके मुनियोंके प्रतिरूप हैं इसलिये ही वे पूज्य हैं।

ज्ञानमर्च्यं तपोंऽगत्वात्तपोऽर्च्यं तत्परत्वतः[1]।

द्वयमर्च्यं शिवांगत्वात्तद्वंतोऽर्च्या यथागुणं ॥ ६६ ॥

अर्थ—दीक्षा यात्रा प्रतिष्ठा आदिमें काम आनेवाला ऐसा जो साधकका ज्ञान है वह पूज्य है क्योंकि वह अनशन आदि तपका कारण है। तथा नैष्ठिकमें रहनेवाला तप भी पूज्य है क्योंकि वह ज्ञानकी वृद्धिमें कारण है और गणधरदेवमें रहनेवाले ज्ञान और तप दोनों ही पूज्य हैं क्योंकि ये दोनों ही मोक्षके कारण हैं। तथा ज्ञान और तप दोनोंको धारण करनेवाले ज्ञानी और तपस्वी अपने अपने गुणोंके अनुसार विशेष रीतिसे पूज्य हैं अर्थात् जो गुण जिसमें अधिक है उसीकी मुख्यतासे वह अधिक पूज्य है। अभिप्राय यह है कि ज्ञान तपका कारण है और तप ज्ञान बढानेमें कारण है तथा दोनों ही मोक्षके कारण हैं इसलिये यदि ये अलग अलग हो तब भी इनकी पूजा करनी चाहिये। यदि दोनों एक जगह मिले हुये हों तब भी पूजा करनी चाहिये और इनके धारण करनेवालोंकी भी पूजा करनी चाहिये ॥ ६६ ॥

आगे—मिथ्यादृष्टि सम्यग्दृष्टी पुरुषोंको सुपात्रके लिये आहारदान देनेसे जो पुण्य प्राप्त होता है उसका विशेष फल और अपात्रोंको धन देना व्यर्थ है ऐसा दिखलाते हुये कहते हैं—

१–यहांपर 'तत् ज्ञानं परं यस्मात्' ऐसा समास करना चाहिये।

न्यग्मध्योत्तमकुत्स्यभोगजगतीभुक्तावशेषाद्वृषा-
ताद्दक्पात्रवितीर्णभुक्तिरसुदृग्देवो यथास्वं भवेत्।
सद्दृष्टिस्तु सुपात्रदानसुकृतोद्रेकात्सुभुक्तोत्तम-
स्वर्भूमर्त्यपदोऽश्नुते शिवपदं व्यर्थस्त्वपात्रे व्ययः ॥६७॥

अर्थ—[1]पात्र चार प्रकारके हैं जघन्य मध्यम उत्तम और कुपात्र। इन चारोंप्रकारके पात्रोंको आहारदान देनेवाला मिथ्यादृष्टि पुरुष मरनेके पीछे अनुक्रमसे जघन्य, मध्यम, उत्तम भोगभूमि तथा कुभोगभूमिमें जन्म लेता है, वहां कल्पवृक्षोंसे मिलनेवाले इच्छानुसार सुखोंको भोगकर आयु पूर्ण होनेके पीछे बचेहुये पुण्यके प्रभावसे जैसा दान दिया था वैसा ही देव होता है। भावार्थ—सम्यग्दृष्टि जघन्यपात्र है उसे दान

1—उत्कृष्टपात्रमनगारमणुव्रताढ्यं, मध्यं व्रतेन रहितं सुदृशं जघन्यं। निर्दर्शनं व्रतनिकाययुतं कुपात्रं, युग्मोज्झितं नरमपात्रमिदं हि विद्धि॥ अर्थ—अनगार अर्थात् सम्यग्दर्शन सहित महाव्रती दिगंबर मुनि उत्तम पात्र हैं, अणुव्रती सम्यग्दृष्टी मध्यम पात्र हैं और व्रत रहित सम्यग्दृष्टी जघन्य पात्र हैं। ये तीनों ही सत्पात्र गिने जाते हैं। सम्यग्दर्शन रहित व्रती जीव कुपात्र है तथा जो सम्यग्दर्शन और व्रत इन दोनोंसे रहित हैं वे अपात्र हैं।

उत्तमपत्तं साहू मज्झमपत्तं च सावया भणिया। अविरद-सम्माइट्ठी जहण्णपत्तं मुणेयव्वं॥ अर्थ—उत्तमपात्र साधु हैं, मध्यमपात्र अणुव्रती श्रावक हैं और जघन्यपात्र अविरत सम्यग्दृष्टी जानना।

देनेवाला मिथ्यादृष्टि जीव मरनेके पीछे जघन्य भोगभूमिमें जन्म लेता है वहांपर एक पल्यकी आयु धारणकर कल्पवृक्ष आदिसे उत्पन्न हुये विषयोपभोगोंके सुख भोगता है और आयु पूर्ण होनेपर अपने बचे हुये पुण्यके अनुसार स्वर्गमें देव होता है। सम्यग्दर्शन और अणुव्रतोंसे पवित्र श्रावक मध्यमपात्र गिना जाता है, उसे दान देनेवाला मिथ्यादृष्टि जीव मरकर मध्यम भोगभूमिमें जन्म लेता है, वहां दो पल्यकी आयु होती है, निरंतर दो पल्यतक वहांके कल्पवृक्षोंसे उत्पन्न हुये सुख भोगकर आयु पूर्ण होनेपर अपने बचे हुये पुण्यके अनुसार स्वर्गमें देव उत्पन्न होता है। इसीतरह सम्यग्दर्शन और महाव्रतोंसे विभूषित मुनि उत्तमपात्र गिने जाते हैं। उन्हें दान देनेवाला मिथ्यादृष्टि मर-कर उत्तम भोगभूमिमें जन्म लेता है, वहां तीन पल्यकी आयु होती है, तीन पल्यतक बराबर कल्पवृक्षोंसे उत्पन्न हुये अनेक तरहके सुख भोगकर बचे हुये पुण्यके अनुसार देव होता है इसमें पात्रोंके भेदसे उसके सुखमें भेद पडनेका कारण यह है कि वह जैसे पात्रको दान देता है उस पात्रके निमित्तसे उसके परिणाम भी वैसेही शुभ होते है अर्थात् उत्तम पात्रके संयो-गसे उत्तम शुभ परिणाम होते हैं और जघन्यसे जघन्य। तथा जैसे शुभ परिणाम होते हैं वैसा ही पुण्य होता है और जैसा पुण्य होता है वैसा ही भोगभूमि और स्वर्गोंके सुख मि-लते हैं। तथा जो सम्यग्दर्शनरहित है परंतु व्रत और तप

सहित है। उसे कुपात्र कहते हैं [1]कुपात्रको दान देनेवाला मिथ्यादृष्टि मरकर कुभोगभूमिमें उत्पन्न होता है । वहां एक पल्यकी आयु होती है, रहनेके लिये अच्छी अच्छी गुफायें दरी और वृक्ष हैं, खानेके लिये स्वादिष्ट मिट्टि और फल पुष्प मिलते है उन कुभोगभूमियोंमें जन्म लेनेवालोंमेंसे किसीके एक पैर होता है किसीके लंबे कान होते हैं। कोई कोई अश्वमुख गोमुख व्याघ्रमुख सींगवाले आदि अडतालीस कुभोगभूमियोंमें अलग अलग जातिके जीव निवास करते हैं वे जीव अपने समान ऐसी स्त्रीके साथ निरंतर भोगोपभोगोंका सेवन करते हुये आयु पूर्ण होनेपर बचे हुये पुण्यसे स्वर्गमें वाहनदेव, ज्योतिषी, व्यंतर, भवनवासी आदि नीच-

१–मिथ्यात्वग्रस्तचित्तेषु चारित्राभासभागिषु । दोषायैव भवेद्दानं पयःपानमिवाहिषु ॥ अर्थ–चारित्राभासको धारण करनेवाले मिथ्यादृष्टियोंको दान देना सर्पको दूध पिलानेके समान केवल अशुभके लिये ही होता है । तथापि—

कारुण्यादथवौचित्यात्तेषां किंचिद्दिशन्नपि । दिशेदुद्धृतमेवान्नं गृहे भुक्तिं न कारयेत् ॥ अर्थ–जो कदाचित् करुणाबुद्धिसे अथवा और किसी उचित संबंधसे किसीको कुछ देना हो तो अन्नादिक ही उठाकर दे देना चाहिये, उसे अपने घर भोजन कराना उचित नहीं ।

सत्कारादि विधावेषां दर्शनं दूषितं भवेत् । यथा विशुद्धमप्यंबु विषभाजनसंगमात् ॥ अर्थ–जिसप्रकार अत्यंत शुद्ध जल भी विषके पात्रमें रखनेसे दूषित हो जाता है उसीप्रकार इन कुपात्रोंके सत्कारादि करनेमें भी सम्यग्दर्शनमें दोष लगता है ।

देव होकर अंतमे अनेक दुर्गतियोंको प्राप्त होते हुये संसारमें परिभ्रमण करते हैं। यहांपर यह भी समझलेना चाहिये कि जो भोगभूमियोमें उत्पन्न होते हैं, मानुषोत्तर पर्वतसे लेकर स्वयंप्रभ पर्वत तक जो तिर्यंच हैं, तथा जो म्लेच्छ राजा हैं, हाथी घोडे आदि सुखी जानवर हैं, वैश्या आदि नीच मनुष्य हैं, जो कि भोगोपभोगोंका सुख भोगते हुये सुखी जान पडते हैं वे सब कुपात्रदानसे उत्पन्न हुये मिथ्यात्वके साथ रहनेवाले पुण्यकर्मके उदयसे ही हुये हैं। जबतक उनका पुण्योदय है तबतक ही वे सुखी रहते हैं, पीछे मिथ्यात्व कर्मके साथ होनेवाले तीव्र पापसे वे अनेक दुर्गतियोंमें दुःख पाते हैं।

इसीतरह [1]सम्यग्दृष्टी जीव सुपात्र अर्थात् महातपस्वियोंको अथवा उत्तम मध्यम जघन्य इन तीनों तरहके पात्रोंको अपने और उस पात्रके कल्याणके लिये जो कुछ दान देता है और उस दान देनेसे जो कुछ उसे पुण्य प्राप्त होता है उस पुण्यके उदयसे बडीबडी ऋद्धियोंको धारण करनेवाले कल्पवासी देवोंके सुख

१—पात्राय विधिना दत्वा दानं मृत्वा समाधिना। अच्युतांतेषु कल्पेषु जायते शुद्धदृष्टयः ॥ ज्ञात्वा धर्मप्रसादेन तत्र प्रभवमात्मनः। पूजयंति जिनार्च्यास्ते भक्त्या धर्मस्य वृद्धये ॥ अर्थ—सम्यग्दृष्टी जीव विधिपूर्वक सत्पात्रको दान देकर अंतमें समाधिपूर्वक मरणकर अच्युत स्वर्गपर्यंत किसी स्वर्गमें देव होते हैं। वहां वे धर्मके प्रसादसे स्वर्गमें अपना जन्म जानकर धर्मवृद्धिकेलिये भक्तिपूर्वक श्री जिनेंद्रदेवकी पूजा करते हैं।

भोगकर और फिर इस मनुष्य लोकमें चक्रवर्ती तीर्थंकर आदि उत्तम पदोंके सुख भोगकर तथा अंतमें दीक्षा धारणकर मोक्ष प्राप्त करता है। तथा जो सम्यग्दर्शन और व्रत दोनोंसे रहित है उसे अपात्र कहते है ऐसे अपात्रको दान देना व्यर्थ है अर्थात् विपरीत फल (दुःखादि) देनेवाला है अथवा निष्फल[1] है। अभिप्राय यह है कि पात्रको दान देनेसे अच्छा फल मिलता है और अपात्रको देना व्यर्थ जाता है उसका कुछ फल नहीं होता ॥ ६७ ॥

आगे—पात्रदानके पुण्योदयसे भोगभूमिमें जन्म लेनेवाले प्राणियोंकी जन्मसे सात सप्ताहमें ही क्या अवस्था हो जाती है वही दिखलानेके लिये कहते हैं—

अपात्रदानतः किंचिन्न फलं पापतः परं। लभ्यते हि फलं खेदो बालुकापुंजपेषणे ॥ अर्थ—अपात्रको दान देनेसे पापके सिवाय और कुछ फल नहीं मिलता। कोल्हूमें पापका समूह पेलनेसे खेद ही फल मिलता है।

अपात्राय धनं दत्ते यो हित्वा पात्रमुत्तमं। साधुं विहाय चौराय तदर्पयति स स्फुटं ॥ अर्थ— जो गृहस्थ सत्पात्रको छोडकर अपात्रको धन देता है वह साधु पुरुषको छोडकर देखते देखते चोरको अर्पण करता है।

यत्र रत्नत्रयं नास्ति तदपात्रं विदुर्बुधाः। उप्तं तत्र वृथा सर्वं ऊषरायां क्षिताविव ॥ अर्थ—जिसमें रत्नत्रय न हो वह अपात्र है उसको दिया हुआ दान ऊषरमें बोये हुये बीजके समान निष्फल है।

सप्तोत्तानशया लिहंति दिवसान्स्वांगुष्ठमार्यास्ततः
कौ रिंगंति ततः पदैः कलगिरो यांति स्खलद्भिस्ततः ।
स्थेयोभिश्च ततः कलागुणभृतस्तारुण्यभोगोद्गताः
सप्ताहेन ततो भवंति सुदृगादानेऽपि योग्यास्ततः ॥६८॥

अर्थ—भोगभूमिमें जन्मे हुये मनुष्योंको आर्य कहते हैं वे आर्य अपने जन्म दिनसे सातदिनतक अर्थात् पहिले सप्ताहमें ऊपरकी ओर अपना मुख किये हुये पडे रहते हैं और अपना अंगूठा चोंखते रहते हैं। उसके बाद सात दिनतक अर्थात् दूसरे सप्ताहमें वे पृथ्वीपर रिंगते हैं अर्थात् धीरे धीरे घुटनोंके बल चलते हैं। तदनंतर सात दिनतक अर्थात् तीसरे सप्ताहमें वे आर्य मधुर भाषण करते हुये तथा इधर उधर पडते हुये अटपटी चालसे चलते हैं। चौथे सप्ताहमें सातदिनतक पृथ्वीपर स्थिरतासे पैर रखते हुये चलते हैं। उसके बाद पांचवें सप्ताहमें सातदिनतक गाना बजाना आदि कलाओंसे तथा लावण्य आदि गुणोंसे सुशोभित हो जाते हैं। तदनंतर छट्टे सप्ताहमें सात दिनमें ही नव यौवन और अपने इष्ट भोगादिके भोगनेमें समर्थ हो जाते हैं तथा उसके बाद सातवें सप्ताहमें वे आर्यलोग सम्यग्दर्शन ग्रहण करनेके योग्य हो जाते हैं। ग्रंथकारने अपि शब्दसे आश्चर्य प्रगट किया है अर्थात् आश्चर्य है कि मनुष्य होकर भी उनंचास दिनमें ही वे बढ जाते हैं और सम्यक्त्वके योग्य हो जाते है ॥६८॥

आगे-मुनियोंको कैसा दान देना चाहिये इसीका निर्णय करनेके लिये कहते हैं—

तपःश्रुतोपयोगीनि निरवद्यानि भक्तितः ।

मुनिभ्योऽन्नौषधावासपुस्तकादीनि कल्पयेत् ॥६९॥

अर्थ-तप और श्रुतज्ञानको उपकार करनेवाले तथा आहारशुद्धिमें कहे हुये [1]उच्छिष्ट उद्गम उत्पादन आदि दोषोंसे रहित ऐसे अन्न औषधि वसतिका पुस्तक और आदि शब्दसे पीछी कमंडलु आदि पदार्थ मुनियोंके लिये भक्तिपूर्वक श्रावकको देना चाहिये ॥ ६९ ॥

१-विवर्णं विरसं विद्धमसात्म्यं प्रभृतं च यत् । मुनिभ्योऽन्नं न तद्देयं यच्च भुक्तं गदावहं ॥ उच्छिष्टं नीचलोकार्हमन्योद्दिष्टं विगर्हितं । न देयं दुर्जनस्पृष्टं देवयक्षादिकल्पितं ॥ ग्रामांतरात्समानीतं मंत्रानीतमुपायनं । न देयमापणक्रीतं विरुद्धं वा यथर्तुकं ॥ दधिसर्पिःपयोभक्ष्यप्रायं पर्युषितं मतं । गंधवर्णरसभ्रष्टमन्यत्सर्वं विनिंदितं ॥

अर्थ-जिसका वर्ण रस बिगड गया है, जो घुना हुआ है, जो प्रकृति विरुद्ध है, जो रोग उत्पन्न करनेवाला है ऐसा अन्न मुनिके लिये कभी नहीं देना चाहिये। जो उच्छिष्ट हो, नीच लोगोंके योग्य हो, किसी दूसरेके लिये तयार किया गया हो, जो निंद्य हो, जिसे किसी दुष्टने स्पर्श कर लिया हो, जिसे किसी देव या यक्षके लिये कल्पना कर-लिया हो, जो दूसरे गांवसे लाया गया हो, जो मंत्रसे अर्पितकर लाया गया हो, जो भेटमें आया हो, जो बाजारसे खरीदा गया हो, जो उस ऋतुके विरुद्ध हो, जो घी दहीमें खाने योग्य हो, जिसका गंध वर्ण

आगे—अन्न आदि दानोंके फलोंके दृष्टांत दिखलाते हैं—

भोगित्वाद्यंतशांतिप्रभुपदमुदयं संयतेऽन्नप्रदानात्
श्रीषेणो रुग्निषेधाद्धनपतितनया प्राप सर्वौषधर्द्धिं ।
प्राक् तज्जन्मर्षिवासावनशुभकरणाच्छूकरः स्वर्गमग्र्यं
कौंडेशः पुस्तकार्चावितरणविधिनाप्यागमांभोधिपारं ॥७०॥

अर्थ—राजा श्रीषेणने आदित्यगति और अरिंजय नामके चारणमुनियोंको विधिपूर्वक आहारदान दिया था उसी आहारदानके प्रभावसे वह प्रथम तो उत्तम भोगभूमिमें उत्तम आर्य हुआ और फिर कईवार स्वर्गोंके सुख भोगकर अंतमें उसने सोलहवें शांतिनाथतीर्थंकरका पद पाया। यहांपर केवल बीज मात्र दिखलाया है अर्थात् वह केवल आहारदान देनेसे ही तीर्थंकर नहीं होगया था किंतु आहारदान देनेसे उसने ऐसे पुण्य और पदकी प्राप्ति की थी कि उस पुण्यके प्रभावसे उस पदमें फिर तीर्थंकर प्रकृतिका बंध किया था। यदि वह आहारदान न देता तो उसे वह पुण्य और वह पद नहीं मिलता कि जिस पदमें जिस पुण्योदयसे वह तीर्थंकरका बंध कर सका था। इसलिये उसके तीर्थंकरपदमें भी परंपरासे आहारदान ही कारण है।

रस आदि गुण चलित होगये हों, जो जला हुआ हो तथा और भी जो निंद्य भोजन हो वह मुनिको कभी नहीं देना चाहिये।

इसीप्रकार देवकुल राजाके यहां बुहारी देनेवाली कोई कन्या थी उसने औषधदान देकर किसी मुनिका रोग दूर किया था उस औषधदानके प्रभावसे वह मरकर शेठ धनपतिकी वृषभसेना नामकी पुत्री हुई थी और वहां उसे ज्वर अतिसार आदि अनेक रोगोंको दूर करनेवाली सर्वौषधि ऋद्धि प्राप्त हुई थी। तथा एक सूकरने अपने पहिले भवमें मुनियोंके लिये बसतिका बनवानेका अभिप्राय किया था और उस भवमें मुनिकी रक्षा की थी इन दोनों कार्योंमें जो कुछ उसके शुभ परिणाम हुये थे उन शुभ परिणामोंसे वह सौधर्मस्वर्गमें बडी ऋद्धिको धारण करनेवाला उत्तम देव हुआ था। तथा गोविंद नामका एक ग्वालिया था उसने पुस्तककी पूजा कर विधिपूर्वक वह पुस्तक मुनिके लिये अर्पण की थी इसलिये उस दानके प्रभावसे वह कौंडेश नामका मुनि होकर द्वादशांग श्रुतज्ञानरूपी महासागरका पारगामी हो गया था ॥ ७० ॥

आगे—जिनधर्मकी परंपरा चलानेके लिये जो मुनि न हों तो उनकी उत्पत्ति करना और जो विद्यमान मुनि हैं उनके रत्नत्रय आदि गुण बढाते रहना इन दोनों कार्योंके लिये प्रयत्न करनेको कहते हैं—

जिनधर्मं जगद्बंधुमनुबद्धुमपत्यवत् ।
यतीन् जनयितुं यस्येत्तथोत्कर्षयितुं गुणैः ॥७१॥

अर्थ—हम लोग अपने कुलकी परंपरा निरंतर चलाने-

के लिये पुत्र पौत्र आदि संतान उत्पन्न करनेका जैसा प्रयत्न करते हैं उसीप्रकार समस्त संसारका उपकार करनेवाले जिन-धर्मको निरंतर चलानेके लिये नवीन नवीन मुनि बनानेका प्रयत्न करना चाहिये अर्थात् अच्छे अच्छे उदासीन सज्जन विद्वानोंको देखकर इसतरह प्रार्थना करना चाहिये कि जिससे वे जिनदीक्षा धारण करें। तथा उसी जिनधर्मको निरंतर चला-नेके लिये जो मुनि विद्यमान हैं उन्हें श्रुतज्ञान आदि गुणोंसे उत्कृष्ट बनानेका प्रयत्न करना चाहिये, अर्थात् उनके पठन-पाठनकी सामग्री मिलाना चाहिये और योग्य आहार औषध शास्त्र और वसतिका इनका दान देकर उनके ज्ञान तथा तपमें सहायता पहुंचाना चाहिये ॥ ७१ ॥

आगे—कदाचित् कोई यह कहे कि "इस पंचम-कालमें लोग प्रायः दुष्कर्म करनेवाले होते हैं। यदि किसीको मुनि-दीक्षा भी दी जायगी तथापि उत्कृष्ट गुण नहीं आसकते। इस-लिये मुनि बनानेका प्रयत्न करना व्यर्थ है" इसप्रकार कहने-वाले गृहस्थोंके चित्तकी तरंगोंको रोकनेके लिये कहते हैं—

श्रेयो यत्नवतोऽस्त्येव कलिदोषाद्गुणद्युतौ ।
असिद्धावपि तत्सिद्धौ स्वपरानुग्रहो महान् ॥ ७२ ॥

अर्थ—इस पंचमकालके दोषसे अथवा पापकर्मोंके दो-षसे प्रयत्न करनेपर भी जो ज्ञान तप आदि गुणोंको प्रगट कर-

नेवाले मुनि उत्पन्न नहीं हुये तथापि गुणवान मुनियोंके उत्पन्न होनेका प्रयत्न करनेवाले गृहस्थोंको पुण्य ही होता है। तथा प्रयत्न करनेपर पापकर्मोंके प्रतिघातसे कोई मुनि उत्पन्न हो-गया अर्थात् किसीने जिनदीक्षा ग्रहण कर ली तो प्रयत्न करने-वालेको, उन मुनिकी वैयावृत्य करनेवालोंको, अन्य साधर्मी लो-गोंको और साधारण लोगोंको बडा भारी उपकार होता है। इसलिये जिनदीक्षा ग्रहण करने करानेका प्रयत्न सदा करते रहना चाहिये ॥ ७२ ॥

आगे—अणुव्रत और उपचाररूप महाव्रत धारण करने-वाली स्त्रियोंको भी धर्मपात्र जानकर उनका उपकार करना चाहिये ऐसा कहते हैं—

आर्यिकाः श्रावकाश्चापि सत्कुर्याद्गुणभूषणाः ।
चतुर्विधेऽपि संघे यत्फलत्युप्तमनल्पशः ॥ ७३ ॥

अर्थ—जिनके श्रुत तप और शील आदि गुण ही आ-भूषण हैं ऐसी जो उपचारसे महाव्रत धारण करनेवाली आर्जिका हैं तथा जो अपनी शक्तिके अनुसार मूलगुण और उत्तरगुणोंको धारण करनेवाली श्राविका हैं, गृहस्थको यथायोग्य दान विनय और मान आदिसे उनका भी आदर सत्कार करना चाहिये। अपि शब्दसे यह सूचित होता है कि केवल व्रत धारण करनेवाली स्त्रियोंका ही आदर सत्कार नहीं करना चाहिये किंतु जो व्रत रहित और सम्यग्दर्शन सहित

लियें हैं उनका आदर सत्कार भी करना चाहिये। क्योंकि रत्नत्रय आदि गुणोंके समूहको धारण करनेवाले मुनि आर्जिका श्रावक श्राविका इन चार प्रकारके संघको विधिपूर्वक भोजन वसतिका आदि दिया हुआ दान अनेक प्रकारके इष्ट फलोंको देता है। ' चतुर्विधेऽपि ' इसमें जो अपि शब्द है उससे यह सूचित होता है कि केवल चार प्रकारके संघको दिया हुआ दान ही इष्ट फलोंसे नहीं फलता है किंतु अरहंतदेवकी प्रतिमा- अरहंतदेवका चैत्यालय और अरहंतदेवका कहाहुआ शास्त्र इनके लिये विधिपूर्वक दिया हुआ अपना थोडा धन भी बहुत होकर फलित होता है। अभिप्राय यह है कि जैसे चारप्रकारके संघको दिया हुआ दान बडी विभूतिके साथ फलता है उसी- प्रकार चैत्य चैत्यालय और शास्त्र इनको दिया हुआ दान भी बडी विभूतिके साथ फलता है। इसपरसे यह भी समझ लेना चाहिये कि गृहस्थको अपना धन खर्च करनेके लिये ये ऊपर लिखे हुये सात स्थान है। इन्हीं सातों स्थानोंमें गृहस्थोंको अपना धन खर्च करना चाहिये। इनमें धन खर्च करनेसे बडा भारी पुण्य होता है।

धर्मपात्रोंका उपकार करना गृहस्थके लिये एक आवश्यक कार्य है अर्थात् गृहस्थको अवश्य करना चाहिये यह बात कह चुके ॥७३॥

अब आगे—गृहस्थको कार्यपात्रोंके उपकार करनेका विधान बतलाते हैं—

धर्मार्थकामसध्रीचो यथौचित्यमुपाचरन् ।
सुधीस्त्रिवर्गसंपत्त्या प्रेत्य चेह च मोदते ॥७४॥

अर्थ—जो बुद्धिमान पुरुष धर्म अर्थ और काम इन तीनों पुरुषार्थोंके साधन करनेमें सहायता पहुंचानेवाले पुरुषोंको यथायोग्य अर्थात् जो जिसके योग्य है उसको उसीतरह दान मान आदि देकर उपकार करता है वह पुरुष इस जन्म और परलोक दोनों लोकोंमें धर्म अर्थ काम इन तीनों पुरुषार्थोंकी संपदाओंसे आनंदित होता है। इस श्लोकमें जो दो 'च' शब्द दिये हैं वे यह सूचित करते हैं कि धर्म अर्थ काम इन पुरुषार्थोंकी सहायता पहुंचानेवालोंको दान मान आदि देनेसे जैसा इस· लोकमें तीनों पुरुषार्थोंकी संपदाओंका आनंद प्राप्त होता है ठीक वैसा ही आनंद परलोकमें भी मिलता है। भावार्थ—दोनों लोकोंमें उसे समान आनंद मिलता है—

इसप्रकार समानदत्ति और पात्रदत्ति इन दोनोंका निरूपण अच्छीतरह कर चुके ॥ ७४ ॥

अब आगे—गृहस्थको दयादत्ति अवश्य अवश्य करना चाहिये ऐसा उपदेश देते हुये कहते हैं—

सर्वेषां देहिनां दुखाद्बिभ्यतामभयप्रदः ।
दयार्द्रो दातृधौरेयो निर्भीः सौरूप्यमश्नुते ॥ ७५ ॥

अर्थ—जो गृहस्थ मन और शरीर संबंधी संताप आदि दुखोंसे भयभीत (डरे हुये) ऐसे समस्त प्राणि-

योंको जो [1]अभयदान देता है अर्थात् सबका भय दूर करता है वही दयालु है और वही अन्न आदि दान देनेवालोंमें मुख्य है । ऐसा पुरुष निर्भय होकर सुंदरता, तथा उपलक्षणसे स्थिरता, गंभीरता, पराक्रम, प्रभावशालीपना, सौभाग्य, शांतपना, नीरोगपना, अनेक तरहके भोगोपभोग, यशस्वीपना और बडी

१-तेनाधीतं श्रुतं सर्वं तेन तप्तं परं तपः । तेन कृत्स्नं कृतं दानं यः स्यादभयदानवान् ॥ अर्थ-जिसने एक अभयदान ही दिया उसने समस्त द्वादशांगका अध्ययन किया, उत्कृष्ट तप किया और आहार आदि समस्त दान दिये ऐसा समझना चाहिये ।

धर्मार्थकाममोक्षाणां जीवितं मूलमिष्यते । तद्रक्षता न किं दत्तं हरता तन्न किं हृतं ॥ अर्थ-धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थोंका मूल कारण एक जीवन ही है । जिसने ऐसे इस जीवनकी रक्षा की उसने क्या नहीं दिया अर्थात् सब कुछ दिया । तथा जिसने इसका हरण किया उसने सब कुछ हरण कर लिया ।

दानमन्यद्भवेन्मा वा नरश्चेदभयप्रदः । सर्वेषामेव दानानां यतस्तद्दानमुत्तमं ॥ अर्थ-जो मनुष्य अभयदान देता है वह अन्य दान दे अथवा न दे क्योंकि सब दानोंमें एक अभयदान ही उत्तम दान है । उसे देनेवाला मनुष्य स्वयं उत्तम हो जाता है ।

यो भूतेष्वभयं दद्याद्भूतेभ्यस्तस्य नो भयं । यादृग्वितीर्यते दानं तादृगास्याद्यते फलं ॥ अर्थ-जो समस्त प्राणियोंको अभयदान देता है उसको किसी भी प्राणीसे भय नहीं होता क्योंकि जो जैसा दान देता है उसे वैसा ही फल मिलता है ।

आयु आदि अनेक लोकोत्तर (उत्कृष्ट) गुणोंको प्राप्त होता है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चारों ही पुरुषार्थ जीवित रहनेपर सिद्ध हो सकते हैं इसलिये जीवन अर्थात् अभयदान देनेवालोंको कौन कौनसे इच्छानुसार पदार्थ प्राप्त नहीं होते है? अर्थात् सब ही होते हैं। भावार्थ—अभयदान देना सबसे उत्तम दान है॥७५॥

आगे—पहिले जो कर्म धर्म्यं इत्यादि २१ वें श्लोकमें कहा था उसीका कुछ विस्तार करते हैं उसमें भी अपने आश्रित लोगोंको पोषण और निराश्रित लोगोंको करुणाबुद्धिसे दान देकर दिनमें भोजन करना चाहिये और पानी आदि चीजोंका वह रात्रिमें भी त्याग नहीं कर सकता येही सब बातें दिखलाते हैं—

सौरूप्यमभयादाहुराहाराद्भोगवान् भवेत्। आरोग्यमौषधाज् ज्ञेयं श्रुतात्स्यात्श्रुतकेवली ॥ अर्थ—अभयदानसे सुंदररुप आहारदानसे भोगोपभोग और औषधदानसे आरोग्य मिलता है तथा शास्त्रदान अर्थात् विद्यादान देनेसे श्रुतकेवली होता है।

मनोभूरिव कांतांगः सुवर्णाद्रिरिव स्थिरः । सरस्वानिव गंभीरो विवस्वानिव भासुरः ॥ आदेयः सुभगः सौम्यस्त्यागी भोगी यशोनिधिः। भवत्यभयदानेन चिरजीवी निरामयः ॥ अर्थ—अभयदान देनेवाला मनुष्य कामदेवके समान सुंदर, मेरूपर्वतके समान स्थिर, समुद्रके समान गंभीर, सूर्यके समान तेजस्वी, प्रभावशाली शरीर धारण करनेवाला, सबको प्रिय, शांत, त्यागी, भोगी, यशस्वी, चिरजीवी और नीरोग होता है।

भृत्वाश्रितानवृत्त्यार्तान् कृपयानाश्रितानपि ।

भुंजीतान्ह्यंबुभैषज्यतांबूलैलादि निश्यपि ॥ ७६ ॥

अर्थ——अन्य किसी जीविकाके न होनेसे जिनका चित्त व्याकुल रहता है ऐसे आश्रित लोगोंको अर्थात् अपने सिवाय और कोई जिनका आश्रय नहीं है ऐसे सेवक पशु आदिकोंको, तथा जो अनाश्रित हैं जिनका संसारमें कोई आश्रय नहीं है ऐसे अनाथ मनुष्य और पशुओंको करुणाबुद्धिसे खिला पिलाकर फिर आप दाल भात आदि भोजन करे और वह दिनमें ही करे रातमें नहीं। पाक्षिक श्रावक रात्रिमें केवल जल,औषधि, पान, सुपारी, इलायची, और आदि शब्दसे जायफल कपूर मुखको सुगंध करनेवाले द्रव्य खा[1] सकता है ॥ ७६ ॥

आगे——स्वस्त्री, पुष्पमाला आदि जो सेवन करनेयोग्य पदार्थ हैं वे भी जबतक प्राप्त न होसके तबतककी मर्यादा

१–तांबूलमौषधं तोयं मुक्त्वाहारादिकां क्रियां । प्रत्याख्यानं प्रदीयेत यावत्प्रातर्दिनं भवेत् ॥ अर्थ–तांबूल औषध और जल इन पदार्थोंको छोडकर शेष पदार्थोंकी आहारादि क्रियाका त्याग रात्रिके प्रारंभसे प्रातःकालतक करना चाहिये । (नोट) आजकल जो रातमें बहुतसे लोग पेडा बरफी रबडी आदि खाते हैं वह बिलकुल शास्त्रविरुद्ध और बुरी चाल है। गृहस्थोंको पान सुपारी आदि ऊपर लिखे पदार्थोंके सिवाय रातमें कुछ नहीं खाना चाहिये ।

लेकर उनका त्याग करना चाहिये, क्योंकि ऐसे त्यागका भी फल अवश्य मिलता है इसी बातको समर्थन करते हैं–

यावन्न सेव्या विषयास्तावत्तानाप्रवृत्तितः।
व्रतयेत्सव्रतो दैवान्मृतोऽमुत्र सुखायते ॥ ७७ ॥

अर्थ—अपने सेवन करने योग्य जो स्वस्त्री पान आदि पदार्थ हैं उनके सेवन करनेमें जबतक अपनी प्रवृत्ति न हो अर्थात् जबतक उनके मिलनेकी संभावना न हो, गृहस्थोंको तब-तकके लिये उनका त्याग कर देना चाहिये। क्योंकि जो कदा-चित् दैवयोगसे बीचमें ही मरण हो गया तो व्रत सहित होनेसे अर्थात् मरनेके समय व्रती होनेसे उसे परलोकमें सुख मिलता है ॥ ७७ ॥

आगे—तपश्चरण भी अपनी शक्तिके अनुसार करना चाहिये ऐसा जो पहिले कह चुके थे उसीकी [विशेष] विधि दिखलाते हैं–

पंचम्यादिविधिं कृत्वा शिवांताभ्युदयप्रदं।
उद्योतयेद् यथासंपन्निमित्ते प्रोत्सहेन्मनः ॥ ७८ ॥

अर्थ—गृहस्थोंको इंद्र चक्रवती आदि अनेक सुख और अंतमें मोक्षसुख देनेवाले ऐसे पंचमी पुष्पांजलि मुक्तावलि रत्नत्रय आदि विधानोंको विधिपूर्वक पालनकर अंतमें अपनी संपत्ति और विभूतिके अनुसार उनका उद्यापन

करना चाहिये। यहां कदाचित् कोई ऐसी शंका करे कि नित्यानुष्ठानमें यह सब है ही फिर यहां इसे विशेष क्यों कहा है तो इसके उत्तरमें ग्रंथकार कहते हैं कि नित्य अनुष्ठानकी अपेक्षा नैमित्तक अनुष्ठान करनेमें गृहस्थोंका चित्त अत्यंत उत्साहको प्राप्त होता है अर्थात् नैमित्तक अनुष्ठानोंमें गृहस्थोंका चित्त अधिक लगता है ॥ ७८ ॥

आगे—व्रतोंका ग्रहण करना, रक्षा करना और दैवयोगसे भंग होनेपर प्रायश्चित लेकर फिर स्थापन करना इन सबकी विधि कहते हैं—

समीक्ष्यव्रतमादेयमात्तं पाल्यं प्रयत्नतः ।
छिन्नं दर्पात्प्रमादाद्वा प्रत्यवस्थाप्यमंजसा ॥ ७९ ॥

अर्थ—अपना कल्याण करनेवाले पुरुषोंको अपनी शक्ति, देश, काल, अवस्था और सहायक आदिकोंका अच्छी-तरह विचारकर व्रत ग्रहण करना चाहिये। तथा जो व्रत ग्रहणं करलिये हैं उन्हें बडे प्रयत्नसे पालन करना चाहिये, और कदाचित् किसी मदके आवेशसे अथवा असावधानीसे व्रतका भंग हो जाय अथवा भारी अतिचार लग जाय तो उसी समय प्रायश्चित्त लेकर फिरसे धारण करना चाहिये वा निर्मल करना चाहिये। भावार्थ—अपनी सबतरहकी शक्ति देखकर व्रत लेना चाहिये, लिये हुये व्रतोंकी रक्षा करनी चाहिये और कदाचित् किसीतरह व्रतका भंग हो गया तो प्रायश्चित्तसे शुद्धकर पालन करना चाहिये ॥ ७९ ॥

आगे—व्रतका लक्षण कहते हैं—

संकल्पपूर्वकः सेव्ये नियमोऽशुभकर्मणः ।
निवृत्तिर्वा व्रतं स्याद्वा प्रवृत्तिः शुभकर्मणि ॥८०॥

अर्थ—स्वस्त्री, तांबूल, गंध आदि जो सेवन करनेयोग्य भोगोपभोगके पदार्थ हैं उनमें संकल्पपूर्वक नियम करना कि मैं इतने पदार्थोंको इतने कालतक सेवन नहीं करुंगा अथवा मैं इतने पदार्थोंको इतने दिनोंतक ही सेवन करूंगा आगे नहीं। इस प्रकार संकल्पपूर्वक त्याग करनेको व्रत कहते हैं। अथवा हिंसा आदि अशुभकर्मोंका संकल्पपूर्वक त्याग करना व्रत है। अथवा पात्रदान आदि शुभकर्मोंमें प्रवर्त होना भी व्रत है। भावार्थ—व्रत दो प्रकारके हैं प्रवृत्तिरूप और निवृत्तिरूप। अशुभ कर्मोंका त्याग करना निवृत्तिरूप है और शुभकार्योंका करना प्रवृत्तिरूप है। कितने ही व्रत दोनों रूपसे होते हैं ॥ ८० ॥

आगे—विशेष आगमका प्रमाण देकर जीवोंकी रक्षा करनेकी विधि कहते हैं—

न हिंस्यात्सर्वभूतानीत्यार्षं धर्मे प्रमाणयन् ।
सागसोऽपि सदा रक्षेच्छक्त्या किं नु निरागसः ॥ ८१ ॥

अर्थ—"कल्याण चाहनेवालोंको त्रस और स्थावर समस्त जीवोंमेंसे संकल्पपूर्वक किसीकी हिंसा भी नहीं करनी चाहिये" ऐसा महा ऋषियोंने कहा है। इसका प्रमाण मान-

कर धर्मात्मा पुरुषोंको धर्मकेलिये अपनी शक्तिके अनुसार अपराधी जीवोंकी सदा रक्षा करनी चाहिये। तथा जो निरपराधी जीव हैं उनकी विशेष रक्षा करनी चाहिये ॥ ८१ ॥

आगे—संकल्पी हिंसाके त्यागका उपदेश देते हुये प्रकारांतरसे उसे समर्थन करते हैं—

आरंभेऽपि सदा हिंसां सुधीः सांकल्पिकीं त्यजेत्।
घ्नतोऽपि कर्षकादुच्चैः पापोऽघ्नन्नपि धीवरः ॥ ८२ ॥

अर्थ—जो शास्त्रानुसार हिंसाके फलको अच्छीतरह जानता है उसे सुधी कहते हैं ऐसे सुधी अर्थात् विद्वान पुरुषको जिनपूजा पात्रदान और कुटुंबपोषण आदिके लिये खेती व्यापार आदि आजीविकाके कार्योंको करते हुये भी उन कार्योंमें संकल्पी हिंसा अर्थात् मैं अमुक प्रयोजनकेलिये इस जीवको मारूंगा ऐसी संकल्पपूर्वक हिंसाका त्याग सदाकेलिये अवश्य कर देना चाहिये। क्योंकि आरंभी हिंसाका त्याग उससे हो नहीं सकता, इतना अवश्य है कि खेती व्यापार आदि आरंभ भी उसे यत्नपूर्वक करने चाहिये। इसका अभिप्राय यह है कि संकल्पी हिंसामें बहुत पाप होता है आरंभी हिंसामें उतना पाप नहीं होता। इसीको दृष्टांत द्वारा दिखलाते हैं। जो किसान विना संकल्पके देव ब्राह्मण और कुटुंबपोषणके लिये खेती करनेमें बहुतसी हिंसा

करता है उसकी अपेक्षा मछली पकडनेवाला धीवर कि जिसने मछलियां पकडनेकेलिये जाल फैला रक्खा है वह यदि हिंसा न भी कर सके अर्थात् यदि उसके जालमें एक भी मछली न आवे तथापि वह [1]महा पापी है। भावार्थ—खेती आदिके करनेमें हिंसा होती ही है तथापि उसमें संकल्प नहीं करना चाहिये। क्योंकि संकल्प करनेसे ही अधिक हिंसाका भागी होता है। धीवर मछलियोंके मारनेका संकल्पकर जाल फैलाता है, इसलिये जालमें मछली न आनेपर भी उसे भारी हिंसाका पाप लगता है। तथा खेती करनेवाला विना संकल्पके अनेक जीवोंका घात करता है तो भी वह हिंसक नहीं कहलाता॥८२॥

आगे—अन्यमतावलंबियोंने सिंह आदि घातक जीवोंकी हिंसा करनेका विधान तथा दुखी सुखी आदि जीवोंके घात करनेका विधान कहा है उसके निराकरण करनेके लिये कहते हैं—

१—अघ्नन्नपि भवेत्पापी निघ्नन्नपि न पापभाक्। अभिध्यानविशेषेण यथा धीवरकर्षकौ ॥ अर्थ—यह जिनमतका एक विलक्षण रहस्य है कि जीवोंका घात करता हुआ भी पापी नहीं होता और हिंसा नहीं भी करता हुआ पापी होता है यह केवल संकल्पका फल है जैसे कि किसान और धीवर। किसान खेती आदिमें हिंसा करता हुआ भी पापी नहीं है और धीवर जालमें मछली नहीं आनेपर भी संकल्प करनेसे ही महा पापी है।

हिंस्र दुःखिसुखिप्राणिघातं कुर्यान्न जातुचित्।
अतिप्रसंगश्वभ्रार्तिसुखच्छेदसमीक्षणात्॥ ८३ ॥

अर्थ—अपना कल्याण चाहनेवाले गृहस्थोंको हिंसक दुखी, सुखी आदि जीवोंका भी कभी घात नहीं करना चाहिये, क्योंकि ऐसा करनेसे नीचे लिखे हुये अतिप्रसंग आदि दोष आते हैं। क्रमसे उन्हीं दोषोंको दिखलाते हैं। कितने ही लोगोंका ऐसा मत है कि "सिंह व्याघ्र सर्प रींछ आदि जो हिंसक पशु हैं उन्हें अवश्य मार देना चाहिये क्योंकि वे सदा अपनेसे अशक्त जीवोंको मारते रहते हैं इसलिये उनसे दूसरे जीवोंको भी दुःख होता है और उन्हें स्वयं बहुत हिंसा लगती है। जिससे वे जन्मांतरमें दुर्गतिको प्राप्त होते हैं, यदि ऐसे सिंह आदि जीव मार दिये जायंगे तो वे भी अधिक पाप करनेसे बचेंगे और दूसरे जीवोंको भी दुःख न होगा" परंतु यह उनका कहना ठीक[1] नहीं है क्योंकि अतिप्रसंग दोष आता

१–रक्षा भवति बहूनामेकस्यैवास्य जीवहरणेन। इति मत्वा कर्तव्यं न हिंसनं हिंस्रसत्त्वानां॥ अर्थ–इस एकही जीवके मारनेसे बहुतसे जीवोंकी रक्षा होती है ऐसा मानकर हिंसक जीवोंका घात कभी नहीं करना चाहिये।

बहुसत्त्वघातिनोऽमी जीवंत उपार्जयंति गुरुपापं। इत्यनुकंपां कृत्वा न हिंसनीयाः शरीरिणो हिंस्राः॥ अर्थ–'बहुत जीवोंको घात करनेवाले ये जीव जीते रहेंगे तो अधिक पाप उपार्जन करेंगे' इसप्रकारकी दया करके हिंसक जीवोंको नहीं मारना चाहिये।

है। देखो, "हिंसक जीवोंको मार देना चाहिये" ऐसा कहनेवाला भी हिंसाका उपदेश देता है इसलिये वह भी हिंसक हुआ तो फिर उसका भी घात करना चाहिये और फिर उसको मारनेवाला भी हिंसक हुआ इसलिये उसका भी घात करना चाहिये। इसतरह ऐसे मतवालोंको लाभके बदले उनके मूलका ही नाश हो जायगा। तथा अन्य बहुतसे जीवोंकी रक्षा करनेके अभिप्रायसे हिंसक जीवोंका घात करनेसे भी धर्मका संचय अथवा पापका नाश नहीं हो सकता क्योंकि धर्मका संचय अथवा पापका नाश तो दया करनेसे होता है हिंसासे नहीं। इसलिये कोई जीव चाहे जैसा हिंसक हो तथापि उसका वध कभी नहीं करना चाहिये। इसीतरह कितने ही लोगोंका ऐसा मत है कि "जो जीव दुखी हैं उनको मारकर दुःखसे छुडा देना चाहिये" परंतु उनका यह कहना भी असंगत[1] है क्योंकि उनके मारनेसे इसलोकमें होनेवाले दुःख किसीतरह छूट भी गये तो भी वह इस दुर्मरणसे मरकर नरकमें पडा तो वहां उसे असंख्यात वर्षपर्यंत असह्य दुःख भोगने

१– बहुदुःखा संज्ञपिताः प्रयांति त्वचिरेण दुःखविच्छित्तिं। इति वासनाकृपाणीमादाय न दुःखिनोऽपि हंतव्याः ॥ अर्थ–'अनेक दुःखोंसे पीडितहुये जीवोंको मार देनेसे उनका दुःख शीघ्र ही नष्ट हो जायगा' इसप्रकार तर्कवितर्करूपी तलवारको स्वीकारकर दुःखी जीवोंको भी नहीं मारना चाहिये।

पड़ेंगे इसलिये उनका यह कहना थोडेसे दुःखसे छुडाकर अधिक दुःखमें डालदेनेके समान है। जिस अशुभ कर्मके उदयसे उसे दुःख हुआ है उसके मारनेसे वह कर्म नष्ट नहीं हो जाता, इसलिये उसको तो फिर भी दुःख होगा ही परंतु मारनेवाला उसे मारकर व्यर्थ ही पापका भार लेता है, इसलिये कितने ही दुःखोंसे दुःखी क्यों न हों उनका घात नहीं करना चाहिये। अन्य कितने ही महाशयोंका ऐसा मत है कि "जो जीव सुखी हैं उन्हें मार देना अच्छा है, क्योंकि संसारमें सुख दुर्लभ है, जो जीव सुखावस्थामें मार दिये जायंगे वे सुखी ही होंगे, इसलिये सुखी जीवोंको सदा सुखी बनानेके लिये मार देना अच्छा है" परंतु उनका यह कहना भी [1]भूलसे भरा हुआ है। क्योंकि सुखी जीवके मारनेसे उसके चित्तको अत्यंत क्लेश होता है, मरनेमें वह दुःखी होता है, इसलिये उसके सुखका नाश हुआ,

१–कृच्छ्रेण सुखावाप्ति र्भवंति सुखिनो हताः सुखिन एव। इति तर्कमंडलाग्रः सुखिनां घाताय नादेयः॥ अर्थ–"सुखकी प्राप्ति बडी कठिनतासे होती है इसलिये मारे हुये सुखी जीव सुखी ही होंगे" सुखी जीवोंका घात करनेके लिये इसप्रकार कुतर्ककी तलवार कभी हाथमें नहीं लेनी चाहिये।

उपलब्धिसुगतिसाधनसमाधिसारस्य भूयसोऽभ्यासात्। स्वगुरोः शिष्येण शिरो न कर्तनीयं सुधर्ममभिलषिता॥ अर्थ–सत्यधर्मकी अभिलाषा करनेवाले शिष्यको अधिक अभ्यास करनेसे मोक्षका कारण ऐसा समाधिका सार अर्थात् ध्यान प्राप्त करनेवाले अपने गुरुका मस्तक नहीं काट डालना चाहिये।

इसके सिवाय उसकी इसप्रकार मृत्यु होनेसे उसके आर्तध्यान और रौद्रध्यान होता है जिससे मरकर वह दुर्गतिको जाता है और वहां उसे अनेक प्रकारके दुःख भोगने पडते हैं, इसलिये सुखी जीवको मारना उसके वर्तमान सुखका नाश करना और उसे दुर्गतिमें डालना है। इसलिये सुखी जीवका घात भी कभी नहीं करना चाहिये। इनके सिवाय और भी बहुतसे ऐसे मत हैं जो ऐसी ऐसी हिंसामें धर्म मानते हैं परंतु उन सबका समाधान अन्य शास्त्रोंमें लिखा है इसलिये इस प्रकरणको यहां-पर नहीं बढाते हैं। इस सबका अभिप्राय यह है कि हिंसा चाहे स्वगत (अपनी) हो अथवा परगत (दूसरे जीवकी हिंसा) उससे धर्मोपार्जन कभी नहीं हो सकता उसके करनेसे केवल पापका बोझा ही लादना पडता है ऐसा जानकर धर्मकी इच्छा करनेवालोंको अपनी शक्तिके अनुसार हिंसाके त्याग करनेका सदा प्रयत्न करते रहना चाहिये। यही आप्तसूक्तोपनिषत् अर्थात अरहंतदेवका कहा हुआ उत्तम युक्तियोंसे भरा हुआ सुंदर वाक्य है ॥८२॥

धर्मो हि देवताभ्यः प्रभवति ताभ्यः प्रदेयमिह सर्वं। इति दुर्विवेककलितां धिषणां न प्राप्य देहिनो हिंस्याः ॥ अर्थ—धर्म देवतासे उत्पन्न होता है इसलिये इसलोकमें उनके लिये सब कुछ दे देना योग्य है ऐसे अविवेकसे भरी हुई बुद्धिको पाकर देहधारी जीवोंको नहीं मारना चाहिये।

आगे–पाक्षिक श्रावकको सम्यग्दर्शनको विशुद्ध रखनेके लिये तथा लोगोंका चित्त संतुष्ट करनेके लिये क्या क्या करना चाहिये सो कहते हैं–

स्थूललक्षः क्रियास्तीर्थयात्राद्या दृग्विशुद्धये ।
कुर्यात्तथेष्टभोज्याद्याः प्रीत्या लोकानुवृत्तये ॥८४॥

अर्थ–जिसके व्यवहार ही प्रधान है और जो दान देनेमें उदार है ऐसे गृहस्थको स्थूललक्ष कहते हैं। ऐसे पाक्षिक श्रावकको सम्यग्दर्शन निर्मल करनेकेलिये तीर्थयात्रा अर्थात् सम्मेदाचल गिरनार आदि जहां कि पहिले तीर्थंकर आदि पुण्यपुरुषोंने निवास किया था उनकी यात्रा करना, रथयात्रा करना, मुनियोंकी यात्रा कराना (यात्राके लिये संघ निकालना) और यदि शहरके पास कोई नशियां (शहरके पास बाहर जो मंदिर होता है उसे नशियां कहते हैं) हो तो वहांकी

को नाम विशति मोहं नयभंगविशारदानुपास्य गुरून् ।
विदित जिनमतरहस्यः श्रयन्नहिंसां विशुद्धमतिः ॥

अर्थ–नयभंगोंके जाननेमें प्रवीण ऐसे गुरुओंकी उपासना कर जिन-मतके रहस्योंको जाननेवाला और निर्मलबुद्धिको धारण करनेवाला ऐसा कौन है जो अहिंसाधर्मको जानकर स्वीकार करता हुआ भी पूर्वोक्त मतोंमें मूढताको प्राप्त हो ? अर्थात् कोई बुद्धिमान् ऐसे हिंसक मतोंमें प्रवर्त नहीं होता।

यात्रा निकालना इत्यादि क्रियायें करनी चाहिये। तथा लोगोंके चित्त संतुष्ट करनेकेलिये प्रीतिपूर्वक समानधर्मी श्रावकोंको, इष्ट मित्रोंको और कुटुंबी लोगोंको अपने घर भोजन कराना चाहिये। आये हुये अतिथियोंका सत्कार और [1]भूतबलि आदि क्रियायें भी करना चाहिये ॥ ८४ ॥

आगे–अपना कल्याण चाहनेवालोंको कीर्ति भी संपादन करना चाहिये ऐसा कहते हैं—

अकीर्त्या तप्यते चेतश्चेतस्तापोऽशुभास्रवः।
यत्तत्प्रसादाय सदा श्रेयसे कीर्तिमर्जयेत् ॥८५॥

अर्थ–अपयशसे अथवा यशके न होनेसे चित्तको संताप होता है तथा चित्तको संताप होना अर्थात् मनकी कलुषता होना पापका कारण है। इसलिये गृहस्थको पुण्योपार्जन करनेकेलिये चित्त प्रसन्न रखना चाहिये और चित्त प्रसन्न करनेकेलिये कीर्ति संपादन करना चाहिये। अथवा पुण्य बढानेकेलिये और अपना चित्त प्रसन्न करनेके लिये अपना यश फैलाना चाहिये ॥८५॥

आगे—कीर्ति संपादन करनेका उपाय बतलाते हैं–

परासाधारणान्गुण्यप्रगण्यानघमर्षणान्।
गुणान् विस्तारयेन्नित्यं कीर्तिविस्तारणोद्यतः ॥८६॥

१–यक्षोंके लिये जो भेट दीजाती है उसे भूतबलि कहते हैं। यह क्रिया भी गृहस्थोंके लिये ग्राह्य है।

अर्थ—जिस पुरुषको चारों ओर अपनी कीर्ति फैलानेकी इच्छा है अर्थात् जो अपना यश फैलाना चाहता है उसे यश फैलानेके लिये जो अन्य साधारण मनुष्योंमें नहीं हो सकें, जिन्हें गुणवान लोग भी उत्कृष्टतासे मानें और जो पापोंको नाश करनेवाले हैं ऐसे सत्य, दान, शौच और शील आदि गुणोंको धारण कर नित्य बढाते रहना चाहिये ॥ ८६ ॥

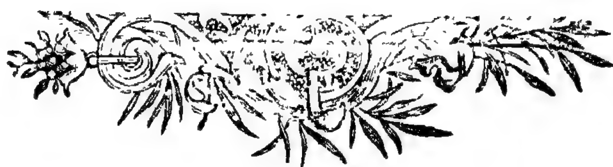
आगे—इसप्रकार आचरण धारण करनेवाले पाक्षिक श्रावकको अनुक्रमसे एक एक सीढी चढकर अंतमें मुनिव्रत स्वीकार करना चाहिये ऐसा कहते हैं—

सैषः प्राथमकल्पिको जिनवचोऽभ्यासामृतेनासकृ-
न्निर्वेदद्रुममावपन् शमरसोद्गारोद्धुरं बिभ्रति।
पाकं कालिकमुत्तरोत्तरमहांत्येतस्य चर्याफला-
न्यासाद्योद्यतशक्तिरुद्धचरितप्रासादमारोहतु ॥ ८७ ॥

अर्थ—जिसने एकदेश संयम पालन करना प्रारंभ किया है ऐसा यह पाक्षिक श्रावक जिनेंद्रदेवके कहे हुये शास्त्रोंके अभ्यास करनेरूप अमृतसे वैराग्यरूप वृक्षको अर्थात् संसार शरीर और भोगोपभोगसे विरक्त होनेरूप वृक्षको (वैराग्यभावनाको) बार बार सिंचन करता हुआ तथा रसनाइंद्रियके द्वारा ग्रहण करने योग्य ऐसे प्रशम सुखरूपी (शांतताके सुखरूपी) रसके प्रगट होनेसे जो उत्कृष्ट माने जाते हैं और जो काललब्धिके

अनुसार प्राप्त हुये हैं ऐसे आत्माके परिणामोंको धारण करनेवाले तथा उत्तरोत्तर बढते हुये ऐसे वैराग्यरूपी वृक्षके दर्शनिक व्रत आदि ग्यारह प्रतिमारूप फलोंका स्वाद लेता हुआ अर्थात् अनुभव करता हुआ और उन प्रतिमारूप फलोंके स्वाद लेनेसे ही जिसकी सामर्थ्य प्रगट होगई है ऐसा यह पाक्षिक श्रावक सल्लेखनाके अंतमें होनेवाला जो मुनियोंका धर्मरूप राजभवन है उसपर चढौ। भावार्थ— इस पाक्षिक श्रावकको स्वाध्याय आदिके द्वारा भोगादिकोंसे उदास होकर अनुक्रमसे ग्यारह प्रतिमाओंको धारण करते हुये सल्लेखना अर्थात् ग्यारहवीं प्रतिमाके अंतमें मुनिव्रत धारण करना चाहिये।

इसप्रकार पंडितप्रवर आशाधरविरचित स्वोपज्ञ सागारधर्मको प्रकाश करनेवाली भव्यकुमुदचंद्रिका टीकाके अनुसार हिंदीभाषानुवादमें दूसरा अध्याय (प्रारंभसे ग्यारहवां) समाप्त हुआ।



तीसरा अध्याय

आगे—प्रथम ही नैष्ठिकका लक्षण कहते हैं—

देशयमघ्नकषायक्षयोपशमतारतम्यवशतः स्यात् ।
दर्शनिकाद्येकादशदशावशो नैष्ठिकः सुलेश्यतरः ॥१॥

अर्थ—देशसंयमको घात करनेवाले अप्रत्याख्यानावरण संबंधी क्रोध, मान, माया, लोभरूप कषायका ज्यों ज्यों [1]क्षयोपशम होता जाता है अर्थात् जिसमें मद्यत्याग आदि मूलगुण अतिचार रहित निर्मल पालन किये जाते हैं और शुद्ध सम्यग्दर्शन है ऐसी दर्शनप्रतिमासे लेकर आगे अप्रत्याख्यानावरण कषायोंका जैसाजैसा अधिक क्षयोपशम होता जाता है उसीके अनुसार दर्शनिक व्रत आदि जो संयमके ग्यारह स्थान प्रगट होते हैं जिन्हें ग्यारह प्रतिमा कहते हैं। उन ग्यारह प्रतिमाओंके जो वशीभूत है, आधीन है अर्थात् उन ग्यारह प्रतिमाओंका जो पालन करते हैं। भावार्थ—जो

१—अनंतानुबंधी क्रोध मान माया लोभ, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ इन सर्वघाती आठों प्रकृतियोंके उदयाभावी क्षय होनेसे तथा इन्हीं आठों प्रकृतियोंकी सत्तावस्थाका उपशम होनेसे और प्रत्याख्यानावरण संज्वलन नोकषाय इन देशघाती प्रकृतियोंका यथासंभव उदय होनेसे देशसंयम प्रगट होता है।

घटमान देशसंयम श्रावक हैं, तथा जिनके द्वारा यह जीव पुण्य और पापोंको स्वयं स्वीकार करे अथवा जो आत्माको कृश कर दें अर्थात् जिनके द्वारा आत्माके गुण ढक जायं ऐसी जो कषायके उदयसे मिली हुई योगोंकी प्रवृत्ति है उसे भाव लेश्या कहते हैं। शरीरके वर्णको द्रव्य लेश्या कहते हैं ये दोनों ही प्रकारकी लेश्यायें कृष्ण नील कापोत पीत पद्म और शुक्लके भेदसे छह प्रकारकी होती हैं। इन छह प्रकारकी [1]लेश्याओंमेंसे जिसके प्रशस्त लेश्या हैं और वे भी आगे आगे अधिक अधिक प्रशस्त होती गई हैं अर्थात् पाक्षिक की अपेक्षा दर्शन प्रतिमावालेके उत्कृष्ट लेश्यायें

१–लिम्पत्यात्मीकरोत्यात्मा पुण्यपापे यया स्वयं। सा लेश्येत्युच्यते सद्भिर्द्विविधा द्रव्यभावतः॥ अर्थ–जिसके निमित्तसे आत्मा स्वयं पुण्य पापको स्वीकार करता है उसे लेश्या कहते हैं वह दो प्रकारकी है एक द्रव्य लेश्या और दूसरी भाव लेश्या।

प्रवृत्तिर्यौगिकी लेश्या कषायोदयरंजिता। भावतो द्रव्यतो देहच्छविः षोढोभयी मता॥ अर्थ–कषायोंके उदयसे मिली हुई योगोंकी प्रवृत्तिको भाव लेश्या कहते हैं और शरीरके काले पीले आदि वर्णको द्रव्य लेश्या कहते हैं। इन दोनोंके ही छह छह भेद हैं–

कृष्णा नीलाथ कापोती पीता पद्मा सिता स्मृता। लेश्या षड्भिः सदा ताभिर्गृह्यते कर्म जन्मिभिः॥ अर्थ– कृष्णा नीला कापोती पीता पद्मा शुक्ला– ये छह लेश्या हैं। संसारमें समस्त जीव इन छहों लेश्याओंके द्वारा कर्म ग्रहण करते हैं।

हैं तथा दर्शन प्रतिमावालेसे दूसरी व्रत प्रतिमावालेके उत्कृष्ट हैं, दूसरीसे तीसरी प्रतिमामें उत्कृष्ट अर्थात् अधिक शुभ हैं, इसीप्रकार अनुक्रमसे जिसकी लेश्यायें विशुद्ध होती गई हैं ऐसे

योगाविरतिमिथ्यात्वकषायजनितोऽगिनां । संस्कारो भावलेश्यास्ति कल्माषास्रवकारणं ॥ **अर्थ**– प्राणियोंके योग अविरति मिथ्यात्व और कषायसे जो संस्कार उत्पन्न हुआ है वही **भाव लेश्या है** और वह अशुभकर्मके आस्रवका कारण है।

कापोती कथिता तीव्रो नीला तीव्रतरो जिनैः । कृष्णा तीव्रतमो लेश्या परिणामः शरीरिणां ॥ पीता निवेदिता मंदः पद्मा मंदतरो बुधैः। शुक्ला मंदतमस्तासां वृद्धिः षट्स्थानयायिनी ॥ **अर्थ**–देहधारी जीवोंके जो तीव्र परिणाम हैं उन्हें **कापोती** लेश्या, उनसे भी अधिक तीव्र परिणामोंको **नीला** लेश्या तथा सबसे अधिक तीव्र परिणामोंको **कृष्ण** लेश्या कहते हैं। तथा इसतरह मंद परिणामोंको **पीता**, उनसे भी अधिक मंद परिणामोंको **पद्मा** और सबसे मंद परिणामोंको **शुक्ला** लेश्या कहते हैं इसप्रकार लेश्याओंकी वृद्धि छह स्थानोंमें होती है।

रागद्वेषग्रहाविष्टो दुर्ग्रहो दुष्टमानसः । क्रोधमानादिभिस्तीव्रैर्ग्रस्तोऽनंतानुबंधिभिः ॥ निर्दयो निरनुक्रोशो मद्यमांसादिलंपटः। सर्वदा कदनासक्तः कृष्णलेश्यान्वितो जनः ॥ **अर्थ–कृष्णलेश्यावाला पुरुष रागद्वेषरूपी ग्रहसे घिरा रहता है, दुराग्रही, दुष्ट विचारोंको करनेवाला अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ इन कषायोंसहित, निर्दय, कठोर, मद्य, मांस आदिके सेवन करनेमें लंपट और पाप करनेमें आसक्त होता है।**

श्रावकको नैष्ठिक कहते हैं। भावार्थ—अप्रत्याख्यानावरण कषायके क्षयोपशमके अनुसार जो ग्यारह प्रतिमाओंमेंसे किसी

क्रोधी मानी मायी लोभी, रागी द्वेषी मोही शोकी। हिंस्रः क्रूरश्चंडश्चौरो मूर्खः स्तब्धः स्पर्धाकारी ॥ निद्रालुः कामुको मंदः कृत्याकृत्याविचारकः। महामूर्च्छो महारंभो नीललेश्यो निगद्यते ॥ **अर्थ**—जो जीव क्रोधी, मानी, मायावी, लोभी, रागी, द्वेषी, मोही, शोकी, हिंसक, क्रूर, भयंकर, चोर, मूर्ख, सुस्त, इर्षा करनेवाला, बहुत सोनेवाला, कामी, जड़, कृत्य अकृत्यका विचार न करनेवाला, अधिक परिग्रह रखनेवाला और अधिक आरंभ करनेवाला है उसके नील लेश्या समझना चाहिये।

शोकभीमत्सरासूयापरनिंदापरायणः। प्रशंसति सदात्मानं स्तूयमानः प्रहृष्यति ॥ वृद्धिहानी न जानाति न मूढः स्वपरांतरं। अहंकारग्रहग्रस्तः समस्तां कुरुते क्रियां ॥ श्लाघितो नितरां दत्ते रणे मर्तुमपीहते। परकीययशोध्वंसी युक्तः कापोतलेश्यया ॥ **अर्थ**—शोक, भय, मत्सरता, असूया, परनिंदा आदि करनेमें तत्पर, सदा अपनी प्रशंसा करनेवाला, दूसरेके मुखसे अपनी प्रशंसा सुनकर हर्ष माननेवाला, हानि लाभको न जाननेवाला, अपने और दूसरेके अंतरको न देखनेवाला, अहंकाररूपी ग्रहसे घिरा हुआ, इच्छानुसार सब क्रियाओंको करनेवाला, प्रशंसा करनेपर सदा देनेवाला, युद्धमें मरनेतककी इच्छा करनेवाला और दूसरेके यशको नाश करनेवाला जो मनुष्य है उसके कापोती लेश्या समझना चाहिये।

समदृष्टिरविद्वेषो हिताहितविवेचकः। वदान्यः सदयो दक्षः पीतलेश्यो महामनाः ॥ **अर्थ**—सबको समान देखनेवाला (पक्षपातरहित),

प्रतिमाका पालन करते हैं और जिनके उत्तरोत्तर विशुद्ध लेश्यायें हैं ऐसे श्रावकोंको नैष्ठिक श्रावक कहते हैं ॥ १ ॥

द्वेषरहित, हित और अहितका विचार करनेवाला, दानशूर, दयालु, सत्कार्योंमें निपुण और उदारचित्तवाला पुरुष पीतलेश्यावाला समझना चाहिये।

शुचिर्दानरतो भद्रो विनीतात्मा प्रियंवदः। साधुपूजोद्यतः साधुः पद्मलेश्यो नयक्रियः॥ अर्थ–आचार और मनसे शुद्ध, दान देनेमें सदा तत्पर, शुभ चिंतवन करनेवाला, विनयवान्, प्रिय वचन कहनेवाला, सज्जन पुरुषोंके सत्कार करनेमें सदा उद्यत, न्यायमार्गसे चलनेवाला ऐसा जो सज्जन पुरुष है उसके पद्म लेश्या समझनी चाहिये।

निर्निदानोऽनहंकारः पक्षपातोज्झितोऽशठः। रागद्वेषपराचीनः शुक्लेश्यः स्थिराशयः॥ अर्थ–निदानरहित अर्थात् मुझे धन मिले, पुत्रकी प्राप्ति हो, यह मिले, वह मिले इत्यादि विकल्पोंसे रहित; अहंकार रहित, पक्षपात रहित, सज्जन, रागद्वेषसे परान्मुख और स्थिर बुद्धिवाला जो महात्मा है उसके शुक्ल लेश्या जानना चाहिये।

तेजः पद्मा तथा शुक्ला लेश्यास्तिस्रः प्रशस्तिकाः। संवेगमुत्तमं प्राप्तः क्रमेण प्रतिपद्यते॥ अर्थ–पीत पद्म और शुक्ल ये तीनों शुभ लेश्यायें हैं। जो पुरुष उत्तम संवेग अर्थात् धर्ममें प्रीतिको प्राप्त होता है उसीको ये क्रमसे प्राप्त होती हैं।

षट् षट् चतुर्षु विज्ञेयास्तिस्रस्तिस्रः शुभास्त्रिषु। शुक्ला गुणेषु षट्स्वेका लेश्या निर्लेश्यमंतिमं॥ अर्थ–प्रथमके चार गुणस्थानोंमें प्रत्येकमें छह छह लेश्या हैं आगेके तीन गुणस्थानोंमें अर्थात् पांचवें छठे और सातवें गुणस्थानोंमें पीत पद्म शुक्ल ये तीनों शुभ लेश्या हैं। सातसे

आगे—दर्शनिक आदि प्रतिमाओंके नाम कहकर उनके गृहस्थ ब्रह्मचारी और भिक्षुक तथा जघन्य मध्यम उत्तम ऐसे भेद दिखलाते हुये कहते हैं—

दर्शनिकोऽथ व्रतिकः सामायिकी प्रोषधोपवासी च ।
सचित्तदिवामैथुनविरतौ गृहिणोऽणुयमिषु हीनाः षट् ॥२॥
अब्रह्मारंभपरिग्रहविरता वर्णिनस्त्रयो मध्याः ।
अनुमतिविरतोद्दिष्टविरतावुभौ भिक्षुकौ प्रकृष्टौ च ॥३॥

अर्थ—यहांपर अथ शब्दका अर्थ अनंतर है और उसका प्रत्येक प्रतिमाके साथ अन्वय है । इससे यह सूचित होता है कि प्रतिमायें एकके बाद दूसरी और दूसरीके बाद तीसरी इसप्रकार अनुक्रमसे होती हैं । दर्शनिक, व्रतिक, सामयिकी, प्रोषधोपवासी, साचित्तविरत और दिवामैथुनविरत ये छह अर्थात् प्रथमकी छह प्रतिमाओंको धारण करनेवाले श्रावक देशसंयमियोंमें जघन्य हैं और [१]गृहस्थ (गृहस्थाश्रम पालन करनेवाले) कहलाते हैं । तथा अब्रह्मविरत (ब्रह्मचारी) आरंभ

आगे छह गुणस्थानोंमें अर्थात् आठवेंसे तेरहवें गुणस्थानतक केवल एक शुक्ल लेश्या है और अंतके चौदहवें गुणस्थानमें लेश्याका सर्वथा अभाव है ।

१—षडत्र गृहिणो ज्ञेयास्त्रयः स्युर्ब्रह्मचारिणः । भिक्षुकौ द्वौ तु निर्दिष्टौ ततः स्यात्सर्वतो यतिः ॥ अर्थ—इन ग्यारह प्रतिमाओंमेंसे पहिली छह प्रतिमाओंको धारण करनेवाला गृहस्थ होता है । उसके बादकी

त्यागी और [1]परिग्रहत्यागी इनकी ब्रह्मचारी संज्ञा है और ये मध्यम श्रावक कहलाते हैं। तथा अनुमतविरत और उद्दिष्टविरत इनकी भिक्षुक संज्ञा है और ये उत्कृष्ट कहलाते हैं। अल्प भिक्षुको भिक्षुक कहते ह ये दोनों मुनिकी अपेक्षासे हीन अवस्थाके हैं इसलिये भिक्षुक कहलाते हैं। (मुनि भिक्षु कहलाते हैं।) ॥ २-२ ॥

आगे—नैष्ठिक भी कैसा होनेसे पाक्षिक कहलाता है सो कहते हैं—

दुर्लेश्याभिभवाज्जातु विषये क्वचिदुत्सुकः।
स्खलन्नपि क्वापि गुणे पाक्षिकः स्यान्न नैष्ठिकः ॥४॥

अर्थ—यदि नैष्ठिक श्रावक कृष्ण, नील, कापोत इन तीनों अशुभ लेश्याओंमेंसे किसी लेश्याके वश होकर अर्थात् किसी निमित्तके मिलनेसे चेतनशक्तिका अशुभलेश्यारूप संस्कार

---

[1] तीन प्रतिमाओंको धारण करनेवाला ब्रह्मचारी और अंतकी दो प्रतिमाओंको धारण करनेवाला भिक्षुक होता है। तथा इसके बाद परिग्रहोंका त्यागी मुनि होता है।

आद्यास्तु षड्जघन्याः स्युर्मध्यमास्तदनु त्रयः। शेषौ द्वावुत्तमावुक्तौ जैनेषु जिनशासने ॥ अर्थ-जैनियोंमें पहिली छह प्रतिमाधारी श्रावकोंकी जघन्य संज्ञा है उसके आगेकी तीन प्रतिमाओंको धारण करनेवालोंकी मध्यम और शेषकी दो प्रतिमाओंको धारण करनेवालोंकी उत्तम संज्ञा है। ऐसा जिनशासनमें कहा है।

प्रगट होनेसे अथवा किसी निमित्तके मिलनेपर उन अशुभ लेश्याओंका आश्रय लेकर स्त्रीसेवन आदि पांचों इंद्रियोंके विषयोंमेंसे किसी विषयमें किसी एक समय भी अभिलाषा करे अथवा पूर्वकालमें अभ्यास न होनेसे वा संयम अति कठिन होनेसे मद्यविरति आदि किसी गुणमें भी वह अतिचार भी लगावे तो वह गृहस्थ पाक्षिक ही कहलाता है, नैष्ठिक नहीं। अभिप्राय–यह है कि चाहे वह सब गुणोंमें अतिचार न लगावे किसी एक गुणमें ही अतिचार लगावे अथवा सब इंद्रियोंके विषयोंकी अभिलाषा न करे किंतु किसी एक इंद्रियके विषयकी अभिलाषा करे और वह भी हमेशा नहीं कभी किसी समय, तथापि वह नैष्ठिक नहीं कहला सकता वह पाक्षिक ही गिना जायगा ॥४॥

आगे—दर्शन आदि ग्यारह प्रतिमाओंमेंसे किसी एक प्रतिमातक पालन करता हुआ श्रावक उस प्रतिमामें होनेवाले किसी गुणमें यदि अतिचार लगावे तो द्रव्यकी अपेक्षा उसे उसी प्रतिमाका पालन करनेवाला कहेंगे, परंतु भावकी अपेक्षा उसके उससे पहिलेकी प्रतिमा समझना चाहिये यही बात कहते हैं–

तद्वद्दर्शनिकादिश्च स्थैर्यं स्वे स्वे व्रतेऽव्रजन् ।
लभते पूर्वमेवार्थाव्द्यपदेशं न तूत्तरं ॥५॥

अर्थ—जिसप्रकार नैष्ठिक श्रावक मद्यविरति आदि गुणोंमें अतिचार लगाता हुआ पाक्षिक कहलाता है उसीप्रकार

दर्शनिक व्रतिक आदि प्रतिमाधारी श्रावक भी यदि अतिचार रहित आठ मूलगुण आदि अपने अपने गुणोंमें स्थिर न रहें, किसी जगह किसी समय किसीतरह चलायमान हो जायं तो परमार्थसे वे उस प्रतिमासे पहिली प्रतिमामें गिने जायंगे, उस प्रतिमामें नहीं। व्यवहारसे उस प्रतिमामें गिने जा सकते हैं। **भावार्थ**—जिसने पांचवीं या सातवीं प्रतिमा धारण की है। यदि वह उस पांचवीं या सातवीं प्रतिमामें अतिचार लगावे तो उसके चौथी या छट्ठी प्रतिमा ही गिनी जायगी। यदि वह चौथी या छट्ठी प्रतिमामें भी अतिचार लगावे तो उसके तीसरी या पांचवीं ही गिनी जायगी। इसीप्रकार प्रत्येक प्रतिमाधारी श्रावक यदि उस प्रतिमामें अतिचार लगावे तो उसे उससे पहिली प्रतिमामें गिनना चाहिये। व्यवहारसे वही प्रतिमा गिनी जा सकती है ॥ ९ ॥

आगे—इसी बातको फिर समर्थन करते हैं-

प्रारब्धो घटमानो निष्पन्नश्चार्हतस्य देशयमः।
योग इव भवति यस्य त्रिधा स योगीव देशयमी ॥१०॥

अर्थ—प्रारब्धयोग, घटमानयोग और निष्पन्नयोग ऐसे योगके तीन भेद हैं। इनको धारण करनेवाला योगी नैगम आदि नयोंकी अपेक्षासे जैसे प्रारब्धयोगी (जिसने योग साधन करना प्रारंभ किया है वह नैगम नयकी अपेक्षा योगी है),

घटमान योगी (जिसे योगका अच्छा अभ्यास है) और निष्पन्न योगी (जिसका योग पूर्णताको प्राप्त हो गया है) ऐसे तीन प्रकारका कहलाता है उसीप्रकार अरहंतको ही शरण माननेवाले जिसकिसी सज्जनका देशसंयम, प्रारब्ध, घटमान और निष्पन्न ऐसे तीन प्रकार है उनको धारण करनेवाला वह देशसंयमी, **प्रारब्धदेशसंयमी** (जिसने देशसंयम प्रारंभ वा स्वीकार किया है और जो नैगम नयसे देशसंयमी गिना जाता है), **घटमान देशसंयमी** (जिसे देशसंयमका अच्छा अभ्यास है) और **निष्पन्नदेशसंयमी** (जिसका देशसंयम पूर्णताको प्राप्त हो चुका है) ऐसे तीन प्रकारका कहलाता है **भावार्थ**---देशसंयमके प्रारब्ध घटमान और निष्पन्न ऐसे तीन भेद हैं और उनके धारण करनेवाले भी क्रमसे प्रारब्ध, घटमान और निष्पन्न कहलाते हैं। जो देशसंयमको पालन करना प्रारंभ करता है उसको प्रारब्ध कहते हैं, जिसे पालन करनेका अच्छा अभ्यास हो जाता है उसे घटमान कहते हैं और जिसका देशसंयम पूर्ण हो जाता है उसे निष्पन्न कहते हैं ॥७॥

इसप्रकार प्रतिमाओंकी विशुद्धता कह चुके।

अब आगे---दर्शनिकका स्वरूप कहनेके लिये दो श्लोक कहते है–

पाक्षिकाचारसंस्कारदृढीकृतविशुद्धदृक्।
भवांगभोगानिर्विण्णः परमेष्ठिपदैकधीः ॥७॥

निर्मूलयन्मलान्मूलगुणेष्वग्रगुणोत्सुकः ।
न्याय्यां वृत्तिं तनुस्थित्यै तत्वन् दर्शनिको मतः ॥८॥

अर्थ—पाक्षिक श्रावकके आचार जो पहिले दूसरे अध्यायमें निरूपण कर चुके हैं उनको उत्कृष्ट रीतिसे धारणकर जिसने अपना निर्मल सम्यग्दर्शन निश्चल किया है, जो संसार, शरीर और भोगोपभोगादि इष्ट विषयोंसे विरक्त है, अथवा संसारके कारण ऐसे भोगोंसे अर्थात् गृद्धतापूर्वक स्त्री आदि विषयोंके सेवन करनेसे विरक्त है, भावार्थ—जो प्रत्याख्यानावरण नामा चारित्रमोहनीयकर्मके उदयसे स्त्री आदि विषयोंका सेवन करता हुआ भी उसमें अतिशय लीन नहीं होता, अरहंत सिद्ध आदि पंचपरमेष्ठियोंके चरणकमलोंमें ही जिसका अंतःकरण है, अर्थात् जो भारी विपत्ति पडनेपर भी उसके दूर करनेके लिये शासन देवता आदिका आराधन नहीं करता, जिसने आठ मूलगुणोंके अतिचार जडमूलसे नाश कर दिये हैं, अर्थात् जो [1]मूलगुणोंको निरतिचार पालन करता है, जो व्रत आदि

[1]—आदावेते स्फुटमिह गुणा निर्मला धारणीयाः । पापध्वंसि व्रतमपमलं कुर्वता श्रावकीयं । कर्त्तुं शक्यं स्थिरमुरुभरं मंदिरं गर्त्तपूरं । न स्थेयोभिर्दृढलममृते निर्मितं ग्रावजालैः ॥ अर्थ—जो पुरुष पापके नाश करनेवाले श्रावकके व्रत निर्दोष पालना चाहता है उसको प्रथम ही मद्यविरति आदिके मूलगुण निर्दोष अर्थात् निरतिचार पालन करने चाहिये । क्योंकि जो घर बडे मजबूत पत्थरोंसे बनायागया

आगेकी प्रतिमाओंके धारण करनेमें उत्कंठित है और जो केवल शरीरकी [2]रक्षा करनेके लिये अपने वर्ण, कुल और व्रतोंके अनुसार खेती व्यापार आदि आजीविका करता है उसे एवंभूत नयकी अपेक्षासे दर्शनिक श्रावक कहते हैं। यहां इतना और समझलेना चाहिये कि दर्शन प्रतिमाको धारण करनेवाला विषय सेवन करनेकेलिये आजीविका नहीं करता केवल शरीर-रक्षा और कुटुंब पालन करनेकेलिये करता है। तथा यह जो लिखा कि " वह भारी विपत्ति पडनेपर भी उसके दूर करनेके लिये शासन देवताओंका आराधन कभी नहीं करता इसका यह अभिप्राय है कि दर्शन प्रतिमावाला विपत्ति दूर करनेके लिये शासनदेवताओंका आराधन नहीं करता, किंतु पाक्षिक श्रावक विपत्ति आदि पड़नेपर उसके दूर करनेके लिये शासनदेवताओंका आराधन कर सकता है। इसी अभिप्रायको सूचित करनेके लिये "परमेष्ठिपदैकधीः" इस पदमें एक शब्द दिया है । अर्थात् दर्शनप्रतिमा धारी

है यदि उसकी नीम पक्की न हो तो वह ठहर नहीं सकता। इसीतरह मूलगुणके अभावमें उत्तरगुण नहीं हो सकते।

१—कृषिं वणिज्यां गोरक्ष्यमुपायैर्गुणिनं नृपं। लोकद्वयाविरुद्धां च धनार्थी संश्रयेत् क्रियां॥ अर्थ—जिसको धनकी इच्छा है वह किसी उपायसे गुणी राजाका आश्रय लेकर दोनों लोकोंसे आविरुद्ध ऐसी कृषि, व्यापार गोरक्षण आदि क्रियाओंको करै।

श्रावककी बुद्धि एक रूपसे परमेष्ठीके चरणकमलोंमें है परंतु पाक्षिककी बुद्धि एकरूपसे परमेष्ठीके चरणोंमें नहीं है वह शासनदेवता आदिके आराधन करनेमें भी लगती है। इसी तरह "एवंभूतनयकी अपेक्षासे दर्शनिक श्रावक कहते हैं" यह जो लिखा है उसका यह अभिप्राय है कि उपर लिखे हुये गुण जिसमें हैं वह एवंभूत नयसे दर्शनिक श्रावक है और जो पाक्षिकके आचरण पालन करता है अर्थात् जो पाक्षिक है वह नैगम नयकी अपेक्षासे दर्शनिकश्रावक है। इसप्रकार कहनेसे श्री समंतभद्रस्वामीने जो लिखा है "श्रावक पदानि देवैरेकादश देशितानि येषु खलु। स्वगुणाः पूर्वगुणैः सह संतिष्ठंते क्रम विवृद्धाः" अर्थात् "भगवानने श्रावकोंके ग्यारह स्थान (प्रतिमा) कहे हैं उनमें अपने अपने स्थानके गुण पहिली प्रतिमाके गुणोंके साथ साथ क्रमसे बढते हुये रहते हैं"। इसमें भी कोई विरोध नहीं आता। भावार्थ—जब श्रावकके ग्यारह ही स्थान हैं तब ग्यारह प्रतिमाधारियोंकी ही श्रावक संज्ञा होगी पाक्षिककी श्रावक संज्ञा नहीं होगी, परंतु द्रव्यनिक्षेपसे पाक्षिककी भी दर्शनिकसंज्ञा माननेसे कोई विरोध नहीं आता। इसलिये दर्शनप्रतिमाका जो ऊपर लक्षण लिखा गया है वह एवंभूत नयकी अपेक्षासे है नैगमनय अथवा द्रव्यनिक्षेपसे पाक्षिकको भी दर्शनिक कहते हैं॥ ८॥

आगे—मद्यत्याग आदि व्रतोंको प्रगट करनेके लिये

मद्यमांस आदिका व्यापार भी नहीं करना चाहिये ऐसा दिख-लाते हैं–

मद्यादिविक्रयादीनि नार्यः कुर्यान्न कारयेत्।
न चानुमन्येत मनोवाक्कायैस्तद्व्रतद्युते ॥ ९ ॥

अर्थ––मद्यविरति आठ मूलगुणोंको निर्मल करनेके लिये दर्शनिक श्रावकको मद्य मांस मधु मक्खन आदि पदार्थ नहीं बेचना चाहिये अर्थात् इनका व्यापार नहीं करना चाहिये। आदि शब्दसे अचार मुरब्बा आदिके बनानेका उपदेश भी नहीं देना चाहिये न इनकी विधि आदि बतलाना चाहिये। तथा इनका व्यापार आदि दूसरेसे भी नहीं कराना चाहिये और न मन वचन कायसे दूसरेके व्यापार आदि करनेमें सम्मति देना चाहिये अथवा अनुमोदना भी नहीं करनी चाहिये ॥९॥

आगे––जिनके संबंधसे मद्यत्याग आदि व्रतोंमें हानि पहुंचती है उनका उपदेश देते हैं–

भजन्मद्यादिभाजः स्त्रीस्तादृशैः सह संसृजन्।
भुक्त्यादौ चैति साकीर्ति मद्यादिविरतिक्षतिं ॥ १० ॥

अर्थ––जो व्रती पुरुष मद्यमांस आदि भक्षण करनेवाली स्त्रियोंको सेवन करता है, अथवा मद्यमांस आदि खानेवाले लोगोंके साथ भोजन[1] वर्तन आसन आदिका संबंध रखता है,

---

१–मद्यादिस्वादिगेहेषु पानमन्नं च नाचरेत्। तदामत्रादिसंपर्कं न कुर्वीत कदाचन ॥ अर्थ–मद्यमांस आदि सेवन करनेवालके घर

संसारमें उसकी निंदा भी होती है और उसके अष्टमूलगुण भी नष्ट हो जाते हैं ॥ १० ॥

इसप्रकार सामान्य रीतिसे मूलव्रतोंके अतिचार दूर करनेके लिये निरूपण कर चुके।

अब आगे—मद्यत्याग आदि व्रतोंके अतिचार दूर करनेके लिये कहते हैं—

संधानकं त्यजेत्सर्वं दधि तक्रं द्व्यहोषितं।
कांजिकं पुष्पितमपि मद्यव्रतमलोऽन्यथा ॥११॥

अर्थ—दर्शनिक श्रावकको अचार मुरब्बा आदि सब प्रकारका संधान नहीं खाना चाहिये, दहीबडाका भी त्याग करना चाहिये। इसका भी कारण यह है कि अचार आदिमें बहुतसे जीव उत्पन्न होते रहते हैं। दूसरी जगह लिखा भी है- " जायंतेऽनंतशो यत्र प्राणिनो रसकायिकाः। संधानानि न वल्भ्यंते तानि सर्वाणि भाक्तिकाः॥" अर्थात् " भक्त लोग जिसमें रसकायके अनंत जीव उत्पन्न होते रहते हैं ऐसे सब तरहके संधानोंको नहीं खाते हैं।" तथा इसीतरह जिसे दो दिन और दो रात वीतचुकी हैं ऐसे दही और छाछको नहीं खाना चाहिये और जिसके ऊपर सफेद सफेद फूलसे आगये हैं अथवा जिसे दो दिन और दो रात वीतचुकी हैं ऐसी कांजी

अन्न पानका सेवन नहीं करना चाहिये और न कभी उसके वर्तन आदि चीजोंसे स्पर्श करना चाहिये।

(छाछमें मोठ जौ बाजरीके आटेको मिलाकर और खट्टी हो जानेपर औटाते हैं उसे रावडी अथवा कांजी कहते हैं ।) भी नहीं खाना चाहिये । यदि वह इन पदार्थोंको खायगा तो मद्यत्याग व्रतमें अतिचार लगेंगे । भावार्थ—ये ऊपर लिखे हुये मद्यत्याग व्रतके अतिचार हैं, दर्शनिक श्रावकको इन्हें बिल्कुल छोड देना चाहिये ॥ ११ ॥

आगे—मांसत्यागव्रतके अतिचार कहते हैं—

चर्मस्थमंभः स्नेहश्च हिंग्वसंहृतचर्म च ।
सर्वं च भोज्यं व्यापन्नं दोषः स्यादामिषव्रते ॥ १२ ॥

अर्थ—चमडेके वर्तनमें रक्खा हुआ जल, घी, तेल आदि, चमडेकी लपेटी हुई या उसमें रक्खी हुई हींग और जो स्वादसे चलित हो गये हैं ऐसे घी आदि समस्त पदार्थ इनका सेवन करना मांसत्याग व्रतके अतिचार हैं । भावार्थ—चरस मसक आदि चमड़के वर्तनोंमें रक्खा हुआ वा चमड़ेके वर्तनसे निकाला हुआ जल, कुप्पा आदि चमड़ेके वर्तनमें रक्खा हुआ तेल घी आदि पदार्थ, चमड़के वर्तनोंमें वा जो चमड़ेसे गसी गई है ऐसी टोकनीमें, तलवारकी म्यान आदिमें रक्खे हुये आम आदि फल, चमड़ेकी बनी हुई चालनी, सूप, तराजू आदिमें निकाला हुआ आटा आदि पदार्थ, जिसने चमड़ा और मांसको हींगरूप नहीं बना लिया है ऐसी चमड़ेमें रक्खीहुई चमडेमें बंधी हुई चमडेसे ढकीहुई वा चमडेपर

सुखाई हुई हींग इसीप्रकार जमडेपर रक्खाहुआ चमडेमें बंधा हुआ वा फैलायाहुआ नमक आदि पदार्थ और जिनका स्वाद बिगड गया है ऐसे घी भात आदि खानेके सब पदार्थ इन सबतरहके पदार्थोंका खाना मांसत्यागव्रतके अतिचार हैं। इसलिये मांस त्याग करनेवालोंको इन सबका त्याग करना चाहिये ॥ १२ ॥

आगे—मधुत्याग व्रतके अतिचार दूर करनेके लिये कहते हैं—

प्रायः पुष्पाणि नाश्नीयान्मधुव्रतविशुद्धये।
वस्त्यादिष्वपि मध्वादिप्रयोगं नार्हति व्रती॥ १३ ॥

अर्थ—शहतके त्याग करनेवाले दर्शनिक श्रावकको उस मधुत्यागव्रतको विशुद्ध रखनेके लिये अर्थात् निरतिचार पालन करनेकेलिये प्रायः किसीतरहके फूल नहीं खाना चाहिये। प्रायः शब्द कहनेसे यह तात्पर्य है कि महुआ और भिलावे आदिके फूल कि जिन्हें अच्छी तरह शोध सकते हैं उनके खानेका अत्यंत निषेध नहीं है, इसीप्रकार नागकेसर आदिके सूके फूलोंके खानेका भी अत्यंत निषेध नहीं है। तथा इसीतरह मधुविरत श्रावकको वस्तिकर्म, पिंडदान, नेत्रोंमें अंजन लगाना तथा मुंहमें मकडी आदिके चले जानेपर इलाज करना आदि कार्योंके लिये भी मद्य मांस मधुका उपयोग नहीं करना चाहिये। अपि शब्दसे यह सूचित होता है कि शरीरका

स्वास्थ्य रखनेकेलिये वाजीकरण आदि वीर्य बढानेवाली औषधियोंमें भी मद्य मांस और मधुका उपयोग नहीं करना चाहिये ॥ १३ ॥

आगे—पंचोदुंबरत्याग व्रतके अतिचार दूर करनेके लिये कहते हैं—

सर्वं फलमविज्ञातं वार्ताकादि त्वदारितं।
तद्वद्भल्लादिसिंबीश्च खादेन्नोदुंबरव्रती ॥ १४ ॥

अर्थ—पीपलफल आदि उदंबर फलोंके त्याग करनेवाले श्रावकको अजानफल जिन्हें वह नहीं पहचानता है नहीं खाना चाहिये तथा ककडी वा कचरियां, वेर, सुपारी आदि फलोंको और रमास मटर आदिकी फलियोंको विदारण किये विना अर्थात् मध्यभागको शोधन किये विना नहीं खाना चाहिये। भावार्थ—अजानफल तथा भीतर विना देखे हुये फल फलियां आदि उदंबर त्याग व्रतके अतिचार हैं। उदंबर त्यागीको इनका त्याग अवश्य कर देना चाहिये ॥ १४ ॥

आगे—रात्रिभोजनत्यागव्रतके अतिचार कहते हैं—

मुहूर्तेऽन्त्ये तथाद्येऽह्नो वल्भानस्तमिताशिनः।
गदच्छिदेऽप्याम्रघृताद्युपयोगश्च दुष्यति ॥१५॥

अर्थ—जिसको सूर्य अस्त होनेके पहिले ही भोजन करनेकी प्रतिज्ञा है ऐसे श्रावकको दिनके पहिले और अंतके

मुहूर्तमें अर्थात् सूर्योदयसे दो घडीतक और सूर्य अस्त होनेमें जो दो घडी शेष रहीं हैं उनमें भोजन नहीं करना चाहिये। तथा रोग दूर करनेकेलिये आम, चिरोंजी, केला, दालचीनी आदि फल और घी, दूध, ईखकारस आदि रस भी उससमय अर्थात् सूर्योदयसे दो घडीतक और सूर्य अस्त होनेकी पहिली दो घडीमें नहीं खाना चाहिये। अपि शब्दसे यह भी सूचित होता है कि जब उससमय रोग आदि दूर करनेकेलिये फल आदि पदार्थ नहीं खाना चाहिये तब अपना स्वास्थ्य बनाये रखनेकेलिये तो उससमय इनको कभी नहीं खाना चाहिये। भावार्थ—सूर्योदयसे दो घडीतक और सूर्य अस्त होनेमें जो दो घडी बाकी रहती हैं उनमें कुछ भी चीज खाना रात्रिभोजनत्यागव्रतके अतिचार हैं। रात्रिभोजनत्यागी दर्शनिक श्रावकको इससमय खानेका अवश्य त्याग करना चाहिये ॥१५॥

आगे—जलगालनव्रतके अतिचार छोडनेके लिये कहते हैं—

मुहूर्तयुग्मोर्ध्वमगालनं वा दुर्वाससा गालनमंबुनो वा।
अन्यत्र वा गालितशेषितस्य न्यासो निपानेऽस्य न तद्व्रतेऽर्च्यः॥१६॥

अर्थ—छने हुये पानीको भी दो मुहूर्त अर्थात् चार घडीके पीछे नहीं छानना, तथा छोटे, छेदवाले मैले, और पुराने कपडेसे छानना और छाननेके बाद बचेहुये पानीको किसी दूसरे जलाशयमें डालना ये जलगालनव्रतमें दोष उत्पन्न करनेवाले आ

निंद्य वा अतिचार हैं । दर्शनिक श्रावकको ऐसे अतिचार कभी नहीं लगाने चाहिये ॥ १६ ॥

आगे–श्री वसुनंदि सिद्धांतचक्रवर्तीने दर्शनिक श्रावकका लक्षण ऐसा लिखा है–" पंचोदुंबरसहिया सत्तवि वसणाइ जो विवज्जेई । सम्मत्त विसुद्धमई सो दंसण सावओ भणिओ ॥" अर्थात्–" जिसने पांचों उदंबरोंके साथ सप्त व्यसनोंका त्याग कर दिया है और सम्यग्दर्शनसे जिसकी बुद्धि विशुद्ध हो रही है उसे दर्शनिक श्रावक कहते हैं । " इसीके अनुसार जूआ आदि व्यसनोंके छोडनेका उपदेश देनेकेलिये इन व्यसनोंसे इस लोकमें नाश होता है और परलोकमें निंद्य होना पडता है इसीको उदाहरण दिखलाते हुये कहते हैं–

द्यूताद्धर्मतुजो बकस्य पिशितान्मद्याद्यदूनां विप-
च्चारोः कामुकया शिवस्य चुरया यद्ब्रह्मदत्तस्य च ।
पापर्ध्या परदारतो दशमुखस्योच्चैरनुश्रूयते
द्यूतादिव्यसनानि घोरदुरितान्युज्झेत्तदार्यस्त्रिधा ॥ १७ ॥

अर्थ–जूआ खेलनेसे महाराज युधिष्ठिरको, मांस भक्षण करनेसे राजा बकको, मद्यपान करनेसे यदुवंशियोंको, वेश्यासेवन करनेसे शेठ चारुदत्तको, चोरी करनेसे शिवभूति ब्राह्मणको, शिकार खेलनेसे ब्रह्मदत्त अंतिम चक्रवर्तीको और परस्त्रीकी अभिलाषा करनेसे रावणको बडी भारी विपत्ति आई थी

ऐसा वृद्ध लोगोंकी परंपरासे सुनते आते हैं इसलिये सद्व्रती गृहस्थको दुर्गतिके दुःखोंके कारण और पापोंको उत्पन्न करनेवाले ऐसे द्यूत, मांस, मद्य, वेश्या, चोरी, शिकार और परस्त्री इन सातों व्यसनोंको मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदनासे त्याग करना चाहिये॥१७॥

आगे—व्यसन शब्दकी निरुक्ति दिखलाकर जूआ आदि व्यसन घोर पापके कारण हैं और कल्याणको रोकनेके हेतु हैं यही दिखलाते हैं तथा इन व्यसनोंके त्याग करनेवालोंको रसायन बनाना आदि उपव्यसन भी दूरसे ही छोडना चाहिये क्योंकि इनका फल भी व्यसनोंके ही समान बुरा है। आगे यही उपदेश देते हैं—

जाग्रत्तीव्रकषायकर्कशमनस्कारार्पितैर्दुष्कृतै ।
श्चैतन्यं तिरयत्तमस्तरदपि द्यूतादि यच्छ्रेयसः ।
पुंसो व्यस्यति तद्विदो व्यसनमित्याख्यांत्यतस्तद्व्रतः
कुर्वीतापि रसादिसिद्धिपरतां तत्सोदरीं दूरगां ॥१८॥

अर्थ—निरंतर उदयमें आये हुये और जो किसीतरह निवारण न किये जा सकें ऐसे तीव्र क्रोध, मान, माया, लोभ इन कषायोंके निमित्तसे जो चित्तके परिणाम अत्यंत कठिन हो जाते हैं अर्थात् दृढ कर्मबंधन करनेकेलिये तैयार हो जाते हैं ऐसे उन परिणामोंके द्वारा उत्पन्न हुये पापोंसे जो आत्माके चैतन्य परिणामोंको ढक लेते हैं तथा जो मिथ्यात्वको भी उल्लं-

घन करते हैं और अपि शब्दसे जो मिथ्यात्वमें रहनेवाले मनुष्यको भी उलंघन करते हैं, ऐसे ये जूआ मांस आदि सातों पाप मनुष्योंको उनके कल्याणोंसे लौटा लेते हैं अर्थात् मनुष्योंका अकल्याण करते हैं इसलिये ही विद्वान लोग इन सातों पापोंको व्यसन कहते हैं। इसलिये जूआ आदि सप्त व्यसनके त्याग करनेवालोंको रसायन सिद्ध करना आदि उपव्यसनोंको भी दूर कर देना चाहिये क्योंकि रसायन सिद्ध करना आदि भी जूआ आदि व्यसनोंकेही समान हैं। इसका भी कारण यह है कि जैसे जूआ आदि व्यसनोंसे दुरंत पापोंका बंध होता है और मनुष्योंका अकल्याण होता है उसीप्रकार रसायन सिद्ध करना आदि उपव्यसनोंसे भी पापका बंध और अकल्याण होता है। 'रसायन आदि सिद्ध करना' इसमें जो आदि शब्द दिया है उससे अंजनगुटिका पादुकाविवरप्रवेश (खडाऊंके छेदमेंसे निकलजाना) आदि ग्रहण किया है। 'कुर्वीतापि' इसमें जो अपि शब्द है उसका यह तात्पर्य है कि सातों व्यसनोंके त्याग करनेवाले दर्शनिक श्रावकको केवल सातों व्यसनोंका ही त्याग नहीं करना चाहिये, किंतु रसायन आदि उपव्यसनोंका भी अवश्य त्याग करना चाहिये ॥ १८ ॥

आगे—द्यूतत्यागव्रतके अतिचार कहते हैं—

दोषो होढाद्यपि मनोविनोदार्थं पणोज्झिनः।
हर्षामर्षोदयांगत्वात्कषायो ह्यंहसेऽजसा ॥ १९ ॥

अर्थ—जिसने जूआ खेलनेका त्याग कर दिया है ऐसे दर्शनिक श्रावकको केवल मन प्रसन्न करनेकेलिये भी होड अर्थात् शर्त लगाकर दौडना या एक दूसरेकी ईर्षासे दौडना, आदि शब्दसे जूआ देखना आदि भी उसके व्रतमें दोष उत्पन्न करनेवाले हैं अर्थात् अतिचार हैं। जब केवल मन प्रसन्न करनेकेलिये शर्त लगाना दोष है तब फिर धन मिलनेकी इच्छासे शर्त लगाना या शर्त लगाकर कोई काम करना दर्शनिक श्रावककेलिये बडा भारी दोष है इसका भी कारण यह है कि शर्त लगाने या जूआ देखनेसे हर्ष और क्रोध उत्पन्न होता है और हर्ष तथा क्रोध अर्थात् रागद्वेष परिणाम परमार्थसे पापके कारण हैं इसलिये शर्त लगाने किंवा जूआ देखने आदिसे पाप ही उत्पन्न होता है ॥ १९ ॥

आगे—वेश्यात्यागव्रतके अतिचार छोडनेके लिये कहते हैं—

त्यजेत्तौर्यत्रिकासक्तिं वृथाट्यां षिङ्गसंगतिं ।
नित्यं पण्यांगनात्यागी तद्गेहगमनादि च ॥ २० ॥

अर्थ—जिसने वेश्यासेवनका त्याग कर दिया है ऐसे श्रावकको गीत नृत्य और बाजे इन तीनोंमें आसक्त नहीं होना चाहिये, विना प्रयोजन इधर उधर फिरना नहीं चाहिये, विट व्यभिचारी लोगोंकी संगति नहीं करनी चाहिये और वेश्याके घर आना जाना उसके साथ बातचीत करना और उसका आदर सत्कार करना आदिका भी सर्वथा त्याग कर

देना चाहिये। इस श्लोकमें जो नित्य शब्द दिया है उसका यह तात्पर्य है कि इस व्रतको पालन करनेकेलिये सदा प्रयत्न करते रहना चाहिये—ऊपर लिखे दोषोंसे सदा बचते रहना चाहिये। तथा गीत नृत्य और बाजेमें आसक्त नहीं होना चाहिये यह जो लिखा है उसका यह अभिप्राय है कि वह इन तीनोंमें अत्यंत आसक्त नहीं होवे किंतु यदि वह जिनमंदिर वा चैत्यालयमें धर्मवृद्धिकेलिये गीत नृत्य बाजे आदि सुने या देखे तो उसमें उसको कोई दोष नहीं है ॥२०॥

आगे—चौर्यव्यसनत्यागव्रतके अतिचार कहते हैं—

दायादाज्जीवतो राजवर्चसाद्गृह्णतो धनं।
दायं वापन्हुवानस्य क्वाचौर्यव्यसनं शुचि ॥२१॥

अर्थ—जो कुलकी साधारण संपत्तिमें भाग लेनेवाले भाई काका भतीजे आदि हैं उन्हें दायाद कहते हैं। जो दर्शनिक श्रावक देश काल जाति कुल आदिके अनुसार नहीं किंतु राजाके प्रतापसे दायादके जीवित रहते हुये भी उससे गांव सुवर्ण आदि द्रव्य ले लेता है अथवा जो कुलके साधारण द्रव्यको भाई दायादोंसे छिपा लेता है उसके किस देश और किस कालमें अचौर्यव्रत निरतिचार हो सकता है? अर्थात् कभी नहीं। भावार्थ—ये अचौर्यव्रतके अतिचार हैं इनके त्याग करनेसे ही अचौर्यव्रत निर्मल रहता है। ऊपर जो दायादके जीवित रहते हुये भी उससे जो गांव सुवर्ण आदि ले लेता है"

यह लिखा है उसका अभिप्राय यह है कि यदि वह किसी दायादके मरने पर यथायोग्य न्याय और नीतिके अनुसार उसका धन ले तो उसमें उसे कोई दोष नहीं है ॥२१॥

आगे–पापर्द्धित्यागव्रतके (शिकार खेलनेके त्यागके) अतिचार छोडनेके लिये कहते हैं—

वस्त्रनाणकपुस्तादिन्यस्तजीवच्छिदादिकं ।
न कुर्यात्त्यक्तपापर्द्धिस्तद्धि लोकेऽपि गर्हितं ॥ २२ ॥

अर्थ–जिसने शिकार खेलनेका त्याग कर दिया है ऐसे श्रावकको पंचरंगे वस्त्र, रुपया, पैसा, आदि मुद्रा, पुस्तक, काष्ठ, पाषाण, धातु, दांत आदिमें नाम निक्षेप अथवा " यह वही है " इसप्रकारके स्थापना निक्षेपसे स्थापन किये हुये हाथी घोडे आदि जीवोंका छेदन भेदन आदि कभी नहीं करना चाहिये। क्योंकि वस्त्र पुस्तक आदिमें बनाये हुये जीवोंका छेदन भेदन करना केवल शास्त्रोंमें ही निंद्य नहीं है किंतु लोकव्यवहारमें भी निंद्य गिना जाता है ॥ २२ ॥

आगे–परस्त्रीत्यागव्रतके अतिचार छोडनेके लिये कहते हैं–

कन्यादूषणगांधर्वविवाहादि विवर्जयेत् ।
परस्त्रीव्यसनत्यागव्रतशुद्धिविधित्सया ॥ २३ ॥

अर्थ–परस्त्री त्याग करनेवाले दर्शनिक श्रावकको परस्त्री व्यसनके त्यागरूप व्रतको शुद्ध रखनेकी इच्छासे किसी कुमारी

कन्याके साथ विषय सेवन नहीं करना चाहिये अथवा इस कन्याका विवाह किसी अन्यके साथ न हो मेरे ही साथ हो इस अभिप्रायसे अर्थात् अपना विवाह करनेके लिये किसी कन्याके दोष प्रगट नहीं करना चाहिये। तथा किसी कन्याके साथ गांधर्व विवाह भी नहीं करना चाहिये। माता पिता भाई आदिकी संमति और प्रमाणके विना पुरुष और कुमारीके परस्परके प्रेमसे जो विवाहरूप संबंध हो जाता है उसे गांधर्वविवाह कहते हैं ऐसा विवाह भी उसके लिये सदोष है तथा आदि शब्दसे किसी कन्याको हरणकर उसके साथ विवाह नहीं करना चाहिये। भावार्थ–ये सब परस्त्रीत्यागके अतिचार हैं दर्शनिक श्रावकको इनका अवश्य त्याग करना चाहिये ॥ २३ ॥

इसप्रकार पांच व्यसनोंके अतिचार यहां कहे तथा मद्य और मांस व्यसनके अतिचार पहिले कहचुके हैं इसतरह सातों व्यसनोंके अतिचार कह चुके।

अब आगे––जैसे दोनों लोकोंके विरुद्ध होनेसे मद्य मांस आदि व्यसनोंका स्वयं त्याग करता है उसीप्रकार व्रतोंको विशुद्ध रखनेकेलिये दूसरोंके लिये भी उनका प्रयोग नहीं करना चाहिये। इसका उपदेश देते हैं–

त्यजते यदिहामुत्राप्यपायावद्यकृत्स्वयं।
तत्परेऽपि प्रयोक्तव्यं नैवं तद्व्रतशुद्धये ॥२४॥

अर्थ—जो वस्तु इसलोक और परलोकमें अपाय करनेवाली अर्थात् कल्याणसे अलग रखनेवाली है अकल्याण करनेवाली है और अवद्य अर्थात् निंद्य है ऐसी वस्तुका संकल्पपूर्वक जैसे स्वयं त्याग करता है उसीप्रकार अपना व्रत शुद्ध रखनेकेलिये किसी दूसरे पुरुषके काममें उस त्यागी हुई वस्तुका प्रयोग नहीं करना चाहिये। भावार्थ—जिस वस्तुका स्वयं त्याग कर दिया है उसे दूसरेको खिलाना या दूसरेके काममें लानेका त्याग भी कर देना चाहिये ॥२४॥

इसप्रकार जिसने दर्शनप्रतिमा धारण की है ऐसे श्रावकोंको अपनी प्रतिज्ञा निर्वाह करनेके लिये आगेके श्लोकोंसे कुछ शिक्षा देते हुये कहते हैं—

अनारंभवधं मुंचेच्चरेन्नारंभमुद्धुरं।
स्वाचाराप्रतिलोमेन लोकाचारं प्रमाणयेत् ॥२५॥

अर्थ—दर्शनिक श्रावक तप संयम आदिका साधन जो अपना शरीर है उसकी स्थितिके लिये जो खेती व्यापार आदि करता है ऐसी क्रियाओंके सिवाय उसे अन्य सब प्राणियोंकी हिंसाका त्याग कर देना चाहिये। भावार्थ—शरीरकी स्थितिके लिये जो खेती व्यापार आदिमें हिंसा होती है वह तो होती ही है इसके सिवाय बाकी सब हिंसाका त्याग कर देना चाहिये। ऐसा कहनेसे स्वामी समंतभद्राचार्यने दर्शनप्रतिमाका लक्षण "दर्शनिकस्तत्त्वपथगृह्यः" अर्थात् "दर्शनिक श्रावक तात्त्विक-

मार्गको अर्थात् दिखलाये हुये अणुव्रत आदिको धारण करनेवाला होता है" यह जो लिखा है उसका भी ग्रहण हो जाता है क्योंकि जब खेती व्यापार आदिमें होनेवाली हिंसाके सिवाय बाकी हिंसाका त्याग करादिया तब पांचों अणुव्रतोंके अनुकूल अपनी सब क्रियायें करनेके लिये उपदेश हो ही चुका, अर्थात् अणुव्रतोंके अनुसार ही उसे सब क्रियायें करनी चाहिये। तथा अपने निर्वाह करनेयोग्य खेती व्यापार आदि आरंभोंको स्वयं न करना चाहिये, क्योंकि यदि वह खेती व्यापार आदि स्वयं करेगा तो प्रतिज्ञा किये हुये धर्मकार्योंके करनेमें अवकाश न मिलनेसे उसे बडी व्याकुलता उठानी पडेगी। यदि वह दूसरोंसे करावेगा तो एक काम घट जानेसे फिर उसे धर्मकार्योंमें किसी तरहकी व्याकुलता नहीं होगी, इसलिये खेती व्यापार आदि आरंभ दूसरोंसे ही कराना ठीक है। इसके सिवाय जिसमें अपने प्रतिज्ञा किये हुये व्रतोंके पालन करनेमें किसीतरहकी हानि न हो इसप्रकारसे स्वामीकी सेवा, खरीदना, वेचना आदि लौकिक क्रियाओंको स्वीकार करना चाहिये, अर्थात् जिस कामके करनेमें अपने व्रतोंमें विरोध न आवे ऐसे कामोंके करनेकेलिये किसीतरहका विसंवाद या झगडा नहीं करना चाहिये। भावार्थ–दर्शनिक श्रावकको ये ऊपर लिखी हुई सब शिक्षायें स्वीकार करना चाहिये ॥२५॥

आगे—स्त्रीको स्वयं धर्मनिष्ठ बनानेके लिये उपदेश देते हैं—

व्युत्पादयेत्तरां धर्मे पत्नीं प्रेम परं नयन्।
सा हि मुग्धा विरुद्धा वा धर्माद्भ्रंशयते तरां ॥२६॥

अर्थ—दर्शनिक श्रावकको अपना समस्त परिवार धर्ममें व्युत्पन्न करना चाहिये तथा अपनेमें और धर्ममें दोनोंमें स्त्रीका उत्कृष्ट प्रेम बढाता हुआ उसे धर्ममें सबसे अधिक व्युत्पन्न करना चाहिये। क्योंकि यदि स्त्री धर्मको नहीं जानती होगी वा धर्मसे विरुद्ध होगी अथवा अपनेसे (पतिसे) विरुद्ध होगी तो वह परिवारके लोगोंसे अधिकतर धर्मसे भ्रष्ट कर देगी। भावार्थ—धर्मको नहीं जानते हुये अथवा धर्मसे विमुख ऐसे परिवारके लोग मनुष्यको धर्मसे च्युत कर देते हैं और यदि ऐसी ही स्त्री हुई तो वह उन परिवारके लोगोंसे भी अधिक धर्मभ्रष्ट कर देती है। क्योंकि गृहस्थोंके धर्मकार्य भी प्रायः सब स्त्रियोंके आधीन हैं। इसलिये अपने धर्मका निर्वाह करनेके लिये स्त्रीको धर्मशिक्षा देना अवश्य कर्तव्य है॥ २६॥

आगे—ऊपर जो लिखा है "अपनेमें स्त्रीका प्रेम उत्कृष्ट रीतिसे बढाना चाहिये" उसीका समर्थन करते हैं—

स्त्रीणां पत्युरुपेक्षैव परं वैरस्य कारणं।
तन्नोपेक्षेत जातु स्त्रीं वांच्छन् लोकद्वये हितं॥ २७॥

अर्थ—स्त्रियोंका अनादर करना ही पतिके लिये परम विरागता अथवा परम विरोधका कारण हो जाता है पतिकी कुरूपता अथवा दरिद्रतासे स्त्रियां कभी विरोध नहीं करती हैं अथवा पतिको कष्ट नहीं पहुंचाती हैं । इसलिये इस लोक और परलोकमें सुख और सुखके कारणोंकी अभिलाषा करनेवाले पुरुषको स्त्रीकी अवज्ञा अथवा धर्मकार्योंके समय उसकी उपेक्षा कभी नहीं करनी चाहिये । भावार्थ— पति चाहे कुरूप हो या दरिद्र हो उसपर स्त्रीका स्वाभाविक प्रेम होता ही है यदि पति उसकी अवज्ञा करता है या धर्मकार्योंमें उसे वंचित रखता है, वा उपेक्षा करता है तब परस्पर वैमनस्य होना संभव हो जाता है । इसलिये स्त्रीकी अवज्ञा करना या धर्मकार्योंसे उसे अलग रखना सर्वथा अनुचित है ॥ २७ ॥

आगे—धर्म सुख आदिकी इच्छा करनेवाली कुलस्त्रियोंको सदा पतिके अनुसार ही चलना चाहिये ऐसी प्रकरणके अनुसार स्त्रियोंको शिक्षा देते हुये कहते हैं—

नित्यं भर्तृमनीभूय वर्तितव्यं कुलस्त्रिया ।
धर्मश्रीशर्मकीर्त्येककेतनं हि पतिव्रताः ॥ २८ ॥

अर्थ—कुलस्त्रीको मन वचन कायसे सदा पतिके चित्तके अनुसार ही चलना चाहिये अर्थात् पतिके चित्तके अनुकूल ही चिंतवन करना चाहिये, अनुकूल ही कहना चाहिये और

पतिके अनुकूल ही सब काम करना चाहिये। क्योंकि पतिकी सेवा करना ही जिनका व्रत है, जिनकी प्रतिज्ञा है, अथवा पतिकी सेवा करना ही जिनकी शुभ कर्ममें प्रवृत्ति वा अशुभ कर्मसे निवृत्तिरूप व्रत है ऐसी पतिव्रता स्त्रियां ही धर्म अर्थात् पुण्य, श्री अर्थात् विभूति वा सरस्वती, तथा आनंद और कीर्ति इनका एक घर वा ध्वजा हैं। भावार्थ—पतिव्रता स्त्री ही धर्म सेवन करनेवाली है, वही श्रीमती अर्थात् विभूति और सरस्वती-को धारण करनेवाली है, वही आनंद वा सुख भोगनेवाली और अपनी कीर्ति फैलानेवाली है। इसलिये स्त्रियोंको सदा पतिके अनुकूल ही चलना चाहिये ॥२८॥

आगे—धर्म, अर्थ और शरीरकी रक्षा करनेवाले पुरुषको अपनी कुलस्त्रीमें भी अत्यंत आसक्त नहीं होना चाहिये ऐसा कहते हैं—

भजेद्देहमनस्तापशमांतं स्त्रियमन्नवत्।
क्षीयंते खलु धर्मार्थकायास्तदतिसेवया ॥२९॥

अर्थ—जिसप्रकार देह और मनका संताप दूर करनेकेलिये परिमित अन्नका सेवन किया जाता है उसीप्रकार दर्शनिक श्रावकको अथवा ब्राह्मण क्षत्रिय और गृहस्थ इन तीनों वर्णोंको शरीर और मनके संतापकी शांति जितनेमें हो उतना ही परिमित स्त्रीका सेवन करना चाहिये। क्योंकि जिसप्रकार

अन्नका अधिक सेवन करनेसे धर्म अर्थ और शरीर तीनों ही नष्ट होते हैं उसीप्रकार स्त्रीका अधिक सेवन करनेसे भी धर्म अर्थ और शरीर तीनों नष्ट हो जाते हैं ॥२९॥

आगे—सत्पुत्र उत्पन्न करनेकेलिये प्रयत्न करनेकी विधि बतलाते हैं—

प्रयतेत सधर्मिण्यामुत्पादयितुमात्मजं ।
व्युत्पादयितुमाचारे स्ववत्त्रातुमथापथात् ॥३०॥

अर्थ—दर्शनिक श्रावकको सधर्मिणी अर्थात् जिसका धर्म सदा अपने समान है ऐसी कुलस्त्रीमें औरस पुत्र उत्पन्न करनेकेलिये प्रयत्न करना चाहिये। पुत्रका नाम आत्मज है जिसका अर्थ 'अपनेसे उत्पन्न हुआ' है। अपनेसे उत्पन्न हुये ऐसे पुत्रके लिये कुलस्त्रीकी रक्षा करनेमें नित्य प्रयत्न वा परम आदर करना चाहिये। तथा पुत्रको आचार अर्थात् लोक और लोकके व्यवहारमें अपने समान अनेक तरहके उत्कृष्ट ज्ञान संपादन करानेका प्रयत्न करना चाहिये। तथा धर्मसे भ्रष्ट करनेवाले दुराचारसे उसकी रक्षा करनेकेलिये अपने समान ही सदा प्रयत्न करना चाहिये। भावार्थ—पुत्रके लिये स्त्रीकी रक्षा करनी चाहिये। और पुत्र होनेपर उसे पारमार्थिक व्यावहारिक शिक्षा देकर तथा कुलपरंपरासे चली आई ऐसी विशेष बातोंको बतलाकर सब विषयमें निपुण कर देना चाहिये। तथा कुमार्गसे भी उसे सदा बचाते रहना चाहिये। यह बात ध्यानमें रहे कि इन सब

बातोंको कुमार्गसे बचना और कुल तथा लोकके व्यवहारमें निपुण होना आदि बातोंको पहिले स्वयं कर लेना चाहिये और फिर वैसा ही पुत्रको बना लेना चाहिये। यदि वह स्वयं इन बातोंमें निपुण न होगा तो वह अपने पुत्रको भी कभी निपुण नहीं कर सकता। यद्यपि वह भाई भतीजे आदिको पुत्र मान सकता है वा दत्तक लेसकता है परंतु वे न तो अपने समान ही हो सकेंगे और न औरस पुत्रकी बराबरी ही कर सकेंगे। इसलिये औरस पुत्र उत्पन्न करनेके लिये स्त्रीकी रक्षा करना आवश्यक है॥ ३० ॥

आगे–श्रावकको अपने पुत्रके विना आगेकी प्रतिमायें प्राप्त होना कठिन है इसी विषयको उदाहरण दिखलाते हुये कहते हैं–

विना स्वपुत्रं कुत्र स्वं न्यस्य भारं निराकुलः।
गृही सुशिष्यं गणिवत्प्रोत्सहेत परे पदे ॥ ३१ ॥

अर्थ–जिसप्रकार धर्माचार्य अपने ही समान अर्थात् आचार्य पदकी योग्यता रखनेवाले शिष्यके विना संघके निर्वाह करनेरूप भारको छोड नहीं सकता और संघका भार छोडे विना निराकुल होकर अपने आत्माके शुद्ध संस्कार करने अथवा मोक्ष प्राप्त करनेमें उत्साह नहीं कर सकता, उसीप्रकार दर्शनिक श्रावक अथवा गृहस्थ भी अपने ही समान पुत्रके विना अपने कुटुंबके पालन करनेका भार किसपर छोडकर

निराकुल होता हुआ व्रत सामायिक आदि आगेकी प्रतिमाओं-में अथवा वानप्रस्थ आश्रममें उत्साह करेगा अर्थात् न वह कुटंब पालन करनेका भार छोड़ सकता है और न निराकुल होकर आगेकी प्रतिमायें या वानप्रस्थ आश्रम धारण कर सकता है। इसलिये मोक्षपद चाहनेवाले आचार्यको अपने ही समान योग्यता रखनेवाला शिष्य तैयार करना चाहिये और आगेकी प्रतिमायें अथवा वानप्रस्थ आश्रम धारण करनेकी इच्छा करनेवा-ले दर्शनिक श्रावकको अपने ही समान योग्यता रखनेवाला पुत्र तैयार करना चाहिये। तथा जिसप्रकार आचार्य अपने योग्य शिष्यको आचार्य पद देकर मोक्ष प्राप्त करनेका प्रयत्न करता है उसीप्रकार गृहस्थको भी अथवा दर्शनिक श्रावकको भी अपने पुत्रको घरका सब भार सोंपकर आगेकी प्रतिमायें धारण करना चाहिये ॥३१॥

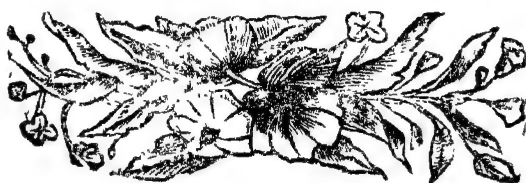
आगे—दर्शनप्रतिमाके लक्षणका उपसंहार करते हुये व्रत प्रतिमा धारण करनेकी योग्यता दिखलाते हुये कहते हैं—

दर्शनप्रतिमामित्थमारुह्य विषयेष्वरं।
विरज्यन् सत्त्वसज्जः सन् व्रती भवितुमर्हति ॥३२॥

अर्थ—जो श्रावक "पाक्षिकाचारसंस्कार" आदि तीसरे अध्यायके सातवें श्लोकसे लेकर जो दर्शन प्रतिमाका स्वरूप कहा है उसे धारण कर चुका है तथा जो स्त्री आदि इंद्रियोंके विषयोंसे

पाक्षिक श्रावककी अपेक्षा अथवा अपनी पहिली अवस्थाकी अपेक्षा स्वयं अधिक विरक्त होगया है और जो धैर्य आदि सात्त्विक भावोंको धारण करता है ऐसा श्रावक दूसरी व्रतप्रतिमा धारण करनेके योग्य होता है ॥३२॥

इसप्रकार पंडितप्रवर आशाधरविरचित स्वोपज्ञ (निजविरचित)
सागारधर्मामृतको प्रगट करनेवाली भव्यकुमुदचंद्रिका
टीकाके अनुसार नवीन हिंदीभाषानुवादमें धर्मामृतका
बारहवां और सागारधर्मामृतका तीसरा
अध्याय समाप्त हुआ।



चौथा अध्याय.



आगे—व्रतप्रतिमाका निरूपण तीन अध्यायोंमें करेंगे उसमें प्रथम ही व्रतप्रतिमाका लक्षण कहते हैं—

संपूर्णदृग्मूलगुणो निःशल्यः साम्यकाम्यया।
धारयन्नुत्तरगुणानक्षूणान् व्रतिको भवेत् ॥१॥

अर्थ—जो पुरुष केवल उपयोगके आश्रय रहनेवाले अंतरंग अतिचारोंसे तथा चेष्टा वा क्रियाके आश्रय रहनेवाले बहिरंग अतिचारोंसे रहित निर्मल पूर्ण सम्यग्दर्शन पालन करता है तथा दोनोंतरहके अतिचारोंसे रहित पूर्ण अखंड मूलगुणोंको धारण करता है, जो शल्यरहित है। शल्य नाम बाणका है। जो छातीमें लगेहुये बाणके समान शरीर और मनको दुःख देनेवाला कर्मोंके उदयका विकार हो उसे शल्य कहते हैं। उसके तीन भेद हैं—मिथ्यात्व, माया और निदान। विपरीत श्रद्धानको मिथ्यात्व कहते हैं। बंचना, ठगना वा छलकपट करना माया है। तप संयम आदिसे होनेवाली विशेष आकांक्षा वा इच्छाको निदान[1] कहते हैं। इन तीनों शल्योंसे रहित सम्यग्दर्शन

१- तपःसंयमाद्यनुष्ठानेन कांक्षाविशेषः निदानं। तद्द्वेधा प्रशस्तेतर-भेदात् । प्रशस्तं पुनर्द्विविधं विमुक्तिसंसारनिमित्तभेदात् ॥ तत्र विमुक्तिनिमित्तं कर्मक्षयाद्याकांक्षा ॥ अर्थ—तपश्चरण संयम आदिके

और मूलगुणों सहित जो पुरुष इष्ट अनिष्ट पदार्थोंसे रागद्वेष दूर करनेकेलिये अतिचाररहित उत्तरगुणोंको सुगमतासे धारण करता है वह व्रती कहलाता है। यहांपर इतना और समझ लेना चाहिये कि इष्ट अनिष्ट पदार्थोंसे रागद्वेष दूर करनेकेलिये वह उत्तरगुणोंको निरतिचार पालन करता है किसी

द्वारा किसी इष्ट फलकी प्राप्तिकी इच्छा करना निदान है। वह दो प्रकारका है—एक प्रशस्त और दूसरा अप्रशस्त। उसमेंभी प्रशस्तके दो भेद है—एक मुक्तिका कारण और दूसरा संसारका कारण। समस्त कर्मोंके क्षय करनेकी आकांक्षा करना मुक्तिका कारण **प्रशस्त निदान** है। कहा भी है—

कर्मव्यपायं भवदुःखहानिं बोधिं समाधिं जिनबोधसिद्धिं। आकांक्षितं क्षीणकषायवृत्तेर्विमुक्तिहेतुः कथितं निदानं॥ **अर्थ**—जिसके कषाय नष्ट होगये हैं ऐसा पुरुष कर्मका नाश, संसारके दुःखकी हानि, रत्नत्रय, समाधि और केवलज्ञानकी सिद्धि होनेकी इच्छा करे तो उस इच्छाको मुक्तिका कारण **प्रशस्त निदान** कहते है।

जिनधर्मसिद्ध्यर्थं तु जात्याद्याकांक्षणं संसारनिमित्तं। **अर्थ**—जिनधर्मकी सिद्धि और वृद्धि करनेकेलिये अपनी जाति आदिकी आकांक्षा करना सो संसारका कारण निदान है। कहा भी है—

जातिं कुलं बंधविवर्जितत्वं दरिद्रतां वा जिनधर्मसिध्यै। प्रयाचमानस्य विशुद्धवृत्तेः संसारहेतुर्गदितं निदानं॥ **अर्थ**—विशुद्ध चारित्रवालेको जिनधर्मकी वृद्धि करनेकेलिये जो उत्तम जाति, उत्तम कुल, बंधसे रहित होना, और परिग्रहसे रहितपनाकी जो इच्छा होती है उसको संसारका कारण प्रशस्त निदान कहते हैं।

लाभ या अन्यकी इच्छासे नहीं । यदि वह किसी लाभ आदि-की इच्छासे ही व्रत पालन करे तो वह व्रती नहीं समझा जा सकता । तथा वह व्रती शल्यरहित होना चाहिये । यहांपर कदाचित् कोई यह प्रश्न करे कि 'संपूर्णदृग्मूलगुणः' अर्थात् 'जिसके सम्यग्दर्शन और मूलगुण पूर्ण हैं' ऐसा कहनेसे ही उसके शल्योंका अभाव सिद्ध होता है फिर "वह शल्यरहित होना चाहिये" यह विशेषण व्यर्थ ही क्यों दिया है? परंतु इसका समाधान इसप्रकार है कि तुम कहते हो वह ठीक है

अप्रशस्त निदानके भी दो भेद हैं—एक **भोगार्थनिदान** और दूसरा **मानार्थ निदान** । एक घातकल्प निदान भी है परंतु वह मानार्थनिदानमें अंतर्भूत हो जाता है इसलिये उसे अलग नहीं कहा है।

ऊपर लिखे निदानोंमेंसे पहिली प्रतिमा धारण करनेवालेको मुक्तिनिदान ही उपकारी है, बाकीके तीन निदान साक्षात् व परंपरासे जन्ममरणरूप दुःखोंके ही कारण हैं इसलिये ये कभी नहीं करने चाहिये क्योंकि—

मोक्षेऽपि मोहादभिलाषदोषो विशेषतो मोक्षनिषेधकारी । यतस्ततोऽध्यात्मरतो मुमुक्षुर्भवेत्किमन्यत्र कृताभिलाषः ॥ **अर्थ**—कदाचित् किसी जीवको मोहकर्मके उदयसे मोक्षकी अभिलाषा होती है, परंतु वह अभिलाषा भी विशेषकर मोक्षसे रोकनेवाली है । क्योंकि मोक्षा-भिलाषी जीवको निरंतर आत्मामें लीन होना चाहिये उसे अन्य किसी-की अभिलाषा करना उचित नहीं है ।

किंतु उसमें इतना और विशेष है कि जिसने थोडे दिनसे ही व्रत धारण किये हैं वह उन व्रतोंको शल्यरहित पालन करनेके लिये पहिलेके विभ्रमरूप संस्कारोंसे उत्पन्न हुये परिणामोंकी परंपराको दूर करनेका फिर भी प्रयत्न करता है, अर्थात् यद्यपि पहिलेके विभ्रमरूप परिणाम उसके नहीं हैं तथापि उस विभ्रमके संस्कारसे उन परिणामोंकी जो परंपरा बनी हुई है उनके दूर करनेका वह फिर भी प्रयत्न करता है इसीका उपदेश देनेके-लिये निःशल्य यह विशेषण दिया है। उपदेश देनेमें यदि कोई बात प्रकारांतरसे दुबारा भी कही जाय तो भी उसमें कोई दोष नहीं माना जाता ॥ १ ॥

आगे—तीनों शल्योंके दूर करनेका हेतु बतलाते हैं—

सागारो वानगारो वा यन्निःशल्यो व्रतीष्यते।
तच्छल्यवत्कुदृग्मायानिदानान्युद्धरेध्दृदः ॥ २ ॥

अर्थ—चाहे गृहस्थ हो अथवा मुनि हो जो शल्य रहित व्रत धारण करता है वही व्रती कहलाता है। यहांपर इसप्रकार समझलेना चाहिये कि शल्यके दूर होनेपर ही व्रतोंके होतेहुये व्रती कहलाता है। व्रत होनेपर यदि निःशल्य न हो तो वह व्रती नहीं कहला सकता। जैसे जिसके बहुतसा घी दूध होता है उसे गाय, भैंस पालन करनेवाला ग्वालिया कहते हैं परंतु जिसके अनेक गाय भैंस होनेपर भी घी

दूध न हो तो उसे कोई भी ग्वालिया नहीं कहता इसीप्रकार भी दूध होनेपर भी यदि वह गाय भैंस न रखता हो अर्थात् खरीदकर ही घी दूध रखता हो तो भी उसे ग्वालिया नहीं कहते। इसीप्रकार जो शल्यरहित है परंतु अहिंसा आदि व्रत पालन नहीं करता वह भी व्रती नहीं है, तथा अहिंसा आदि व्रत पालन करता हुआ भी यदि शल्यरहित न हो तो भी वह व्रती नहीं है किंतु जो व्रत पालन करता हो और शल्यरहित हो वही व्रती कहलाता है। इसलिये जैसे हमलोग छातीमें लगे हुये बाणको निकाल डालते हैं उसीप्रकार मिथ्यात्व माया और निदान इन तीनों शल्योंको हृदयसे निकाल डालना चाहिये॥ १॥

आगे——शल्यसहित व्रतोंको धिक्कार देते हुये कहते हैं—

आभांत्यसत्यदृग्माया यानिदानैः साहचर्यतः।
यान्यव्रतानि व्रतवद्दुःखोदर्काणि तानि धिक् ॥२॥

अर्थ—जो असत्यदृक् अर्थात् विपरीत श्रद्धान वा मिथ्यात्व, माया और निदान इन तीनों शल्योंके संबंधसे व्रतोंके समान जान पडते हैं और जो अंतमें केवल दुःख ही देनेवाले हैं ऐसे अव्रतोंको धिक्कार हो। भावार्थ—शल्यसहित व्रत अव्रत ही हैं और इसलिये ही अंतमें दुःख देनेवाले हैं। ऐसे अव्रत (शल्य-सहित व्रत) निंद्य है उनकेलिये आचार्य वारवार धिक्कार देते हैं॥ २॥

आगे—उत्तरगुणोंका निर्णय करनेकेलिये कहते हैं-

पंचधाणुव्रतं त्रेधा गुणव्रतमगारिणां ।
शिक्षाव्रतं चतुर्धेति गुणाः स्युर्द्वादशोत्तरे ॥४॥

अर्थ-पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ये बारहव्रत गृहस्थोंके उत्तरगुण हैं। यहांपर गुण शब्दका अर्थ संयमके भेद हैं। संयमके मूल भेदोंको मूलगुण और उत्तर भेदोंको उत्तरगुण कहते हैं। ये मद्यत्याग आदि आठ मूलगुण धारण करनेके पीछे धारण किये जाते हैं और मूलगुणोंसे उत्कृष्ट हैं इसलिये इन्हें उत्तरगुण कहते हैं। महाव्रतोंकी अपेक्षा जो लघु वा छोटे हों उन्हें अणुव्रत कहते हैं और वे अहिंसा आदि पांच हैं। यह अणुव्रतोंकी पांच संख्या आचार्योंके बहुमतसे लिखी गई है अर्थात प्रायः बहुतसे आचार्य पांच ही अणुव्रत मानते हैं। जो अणुव्रतोंकी संख्या पांच मानते हैं वे रात्रिभोजनत्यागव्रतको अहिंसा अणुव्रतकी भावना होनेसे उसीमें अंतर्भूत करलेते हैं परंतु किसी किसी आचार्यने रात्रिभोजनत्यागव्रतको छट्ठा अणुव्रत माना है अर्थात् इसतरह अणुव्रतोंकी संख्या [1]छह मानी है। जो अणुव्रतोंका उपकार

१-चारित्रासारमें लिखा है—

वधादसत्याच्चौर्याच्चकामाद्ग्रंथान्निवर्त्तनं। पंचधाणुव्रतं रात्र्यभुक्तिः षष्ठमणुव्रतं ॥ **अर्थ**-हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह इनका त्याग करना पांच अणुव्रत हैं तथा रात्रिभोजनत्याग भी छट्ठा अणुव्रत है।

करें उन्हें गुणव्रत कहते हैं, दिग्व्रत आदि अणुव्रतोंको बढाते रहते हैं इसलिये वे गुणव्रत कहलाते हैं और वे तीन प्रकारके हैं। जो व्रत शिक्षा वा अभ्यासके लिये किये जाते हैं उन्हें शिक्षाव्रत कहते हैं; देशावकाशिक, सामयिक आदि व्रतोंका प्रतिदिन अभ्यास किया जाता है इसलिये ये शिक्षाव्रत कहलाते है और वे चार प्रकारके हैं। गुणव्रत और शिक्षाव्रतोंमें यही भेद है कि शिक्षाव्रतोंका अभ्यास प्रतिदिन किया जाता है और गुणव्रत प्रायः जन्मभरके लिये धारण किये जाते हैं। अथवा विशेष श्रुतज्ञानकी भावनाओंमें परिणत होनेसे अर्थात् श्रुतज्ञानकी भावनाओंका चिंतवन करनेसे ही देशावकाशिक आदि शिक्षाव्रतोंका निर्वाह अच्छी तरह हो जाता है इसलिये जिनमें शिक्षाजनक विद्याओंका ग्रहण किया जाय अथवा जिनमें शिक्षा ही प्रधान हो उन्हें शिक्षाव्रत कहते हैं। इसप्रकार भी ये गुणव्रत वा अणुव्रतोंसे भिन्न हैं ॥ ४ ॥

आगे-सामान्य रीतिसे पांचों अणुव्रतोंका लक्षण कहते हैं-

विरतिः स्थूलवधादेर्मनोवचोऽगकृतकारितानुमतैः।
कचिदपरेऽप्यननुमतैः पंचाहिंसाद्यणुव्रतानि स्युः ॥५॥

अर्थ-स्थूल वध आदि अर्थात् स्थूल हिंसा, स्थूल असत्य, स्थूल चोरी, स्थूल अब्रह्म और स्थूल परिग्रह इन पांचों स्थूल पापोंका मन वचन कायसे तथा कृतकारित अनुमोदनासे जो

त्याग करना है उसे अणुव्रत कहते हैं और वह अणुव्रत अहिंसा सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रहपरिणामके भेदसे पांचप्रकारका है। इसमें भी इतना विशेष और है कि इन अणुव्रतोंको धारण करनेवाले श्रावक दो प्रकारके होते हैं एक तो वे कि जो घरमें रहनेसे विरक्त हो चुके हैं अर्थात् जिन्होंने घर रहना छोड दिया है, जो उदासीन होगये हैं, और दूसरे वे जो घरमें ही रहते हैं अर्थात् जो गृहस्थ हैं। इन दोनोंमेंसे जो उदासीन वा घरसे विरक्त श्रावक हैं उनके तो मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदना इन नौप्रकारसे पांचों स्थूल पापोंका त्यागरूप अणुव्रत होते है और जो गृहस्थ श्रावक हैं उनके अनुमतिका त्याग नहीं होता उनके मन वचन काय और कृत कारित ऐसे छह प्रकारसे ही पांचों स्थूल पापोंका त्याग होता हैं।

आगे—इसीको कुछ विस्तारसे लिखते हैं—जिसमें स्थूल जीवोंका घात होता हो अथवा अन्य मिथ्यादृष्टियोंमें भी जो हिंसारूपसे प्रसिद्ध हो उसे स्थूल हिंसा कहते हैं इसीतरह झूठ चोरी आदि भी जो सब जगह प्रसिद्ध हों और स्थूल विषयक हों वे स्थूल चोरी झूठ आदि कहे जाते हैं। इन स्थूल हिंसा झूठ चोरी अब्रह्म और परिग्रह पांचों स्थूल पापोंका मन वचन काय, कृत कारित अनुमोदना इन नौप्रकारसे त्यागरूप जो अहिंसा सत्य अचौर्य ब्रह्मचर्य और परिग्रहपरिमाण पांच अणुवत हैं वे गृहत्यागी श्रावकके होते हैं और ये उत्कृष्ट अणुव्रत कहलाते हैं। तथा जो गृहस्थ श्रावकके मन वचन काय और कृतकारित इनके संबंधरूप छहप्रकारसे पांचों स्थूल पापोंका

त्यागरूप अणुव्रत हैं वे मध्यम वृत्तिसे अणुव्रत कहे जाते है अर्थात् वे मध्यम अणुव्रत हैं। गृहस्थ इन मध्यम अणुव्रतोंको ही पालन कर सकता है। क्योंकि यद्यपि वह हिंसादि पाप मन वचन कायसे न करता है और न कराता है परंतु उसके पुत्र पौत्र आदि जो हिंसादि पाप करते कराते हैं अथवा हिंसादिके कारण मिलाते हैं उसमें वह अपनी अनुमति वा संमतिका त्याग नहीं कर सकता और इसतरह वह अनुमोदनासे त्याग नहीं कर सकता इसलिये वह छहप्रकारसे हिंसादि पापोंका त्याग कर मध्यम अणुव्रत धारण करता है। इसप्रकार स्थूल हिंसादि पापोंके त्यागरूप जो अणुव्रत हैं उनके दो या तीन भेद होते हैं और इन तीनोंमेंसे कोई भी एक प्रकारका अणुव्रत धारण करना अच्छा और कल्याण करनेवाला ही है, क्योंकि अणुव्रत न धारण करनेसे जो बहुतसे हिंसादि पाप लगते हैं उनमेंसे जितने पाप छूट जायं उतने ही अच्छे हैं। इसलिये किसीप्रकारका भी अणुव्रत धारण कर लेना अच्छा है। श्लोकमें जो अपि शब्द दिया है वह यह सूचित करता है कि यदि किसी [1]अन्यप्रकारसे भी स्थूल हिंसा आदि पापोंका त्याग किया जाय

१—इसका यह अभिप्राय है कि कोई मनुष्य स्थूल हिंसादि पापोंको स्वयं नहीं करता परंतु वह करानेका त्याग नहीं कर सकता अथवा मन वचनसे त्याग नहीं कर सकता, केवल शरीरसे त्याग करता है। यदि वह स्वयं करनेका ही त्याग कर दे या शरीरसे ही त्याग करदे अथवा केवल मनसे वा वचनसे ही त्याग कर दे अथवा और भी किसी किसी मर्यादासे थोडा बहुत त्याग कर दे तो वह उसका त्याग अणुव्रत ही गिना जायगा।

तो वह भी अणुव्रत गिना जाता है। क्योंकि जो व्रत अपनी शक्तिके अनुसार पालन किया जाता है उसीका निर्वाह सुखपूर्वक होता है और उसीसे इस जीवका कल्याण होता है।

पापोंके त्याग करनेके भेद मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदना इनके संबंधसे उनंचास होते हैं। जैसे हिंसा मनसे नहीं करना, वचनसे नहीं करना, शरीरसे (कायसे) नहीं करना, मन और वचनसे नहीं करना, मन और कायसे नहीं करना, वचन और कायसे नहीं करना तथा मन वचन काय इन तीनोंसे मिलकर नहीं करना। इसप्रकार कृत अर्थात् करनेके सात भेद हुये। इसीप्रकार कारित अर्थात् करानेके सात भेद और अनुमोदना अर्थात् संमति देनेके सात भेद हुये। सब इकईस भेद हुये। तथा हिंसाके करने करानेका मनसे त्याग करना, वचनसे त्याग करना, कायसे त्याग करना, मन वचनसे त्याग करना, मन कायसे त्याग करना, वचन कायसे त्याग करना और मन वचन काय तीनोंसे त्याग करना इसप्रकार करने करानेके सात भेद हुये। इसीप्रकार कृत अनुमोदना अर्थात् करने और संमति देनेके सात भेद, कारित और अनुमोदना अर्थात् कराने और संमति देनेके सात भेद, और कृत कारित अनुमोदनाके सात भेद इसप्रकार सब अठाईस भेद ये हुये। सब मिलकर उनंचास भेद हुये। ये उनंचास नीचे लिखे कोष्ठकसे स्पष्ट जान पड़ते हैं—

१	मनकृत	वचनकृत	कायकृत	मन वचनकृत	मन कायकृत	वचन कायकृत	मन वचन काय कृत
२	मनकारित	वचन कारित	काय कारित	मन वचनकारित	मन कायकारित	वचन कायकारित	मन वचन काय कारित
३	मनोनुमत	वचनानुमत	कायानुमत	मनोवचनानुमत	मनःकायानुमत	वचनकायानुमत	मन वचन का-यानुमत
४	मन कृतकारित	वचनकृतकारित	कायकृतकारित	मन वचनकृतकारित	मन कायकृतकारित	वचन कायकृतकारित	मन वचन काय-कृतकारित
५	मन कृतानुमत	वचन कृतानुमत	काय कृतानुमत	मन वचनकृतानुमत	मन कायकृतानुमत	वचन कायकृतानुमत	मन वचन काय कृतानुमत
६	मनकारितानुमत	वचनकारितानु मत	कायकारितानु-मत	मन वचनकारितानु-मत	मन काय कारितानु-मत	वचन कायकारितानु-मत	मन वचनकाय-कारितानुमत
७	मन कृत कारि-तानुमत	वचन कृत कारि-तानुमत	काय कृत कारि-तानुमत	मन वचनकृतकारि-तानुमत	मन कायकृतकारिता-नुमत	वचन कायकृत-कारितानुमत	मनवचनकाय कृतकारितानुमत
	१	२'	३	४	५	६	७

इसप्रकार हिंसा आदि पापोंके त्यागके ऊपर लिखे हुये उनंचास भेद हुये। इनके भूतकाल, वर्तमानकाल और भविष्यत्काल संबंधी त्याग करनेसे तिगुने अर्थात् एकसौ सेंतालीस भेद होते हैं। जैसे–उनंचास प्रकारसे पहिले किये हिंसा आदि पापोंका पश्चात्ताप करना अथवा पहिले किये हुये पापोंका उनंचास तरहसे पश्चात्ताप करना, वर्तमान कालमें उनंचास तरहसे हिंसाका त्याग करना और भविष्यत्कालमें इन उनंचासतरहसे हिंसादि पाप न करनेका निश्चय करना। इसप्रकार त्यागके सब एकसौ सेंतालीस भेद होते हैं। यहांपर अहिंसाव्रतके जो एकसौ सेंतालीस भेद दिखालाये हैं उसीप्रकार सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रहत्याग इन व्रतोंके भी प्रत्येकके एकसौ सेंतालीस भेद जानना। इसप्रकार पांचों अणुव्रतोंके संक्षेपसे सातसौ पेंतीस भेद हुये।

ऊपर जो मन वचन कायके भेद दिखलाये गये हैं उनमेंसे दो दो तीन तीनके कुछ एक भेद लेकर यथासंभव दिखलाते हैं। जो स्थूलहिंसा मनसे वचनसे और कायसे स्वयं नहीं करता न दूसरेसे कराता है तथा जो स्थूल हिंसा मनसे और वचनसे नहीं करता और न कराता है तथा अनुमति भी नहीं देता, अथवा मनसे और शरीरसे, अथवा वचनसे और शरीरसे करता कराता नहीं और न अनुमति देता है इत्यादि। इनमेंसे जब वह मन और वचनसे हिंसा करने करानेका त्यागी

है तब वह उस हिंसाका मनसे चिंतवन नहीं करता और न वचनसे कोई हिंसक शब्द कहता है परंतु वह असेनी जीवके समान केवल शरीरसे ही दुष्ट व्यापार करता है। इसीतरह जब वह मन और कायसे हिंसा नहीं करता न कराता है उससमय वह मनसे भी हिंसाका विचार नहीं करता और न शरीरसे कुछ दुष्ट व्यापार (क्रिया) करता कराता है परंतु वह वचनसे " मैं इसे मारता हूं वा सताता हूं " आदि शब्द कहता है। इसीप्रकार जब वह वचन और कायसे हिंसा नहीं करता न कराता है उससमय वह केवल मनसे ही हिंसा करने करानेका संकल्प करता रहता है। ऊपर लिखे हुये उदाहरणोंमें मन, वचनसे वा मन कायसे वा वचन कायसे वा तीनोंसे वह करने करानेका त्यागी है इसलिये वह अपनी संमति मन वचन काय तीनोंसे दे सकता है। क्योंकि वह अनुमोदनाका त्यागी नहीं है। जिसप्रकार ऊपर लिखे हुये दो तीन उदाहरण दिखलाये हैं उसीप्रकार बाकीके सब भेद समझलेना चाहिये।

इस श्लोकमें ' स्थूलहिंसा आदि पापोंका त्याग ' ऐसा कहा है। यह स्थूल शब्द उपलक्षणरूप है अर्थात् इसमें और भी कईप्रकारकी हिंसाका त्याग किया जा सकता है और इस-लिये ही " निरपराधी जीवकी संकल्पपूर्वक हिंसाका त्याग

भी इसमें [1]शामिल किया जाता है " अर्थात् अहिंसा अणुव्रती निरपराधी जीवकी संकल्पपूर्वक हिंसाका भी त्यागी होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि अणुव्रती निरपराधी जीवोंकी संकल्पपूर्वक हिंसाका त्यागी है वह अपराधी जीवोंकी संकल्पी हिंसाका त्याग नहीं भी कर सकता है। इसलिये ही " दंडो हि केवलो लोकमिमं चामुं च रक्षति। राज्ञा शत्रौ च पुत्रे च यथादोषं समं धृतः। " अर्थात्—" चाहे वह राजाका शत्रु हो अथवा पुत्र हो उसके किये हुये दोषके अनुसार दंड देना ही राजाको इस लोक और पर लोकमें रक्षा करता है। " इस वचनसे अपराधी जीवोंको उनके अपराधके अनुसार यथायोग्य दंड देनेवाले चक्रवर्ती आदि राजाओंके भी अणुव्रत हो सकते हैं तथा ' अणुव्रत धारण करनेवालोंने भी अनेक युद्ध किये हैं अनेक शत्रुओंको मारा है ' आदि जो अनेक पुराणोंमें सुना जाता है उसमें भी कोई विरोध नहीं आता है। क्योंकि उन्होंने अपने पदके अनुसार अणुव्रत ग्रहण किये थे ॥५॥

१—पंगुकुष्ठिकुणित्वादि दृष्ट्वा हिंसाफलं सुधीः। निरागस्त्रस-जंतूनां हिंसां संकल्पतस्त्यजेत् ॥ अर्थ—लंगडे होना, कोढी होना, बहिरा होना, कुबडा होना आदि सब हिंसाके फल हैं। ऐसा देखकर बुद्धिमानोंको निरपराधी जीवोंकी संकल्पपूर्वक हिंसाका त्याग अवश्य कर देना चाहिये।

आगे---स्थूल इस विशेषणका प्रयोजन दिखलाते हैं-

स्थूलहिंसाद्याश्रयत्वात्स्थूलानामपि दुर्दृशां ।
तत्त्वेन वा प्रसिद्धत्वाद्वधादि स्थूलमिष्यते ॥६॥

अर्थ---जिसके आश्रय होकर हिंसा आदि पाप किये जाते हैं वह स्थूल हो अर्थात् जिस जीवकी हिंसा करना है वह स्थूल वा बादर अथवा त्रस हो, जिसके विषयमें झूठ बोलना है वह कोई बडी बात हो, जिसको चोरी करना है वह बडी अर्थात् कीमती हो, जिस स्त्रीके साथ संभोग करना है वह स्थूल अर्थात् दूसरेकी हो, अपनी न हो, जिस वस्तुका संग्रह करना है वह भी बहुत हो। ऐसे ऐसे स्थूल पदार्थोंके आश्रय होनेवाले जो हिंसा आदि पांचों ही पापकर्म हैं वे स्थूलवधादि कहलाते हैं। अथवा सूक्ष्मज्ञानसे रहित ऐसे मिथ्यादृष्टि लोगोंमें भी जो हिंसा झूठ चोरी आदि पापरूपसे ही प्रसिद्ध हों उन्हें स्थूल-वधादि (स्थूल हिंसा आदि) कहते हैं। वा शब्दसे जो हिंसा झूठ चोरी आदि स्थूलरूपसे किये जाते हैं वे भी स्थूलहिंसा आदि ही कहलाते हैं। भावार्थ---जो हिंसा झूठ चोरी आदि लोकमें प्रसिद्ध हैं, उन्हींका त्याग करना अणुव्रत है ॥६॥

आगे---उत्सर्गरूप अहिंसाणुव्रतको कहते हैं-

शांताद्यष्टकषायस्य संकल्पैर्नवभिस्त्रसान् ।
अहिंसतो दयार्द्रस्य स्यादहिंसेत्यणुव्रतं ॥७॥

अर्थ---जिसके अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ

तथा अप्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ ये आठों कषाय शांत हो गये हैं अथवा जिसने ये आठों कषाय शांत कर दिये हैं, तथा जो आगेके दो श्लोकोंमें लिखे अनुसार मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदनासे अर्थात् नौ प्रकारसे संकल्पपूर्वक द्वींद्रिय तेइंद्रिय चौइंद्रिय और पंचेंद्रिय जीवोंकी हिंसा नहीं करता है। और जो दयालु है अर्थात् जिसका अंतःकरण करुणासे कोमल है, कारण पडनेपर स्थावर जीवोंका घात करता है तथापि उसके हृदयमें उससमय भी बहुत दया आती है। ऐसे भव्य जीवके पहिला अहिंसा अणुव्रत होता है।

यहांपर कृत कारित अनुमोदना तीनोंका ग्रहण किया है, उसमें कृतका ग्रहण अपनी स्वतंत्रता दिखलानेके लिये है, कारितका ग्रहण किसी दूसरे मनुष्यकेद्वारा करानेकी अपेक्षासे है और अनुमोदनाका ग्रहण मनके परिणाम दिखलानेके लिये है। भावार्थ—वह न स्वयं करता है, न किसी दूसरेसे कराता है और न करते हुयेको भला मानता है। इसी विषयको स्पष्ट रीतिसे दिखलाते हैं। (१) मनसे त्रस जीवोंकी हिंसा करनेका त्याग करना अर्थात् मनमें कभी मारनेका संकल्प नहीं करना। (२) मनसे हिंसा करानेका त्याग करना अर्थात् मनमें कभी दूसरेसे हिंसा करानेका संकल्प नहीं करना। (३) मनसे हिंसामें अनुमति नहीं देना अर्थात् किसी दूसरेने की हुई हिंसामें "उसने अच्छा किया" इसप्रकार मनसे अनुमोदना नहीं

करना । (४) वचनसे हिंसा नहीं करना अर्थात् मैं मारता हूं ऐसा शब्द उच्चारण नहीं करना । (५) वचनसे हिंसा नहीं कराना अर्थात् " तू मार वा हिंसा कर " इसप्रकार वचनसे नहीं कहना । (६) वचनसे हिंसाकी अनुमोदना नहीं करना अर्थात् जो हिंसा किसी दूसरेने की है उसमें " उसने अच्छा किया अथवा तूने अच्छा किया " इसप्रकार शब्दोंका उच्चारण नहीं करना अथवा ऐसे शब्द मुंहसे नहीं निकालना । (७) कायसे हिंसा नहीं करना अर्थात् त्रस जीवोंकी हिंसा करनेके-लिये स्वयं हाथ थप्पड आदि नहीं उठाना अथवा किसी जीव-की हिंसा करनेकेलिये शरीरका कोई व्यापार नहीं करना । कायसे हिंसा नहीं कराना अर्थात् त्रस जीवोंकी हिंसा करनेके-लिये उंगली आदिसे इशारा नहीं करना अथवा और भी शरी-रसे किसी तरहकी प्रेरणा नहीं करना । तथा कायसे हिंसामें अनुमति-नहीं देना अर्थात् जो कोई त्रस जीवकी हिंसा करनेमें प्रवृत्त हो रहा है उसकेलिये ताली या चुटकी बजाकर सम्मति नहीं देना । इसप्रकार नौ प्रकारके संकल्प होते हैं इन नौप्रकारके संकल्पोंसे त्रस जीवोंकी हिंसाका त्याग करदेना उत्कृष्ट अहिंसाणुव्रत है ॥७॥

आगे—दो श्लोकोंसे इसी विषयको स्पष्ट करते हैं—

इमं सत्त्वं हिनस्मीमं हिंधि हिंध्येष साध्विमं ।
हिनस्तीति वदन्नाभिसंदध्यान्मनसा गिरा ॥८॥
वर्तेत न जीववधे करादिना दृष्टिमुष्टिसंधाने ।
न च वर्तयेत्परं तत्परे नखच्छोटिका न च रचयेत् ॥९॥

अर्थ—जिसने घरमें रहनेका त्याग कर दिया है ऐसे गृहत्यागी श्रावकको " मैं इस सामनेके जीवको मारता हूं " ऐसा मनमें कभी चिंतवन नहीं करना चाहिये और न ऐसे शब्द ही मुंहसे निकालने चाहिये। तथा इसीतरह "इस जीवको तू मार " और "इस जीवको यह मारता है सो बहुत अच्छा करता है" ऐसे विचार कभी मनमें नहीं लाना चाहिये और न मुंहसे ही ऐसे शब्द निकालने चाहिये। इसीप्रकार आंखसे देखने और हाथ मुट्ठी आदिसे उठानेयोग्य पुस्तक आसन आदि जो जो उपकरण हैं उनसे होनेवाली हिंसामें भी हाथ उंगली आदि अंग उपांगसे प्रवृत्ति न करे। जैसा किसी दूसरे आचार्यने भी लिखा है—" आसनं शयनं यानं मार्गमन्यच्च वस्तुयत्। अदृष्टं तन्न सेवेत यथाकालं भजन्नपि॥ " अर्थात्—" श्रावकको आसन शय्या सवारी मार्ग आदि जो जो वस्तु समयानुसार काममें लानी चाहिये वह उसे देख शोधकर काममें लानी चाहिये विना देखे शोधे कभी कोई वस्तु काममें नहीं लानी चाहिये। " यहांपर दृष्टि मुष्टि संधान अर्थात् आंखसे देखनेयोग्य और हाथ उंगली आदिसे उठानेयोग्य ऐसा जो लिखा है उसमेंसे आंखसे देखने योग्यका यह अभिप्राय है कि ज्ञानसे विचार करनेयोग्य जो क्रियायें हैं उन्हें विचारकर करे और हाथ उंगली आदिसे उठानेयोग्यका यह अभिप्राय है कि जिस वस्तुको वह श्रावक रक्खे या उठावे उसे देख शोधकर रक्खे उठावे विना विचारकर और विना देख शोधकर कोई काम न

करे। इसीप्रकार गृहत्यागी श्रावकको किसी त्रस जीवके घात करानेकेलिये किसी अन्य पुरुषसे प्रेरणा नहीं करना चाहिये अर्थात् किसी अन्यसे हिंसा नहीं कराना चाहिये और न स्वयमेव हिंसा करते हुये किसी मनुष्यकेलिये ताली चुटकी आदि बजाकर उसकी अनुमोदना करनी चाहिये ॥८-९॥

इसप्रकार गृहत्यागी श्रावकके अहिंसाणुव्रतकी विधि कही।

अब आगे-गृहस्थ श्रावकके अहिंसाणुव्रतका उपदेश देते हुये कहते हैं—

इत्यनारंभजां जह्याद्धिंसामारंभजां प्रति।
व्यर्थस्थावरहिंसावद्यतनामावहेद्गृही ॥१०॥

अर्थ-जिसप्रकार गृहत्यागी श्रावक आसन उपवशन (बैठना) आदि अनारंभ क्रियाओंमें हिंसाका त्याग करता है उसीप्रकार गृहस्थ श्रावकको भी आसन शय्या आदि अनारंभ क्रियाओंमें होनेवाली हिंसाका [1]त्याग करना चाहिये

१-हिंसा द्वेधा प्रोक्तारंभानारंभभेदतो दक्षैः। गृहवासतो निवृत्तो द्वेधापि त्रायते तां च ॥ गृहवाससेवनरतो मंदकषायः प्रवर्तितारंभः। आरंभजां स हिंसां शक्नोति न रक्षितुं नियतं ॥ अर्थ-हिंसा दो प्रकारकी है एक खेती व्यापार आदि आरंभसे होनेवाली और रखना उठाना आदि अनारंभसे होनेवाली। गृहत्यागी श्रावक इन दोनों प्रकारकी हिंसाका त्यागी होता है तथा खेती व्यापार आदि आरंभ करनेवाला और क्रोधादि कषाय जिसके मंद होगये हैं ऐसा गृहस्थ श्रावक खेती व्यापार आदि आरंभसे होनेवाली हिंसाका त्याग नहीं कर सकता ऐसा नियम है।

अर्थात् उठना बैठना रखना उठाना आदि क्रियाओंको देख शोधकर सावधानीसे करना चाहिये । कहा भी है—"गृहकार्याणि सर्वाणि दृष्टिपूतानि कारयेत्" अर्थात् घरके सब काम देखकर करना चाहिये कि जिसमें किसी जीवकी हिंसा न हो सके। तथा जिसप्रकार विना कारण एकेंद्रीय जीवोंकी हिंसा न होने देनेमें सावधानी रक्खी जाती है उसीप्रकार खेती व्यापार आदि आरंभ कार्योंसे होनेवाली हिंसामें भी समिति रखनी चाहिये अर्थात् उसमें भी ऐसे यत्नसे चलना चाहिये कि जिससे अधिक हिंसा न होने पावे ॥१०॥

आगे—स्थावर जीवोंकी हिंसा न करनेका उपदेश देते हैं—

> यन्मुक्त्यंगमहिंसैव तन्मुमुक्षुरुपासकः ।
> एकाक्षवधमप्युज्झेद्यः स्यान्नावर्ज्यभोगकृत् ॥११॥

अर्थ—यह वात सिद्ध है कि द्रव्यहिंसा और भावहिंसाका त्याग करना ही मोक्षका साधन है इसलिये मोक्षकी इच्छा करनेवाले श्रावकको सेवन करने योग्य जिन भोगोपभोगोंका त्याग हो ही नहीं सकता अथवा जिनका संग्रह करना ही चाहिये ऐसे सेवन करने योग्य भोगोपभोगोंमें होनेवाली एकेंद्रिय जीवोंकी हिंसाको छोड कर बाकी बचे हुये [१]एकेंद्रिय जीवों-

---

१—जे तसकाया जीवा पुव्वुद्दिठा न हिंसिदव्वा ते । एगेंद्रियावि णिक्कारणेण पढम वदं थूलं ॥ अर्थ—पाहिले कहे हुये त्रस कायके जीवोंको नहीं मारना तथा विना कारणके एकेंद्रियादि जीवोंको भी नहीं मारना सो पहिला स्थूलव्रत अर्थात् अहिंसा अणुव्रत हैं ।

की हिंसाका त्याग भी अवश्य कर देना चाहिये । भावार्थ—योग्य भोगोपभोगोंके सेवन करनेमें जो एकेंद्रिय जीवोंकी हिंसा होती है वह तो गृहस्थसे छूट ही नहीं सकती परंतु जिसप्रकार वह त्रस जीवोंकी हिंसाका त्याग करता है उसीप्रकार उन भोगोपभोगोंमें होनेवाली हिंसाके सिवाय जो स्थावर जीवोंकी हिंसा है उसका त्याग भी उस मोक्षकी इच्छा करनेवाले श्रावकको अवश्य कर देना चाहिये । यहांपर 'मोक्षकी इच्छा करनेवाले श्रावकको' ऐसा जो लिखा है उसका यह अभिप्राय है कि भोगोपभोगोंकी इच्छा करनेवाले श्रावकके लिये उन भोगोपभोगोंमें होनेवाली हिंसाके सिवाय स्थावर जीवोंकी हिंसाके त्याग करनेका नियम नहीं हैं यह नियम केवल मुमुक्षु श्रावकके लिये है ॥ ११ ॥

स्तोकैकेंद्रियघाताद्गृहिणां संपन्नयोग्यविषयाणां । शेषस्थावर–मारणविरमणमपि भवति करणीयं ॥ अर्थ–इंद्रियोंके विषयोंकी न्यायपूर्वक सेवा करनेवाले श्रावकोंको काममें आनेवाले थोडे एकेंद्रिय जीवोंके घात करनेके सिवाय बाकी स्थावर जीवोंके मारनेका त्याग भी अवश्य करने योग्य है ।

भूपयः पवनाग्नीनां तृणादीनां च हिंसनं । यावत्प्रयोजनं स्वस्य तावत्कुर्यादजंतुजित् ॥ अर्थ– अहिंसक श्रावकको जितनेमें अपना प्रयोजन हो उतनी ही पृथ्वी अप तेज वायु और वनस्पतिकायिक जीवोंकी हिंसा करनी चाहिये । भावार्थ–शेषका त्याग कर देना चाहिये ।

आगे-संकल्पी हिंसाका नियम करते हैं—

गृहवासो विनारंभान्नाचारंभो विना वधात् ।
त्याज्यः स यत्नात्तन्मुख्यो दुस्त्यजस्त्वानुषंगिकः ॥१२॥

अर्थ-खेती व्यापार आदि जो आरंभ आजीविकाके उपाय हैं उनके विना गृहस्थाश्रम चल नहीं सकता, और खेती व्यापार आदि आरंभ विना हिंसाके नहीं होसकते इसलिये श्रावकको "मैं अपने इस प्रयोजनके लिये इस जीवको मारता हूं" ऐसे संकल्पपूर्वक जो संकल्पी हिंसा है उसका त्याग प्रयत्नपूर्वक अर्थात् सावधानीसे अवश्य कर देना चाहिये। क्योंकि खेती व्यापार आदि आरंभसे होनेवाली हिंसाका त्याग करना गृहस्थ श्रावकके लिये अति कठिन है ॥ १२ ॥

आगे-प्रयत्नपूर्वक त्याग करनेयोग्य हिंसाका उपदेश देते हैं-

दुःखमुत्पद्यते जंतोर्मनः संक्लिश्यतेऽस्यते ।
तत्पर्यायश्च यस्यां सा हिंसा हेया प्रयत्नतः ॥ १३ ॥

अर्थ-जिस हिंसाके करनेसे अपने जीव और परजीवको दुःख होता है अर्थात् अपने पराये शरीरको कष्ट पहुंचता है, तथा उसके मनको अत्यंत संताप होता है और जिसकी हिंसा की जाती है उस जीवकी वर्तमानकालकी पर्याय नष्ट हो जाती है ऐसी हिंसा गृहस्थ श्रावकको प्रयत्नपूर्वक छोड देनी चाहिये ॥ १३॥

आगे—यहांसे आगे अहिंसा अणुव्रतकी आराधना

करनेका उपदेश देनेकेलिये लिखेंगे उसमेंभी पहिले अणुव्रत पालन करनेवाले श्रावकको उद्देशकर कहते हैं—

संतोषपोषतो यःस्यादल्पारंभपरिग्रहः ।
भावशुध्द्येकसर्गोऽसावहिंसाणुव्रतं भजेत् ॥१४॥

अर्थ—जो श्रावक अधिक संतोष होनेसे खेती व्यापार आदि थोडा आरंभ करता है तथा स्त्री, पुत्र,धन, धान्य आदि परिग्रहमें 'यह मेरा है मैं इनका स्वामी हूं' ऐसा ममत्व परिणाम भी थोडा रखता है, अर्थात् जिसे आरंभ परिग्रहसे आर्त और रौद्रध्यान विशेषरूपसे नही होता, थोडे ही आरंभ परिग्रहमें जो संतुष्ट रहता है, तथा जो मनको विशुद्ध रखनेमें सदा तल्लीन रहता है ऐसे गृहस्थको अहिंसा अणुव्रत पालन करना चाहिये ॥१४॥

आगे—पांचों अतिचारोंको टालकर वचनगुप्ति, मनोगुप्ति आदि पांचप्रकारकी भावनाओंसे अहिंसा अणुव्रतको साधन करना चाहिये ऐसा उपदेश देते हैं—

मुंचन् बंधं वधच्छेदमतिभाराधिरोपणं ।
भुक्तिरोधं च दुर्भावाद्भावनाभिस्तदाविशेत् ॥१५॥

अर्थ—किसी दुष्ट हेतुसे किये हुये बंध आदि पांचों अर्थात् बांधना, मारना, छेदना, अधिक बोझा लादना तथा अन्नपानका निरोध करना इन पांचों अहिंसा अणुव्रतोंके अतिचारोंको

छोडकर श्रावकोंको वाग्गुप्ति, मनोगुप्ति, ईर्यासमिति, आदान-निक्षेपणसमिति और आलोकितपानभोजन इन पांचों भावनाओंसे अहिंसा अणुव्रतको पालन करना चाहिये।

इसका विस्तार वा खुलासा इसप्रकार है– रस्सी आदिसे गाय मनुष्य आदिकोंको बांधना वा रोक रखना बंध कहलाता है। यह अहिंसा अणुव्रतका पहिला अतिचार है। इसमें इतना विशेष है कि विनय नम्रता आदि गुण सिखानेकेलिये पुत्र शिष्य आदिकोंको भी कभी कभी रस्सी आदिसे बांधना वा रोकना पडता है परंतु वह बांधना अतिचार नहीं है इसीको दिखलानेके लिये इस श्लोकमें दुर्भावात् ऐसा कहा है।

दुर्भावका अर्थ बुरे परिणाम हैं। बुरे परिणामोंसे अर्थात् तीव्र कषायके उदयसे जो रस्सी आदिसे बांधना वा रोकना है वह अतिचार है ऐसा अतिचार व्रती श्रावकको छोड देना चाहिये। इस अतिचारके छोडनेकी विधि इसप्रकार है–मनुष्य, पक्षी आदि द्विपद और घोडा, बैल आदि चतुष्पदोंको बांध रखना बंध है। वह दो प्रकारका है एक सार्थक (जिसमें अपना कुछ प्रयोजन हो) और दूसरा अनर्थक अर्थात् जिसमें अपना कुछ प्रयोजन न हो। इन दोनोंमेंसे जो अनर्थक बंध है वह श्रावकको करना योग्य नहीं है, अर्थात् उसे कभी नहीं करना चाहिये। सार्थक बंध भी दो प्रकारका है, एक सापेक्ष अर्थात् किसी अपेक्षासे

और दूसरा निरपेक्ष अर्थात् जो विना किसीकी अपेक्षासे किया गया है। घोडा बैल आदि जानवरोंको जो रस्सीकी ढीली गांठसे बांधते है कि जिससे अग्नि आदि लगनेपर अथवा और कोई उपद्रव होनेपर वे जानवर उसे गांठ वा रस्सीसे स्वयं छूट सकें अथवा उसे तोड सकें। इसे सापेक्ष बंधन कहते हैं। तथा इन्हीं जानवरोंको दृढतापूर्वक बहुत कड़ी रीतिसे बांधना निरपेक्ष बंधन है। इसीप्रकार दासी, दास, चोर, जा' तथा प्रमादी पुत्र शिष्य आदिकोंको भी जब बांधना पडे तो उन्हें इसरीतिसे बांधना चाहिये कि जिसमें वे हलचल सकें। बंधन करनेवालोंको यह बात भी ध्यानमें रखना चाहिये कि जिसको बंधनमें रक्खा है उसकी रक्षा भी पूर्ण रीतिसे की जाय कि जिससे अग्नि आदिसे उसका विनाश न हो जाय। अथवा दासी, दास आदि द्विपद और घोडा, बैल आदि चतुष्पद, इन सबका संग्रह श्रावकको इसप्रकार करना चाहिये अथवा ऐसे दासी दास घोडा बैल आदिकोंका संग्रह करना चाहिये कि जो विना बांधे ही रह सकें। इसप्रकार बंध नामका अहिंसा अणुव्रतका पहिला अतिचार है।

वध—लकडी चाबुक आदिसे मारनेको वध कहते हैं। वह भी यदि बुरे परिणामोंसे किया जाय तो बंधके समान अतिचार होता है। यदि कोई शिष्य या दास विनय वा नम्रता न करे तो उसके मर्मस्थानको छोड कर किसी लता अथवा

हाथ आदिसे एक या दो वार मारना चाहिये। यद्यपि वध शब्दका अर्थ प्राणघात होता है परंतु व्रती श्रावक प्राणघातका सर्वथा त्याग प्रथम ही कर चुका है इसलिये अतिचारोंमें ग्रहण किये हुये वध शब्दका अर्थ छडी आदिसे ताडन करना ही लेना चाहिये। इसप्रकार यह वध नामका अहिंसाणुव्रतका दूसरा अतिचार है।

छेद—नाक कान आदि शरीरके अवयवोंके काटनेको छेद कहते हैं। वे शरीरके अवयव यदि बुरे परिणामोंसे काटे जायं तो अतिचार है। जैसे निर्दय होकर हाथ पैर आदि काट लेते हैं। यदि किसीके शरीरमें फोडा या गूमडा हो गया हो और उसकी स्वास्थ्यरक्षा करनेके लिये उसे चिरना या काटना पडे अथवा जलाना पडे तो आश्वासन देकर चीरना, काटना या जलाना भी अतिचार नहीं है, क्योंकि उसमें चीरने या काटनेवालेके परिणाम बुरे नहीं हैं। इसप्रकार यह तीसरा अतिचार है।

अतिभारारोपण–बैल घोडा आदि पशु अथवा दास दासी आदिकी पीठपर अथवा सिर वा गर्दनपर उसकी शक्तिसे अधिक बोझा लादनेको अतिभारारोपण कहते हैं। वह भी यदि बुरे परिणामोंसे अर्थात् क्रोध वा लोभसे किया जाय तो अतिचार होता है। इसके पालन करनेकी भी यह विधि है कि श्रावकको दास दासी अथवा घोडा बैल आदिपर बोझा लादकर

जीविका करना पहिलेसे ही छोड देना चाहिये, यही सबसे अच्छा पक्ष है। यदि कोई श्रावक ऐसी आजीविका नहीं छोड सकता हो तो दास दासियोंपर इतना बोझा लादना वा रखना चाहिये कि जितनेको वे स्वयं उठालें और स्वयं उतारलें तथा उन्हें उचित समयपर छोड देना चाहिये। घोडा बैल आदि जानवरोंपर जितना भार वे ले जा सकें उससे कुछ कम ही रखना चाहिये, हल गाडी आदिमें लगे हुये पशुओंको खाने पीने और आराम लेनेकेलिये उचित समयपर छोड देना चाहिये। इसप्रकार यह अतिभारारोपण नामका चौथा अतिचार है।

भुक्तिरोध—दूसरे जीवोंके खाने पीनेके निरोध करने वा रोक देनेको भुक्तिरोध कहते हैं। वह भी यदि बुरे परिणामोंसे किया जाय तो बंधके समान अतिचार होता है। जिससमय किसी भी प्राणीको तीव्र भूख या प्यास लगती है यदि उस-समय उसकी शांति करनेके लिये कुछ उपाय न किया जाय अथवा उसकी शांति न हो तो वह प्राणी तडफ तडफकर मर जाता है। इसलिये किसी भी जीवके खाने पीनेकी रुकावट कभी नहीं करना चाहिये। यदि किसीसे कुछ अपराध भी हुआ हो तो उससे बचनसे ही कहना चाहिये कि "आज तुझे भोजन नहीं दिया जायगा" परंतु भोजनके समय उसे अवश्य भोजन देना चाहिये। श्रावकोंको प्रत्येक दिन अपने भोजनके समय अपने आश्रित जीवोंको अथवा और भी किसी

भूखे जीवको भोजन कराकर ही स्वयं भोजन करना चाहिये। यदि किसीने उपवास किया हो अथवा जो किसी ज्वरादि रोगसे पीडित हो तो उसे भोजन देना उचित नहीं है अर्थात ऐसे समय भोजन न देना भी अतिचार नहीं है। तथा इसी-तरह किसी तरहकी (ज्वर आदिकी अथवा किसी पापकी) शांति करनेकेलिये अपने आश्रित लोगोंसे उपवास आदि भी कराना चाहिये, ऐसे उपवास करानेमें भुक्तिनिरोधका दोष नहीं है क्योंकि वह बुरे परिणामोंसे नहीं कराया गया है। इसप्रकार यह भुक्तिनिरोध नामका अहिंसाणुव्रतका पांचवां अतिचार है। यहांपर बहुत कहनेसे कुछ विशेष लाभ नहीं हैं व्रती श्रावकको इतना अवश्य ध्यानमें रखना चाहिये कि जिसमें मूलगुण और अहिंसाणुव्रतमें किसीतरहका [1]अतिचार न लगने पावे इसप्रकार यत्नपूर्वक अपना वर्ताव रखना चाहिये ॥१५॥

आगे—मंदबुद्धि जीवोंको सहज रीतिसे स्मरण हो इस-लिये ऊपर लिखेहुये कथनको ही फिर थोडासा स्पष्ट करते हुये कहते हैं—

१—व्रतानि पुण्याय भवंति जंतो र्न सातिचाराणि निषेवितानि।
सस्यानि किं क्वापि फलंति लोके मलोपलीढानि कदाचनापि॥

अर्थ—जीवोंको व्रत करनेसे पुण्य होता है इसलिये उन व्रतोंको सातिचार पालन नहीं करना चाहिये अतिचार रहित पालन करना चाहिये। क्योंकि संसारमें मलिन धान्य बोनेसे कभी भी फल लगते हुये देखे हैं? अर्थात् कभी नहीं।

गवाद्यैर्नैष्ठिको वृत्तिं त्यजेद्बंधादिना विना।
भोग्यान् वा तानुपेयात्तं योजयेद्वा न निर्दयं ॥१६॥

अर्थ——नैष्टिकश्रावकको गाय, बेल, घोडे आदि पशुओंसे अपने जीविकाके व्यापार बिलकुल छोड देने चाहिये यह सबसे उत्तम पक्ष है। अथवा वह नैष्ठिक श्रावक गाय, घोडे आदि पशुओंको दूध अथवा सवारी आदिकेलिये रख सकता हे परंतु उन्हें विना बांधे और विना ताडना किये वा विना मारे ही रखना चाहिये अर्थात् उन्हें ताडना मारना वा बांधना नहीं चाहिये यह मध्यम पक्ष है। तथा कदाचित् उन्हें बांधना ही पडे तो उन्हें निर्दयतासे अर्थात् बहुत कठिनतासे नहीं बांधना चाहिये और न कठिनतासे बंधाना ही चाहिये यह: तीसरा अधम (जघन्य) पक्ष है। यहांपर यह और समझलेना चाहिये कि ये सब नियम नैष्ठिक श्रावकके लिये हैं पाक्षिकके लिये नहीं है।

यहां कदाचित कोई यह शंका करे कि अणुव्रतोंमें श्रावकने केवल हिंसाका ही त्याग किया है बांधने वा मारनेका त्याग नहीं किया है इसलिये किसीको बांधने वा मारनेमें भी व्रती श्रावकको कोई दोष वा अतिचार नहीं है क्योंकि हिंसाका त्यागरूप व्रत किसीके मारने वा बांधनेसे खंडित नहीं होता अर्थात् बांधने वा छडी आदिसे मारनेमें किसीकी हिंसा नहीं होती अहिंसाणुव्रतका पूर्ण पालन होता है। कदाचित् यह कहो कि हिंसाके त्याग करते समय बांधने मारने आदिका

भी त्याग कर दिया है तो फिर बांधने वा मारनेसे उसके व्रतोंका ही भंग हो जायगा, क्योंकि जिसका त्याग किया था वही अपने हाथसे फिर हुआ। इसप्रकार भी बंध आदिको अतिचार वा दोष नहीं कह सकते। इसके सिवाय एक बात यह भी है कि कदाचित् बंध, वध, छेद आदिकोंका भी त्याग कराया जायगा तो फिर व्रतोंकी संख्याका भंग हो जायगा क्योंकि प्रत्येक वतोंमें अतिचारोंकी संख्या बहुत है यदि उन सबका ही त्याग किया जायगा तो बहुतसे व्रत हो जायंगे और फिर अणुव्रत पांच ही हैं ऐसा नहीं कह सकोगे। इसलिये बंध, वध, छेद आदि अतिचार नहीं है यही मानना सबसे अच्छा है। परंतु—

इसका समाधान इसप्रकार है कि—श्रावकने केवल हिंसाका ही त्याग किया है बंधादिका नहीं परंतु हिंसाके त्याग करनेसे अर्थरूपसे उनका भी त्याग हो जाता है क्योंकि बंध आदि भी हिंसाके कारण हैं। इतना अवश्य है कि बांधने मारने आदिसे व्रतोंका भंग नहीं होता किंतु व्रतोंमें अतिचार ही लगते हैं। इसी बातको स्पष्ट रीतिसे दिखलाते हैं। व्रत दो प्रकारके हैं एक अंतरंगसे त्याग करना और दूसरा बहिरंगसे त्याग करना। उनमेंसे बंधन आदि करनेवालेके यद्यपि "मैं इस जीवको मारता हूं अथवा मारूंगा" ऐसे परिणामोंका अभाव है तथापि क्रोधादि कषायोंके आवेशसे दूसरे जीवोंकी

प्राणहानिको नहीं गिनता हुआ बांधने वा मारनेमें प्रवृत्त होता है, परंतु उससे उस जीवका घात नहीं होता। इसप्रकार निर्दयताके त्यागकी अपेक्षा न करके बांधने वा मारनेमें प्रवृत्त होनेसे अंतरंग व्रतका भंग होता है और हिंसा न होनेसे बहिरंग व्रतका पालन होता है। इसलिये व्रतके एकदेश भंग होनेसे और एक देश पालन होनेसे बांधने, मारने आदिको अतिचार संज्ञा ही होती है। यही बात अन्य आचार्योंने भी लिखी है—जैसे—

"न मारयामीति कृतव्रतस्य विनैव मृत्युं क इहातिचारः।
निगद्यते यः कुपितो वधादीन् करोत्यसौ स्यान्नियमानपेक्षः।
मृत्योरभावान्नियमोऽस्ति तस्य कोपाद्दयाहीनतया हि भंगः।
देशस्य भंगादनुपालनाच्च पूज्या अतीचारमुदाहरंति ॥२॥"

अर्थात्—जिसने "मैं किसी जीवकी हिंसा नहीं करूंगा" ऐसा व्रत धारण किया है उसके क्रोध करने वा किसीको बांधनेमें कभी अतिचार नहीं हो सकते क्योंकि बांधने वा क्रोध करनेमें किसी तरहकी हिंसा नहीं होती और न उसने बांधने वा मारनेका त्याग ही किया है। कदाचित् कोई ऐसी शंका करे तो उसका समाधान यह है कि क्रोध करना वा मारना बांधना आदि हिंसाके कारण हैं, जब यह व्रती श्रावक बुरे परिणामोंसे पशुओंके बांधने वा मारनेमें प्रवृत्त होता है उससमय उसके

क्रोधादि विद्यमान है परंतु अहिंसाणुव्रतको धारण करनेवाले श्रावकका अंतःकरण सर्वथा दयापूर्ण होना चाहिये और यदि वह वैसा न होकर क्रोध सहित हुआ तो यद्यपि उसके हाथसे साक्षात् हिंसा नहीं हुई है तथापि हिंसाके कारण क्रोधादि उत्पन्न होनेसे अंतरंग दयारूप व्रतका नाश हुआ और उस बंधनादि व्यापारसे प्रत्यक्ष प्राणहानि नहीं हुई। इसलिये बहिरंग व्रतका पालन हुआ। इसप्रकार एकदेशके भंग होने और एक देशके पालन होनेसे पूज्य आचार्योंने बंधादिको अतिचार कहा है।"

इसके सिवाय यह जो कहा था कि व्रतोंकी संख्याका भंग होगा सो भी ठीक नहीं है क्योंकि विशुद्ध अहिंसाणुव्रतका सद्भाव होनेसे वध बंधन आदिका स्वयमेव अभाव हो जाता है। इसलिये यह बात सिद्ध हुई कि वध बंधन आदि अतिचार ही हैं॥ १६॥

आगे-इसी विषयको फिर दिखलाते हैं-

न हन्मीति व्रतं क्रुध्यन्निर्दयत्वान्न पाति न।
भनक्त्यघ्नन् देशभंगत्राणात्त्वतिचरत्यधीः ॥१७॥

अर्थ-जो श्रावक क्रोध करता है वह विचाररहित पुरुष "मैं इस जीवको नहीं मारूंगा" इस व्रतका पालन नहीं कर सकता, क्योंकि क्रोध करते समय उसका हृदय करुणा रहित

हो जाता है तथा क्रोध करनेसे किसी जीवका साक्षात् घात होता नहीं है इसलिये वह उस व्रतका नाश भी नहीं करता है किंतु क्रोध आदि करते समय दयारहित होनेसे अंतरंग व्रतका भंग होजाता है और प्राणघात न होनेसे बहिरंग व्रतकी रक्षा बनी रहती है इसलिये एकदेशका भंग और एकदेश व्रतोंकी रक्षा करनेसे वह उस व्रतमें अतिचार लगाता है ॥१७॥

आगे–अतिचार शब्दका अर्थ कहकर "भुक्तिरोधं च" पंद्रहवें श्लोकमें दिये हुये च शब्दसे ग्रहण किये हुये अतिचारोंको कहते हैं–

सापेक्षस्य व्रते हि स्यादतिचारोंऽशभंजनं ।
मंत्रतंत्रप्रयोगाद्याः परेऽप्यूह्यास्तथात्ययाः ॥१८॥

अर्थ–" मैं ग्रहण किये हुये अहिंसा व्रतका भंग नहीं करूंगा " ऐसी प्रतिज्ञा करनेवाले श्रावकके व्रतका एक अंश भंग होना अर्थात् चाहे अंतरंग व्रतका खंडन होना अथवा बाहिरंग व्रतका खंडन होना उसव्रतमें अतिचार कहलाता है। भावार्थ—निर्दय होने आदिसे अंतरंग व्रतोंका खंडन होना भी अतिचार है और अंतरंगकी प्रवृत्तिके विना प्राणघात आदि होकर बहिरंग व्रतका खंडन होना भी अतिचार है। यदि अंतरंग बहिरंग दोनों तरहसे व्रतभंग हो जाय तब फिर वह अनाचार कहलाता है। जबतक अंतरंग अथवा बहिरंग इन

दोनोंमेंसे किसी अंशमें भी उसका पालन होता है तबतक वह अनाचार नहीं कहला सकता, अतिचार ही कहलायगा । तथा पहिले कहे हुये पांच अतिचारोंके सिवाय किसीकी गतिको रोकना, बुद्धि बिगाडना, और उच्चाटन आदि दुष्ट क्रिया-ओंके सिद्ध करनेके कारण ऐसे मंत्र अर्थात् जो इष्ट कार्योंके सिद्ध करनेमें समर्थ हैं और जिसके पाठ करनेसे ही सिद्धि होती है ऐसे अक्षरोंका समुदाय तथा तंत्र अर्थात् औषधि आदिकी क्रियायें, इन सबका विधिपूर्वक प्रयोग करना अर्थात् दुष्ट क्रियाओंको सिद्ध करनेकेलिये मंत्र तंत्र आदिका प्रयोग करना, आदि शब्दसे इन दुष्ट क्रियाओंकेलिये ध्यान धारण करना आदि भी अतिचार हैं । इनके सिवाय अन्य शास्त्रोंमें भी जो ऐसे बुरे व्यापार कहे हों कि जिनमें व्रतोंका एक देश [1]भंग होता हो वे सब अतिचार हैं । अभिप्राय यह है कि जो जो व्रतको एक देश भंग करनेवाले हैं वे सब अ-तिचार हैं । अतिचारोंकी जो पांच संख्या लिखी है वह लक्ष-णारूप है व्रतोंके सब दोष अर्थात् एक देश भंग करनेवाले अभिप्राय वा क्रियायें सब इन्हीं पांचोंमें अंतर्भूत हो जाती हैं ॥ १८ ॥

१—अतिक्रमो मानसशुद्धहानि र्व्यतिक्रमो यो विषयाभिलाषा ।
तथातिचारः करणालसत्वं भंगो ह्यनाचारमिह व्रतानां ॥

आगे–मंत्र आदिसे जो बांधना छेदना आदि व्यापार किया जाता है वह भी अतिचार है ऐसा समर्थन करते हुये व्रती श्रावकको उन अतिचारोंको छोडनेकेलिये प्रयत्न करानेका उपदेश देते हैं–

मंत्रादिनापि बंधादिः कृतो रज्वादिवन्मलः।

तत्तथा यतनीयं स्यान्न यथा मलिनं व्रतं ॥१९॥

अर्थ–मंत्र तंत्र आदिसे किये हुये बंधन ताडन आदि व्यापार भी रस्सी चाबुक आदिसे किये हुये बंधन ताडन आदिके समान अतिचार होते हैं। क्योंकि मंत्र तंत्र आदिसे जो बंधन ताड़न आदि किया जाता है उससे अहिंसा अणुव्रतमें पहिले कहे अनुसार जैसी शुद्धि होनी चाहिये वैसी नहीं होती। इसलिये व्रतोंका एकदेश भंग होनेसे अतिचार गिना जाता है। अपि शब्दसे यह सूचित होता है कि रस्सी चाबुक आदिसे किये हुये बंधन ताडन आदि तो अतिचार हैं ही इसमें किसी तरहका संदेह नहीं है। इसलिये व्रती श्रावकको मैत्री प्रमोद आदि भावनाओंका चिंतवनकर और प्रमाद रहित अपनी चेष्टाओंसे इसप्रकार प्रयत्न करते रहना चाहिये कि जिससे उसके व्रतमें कोई किसीप्रकारका अतिचार न लगे और उसके व्रत शुद्ध रीतिसे पालन हों। भावार्थ–मैत्री प्रमोद आदि भावनाओंसे अंतरंग व्रतका भंग नहीं हो सकता और प्रमाद रहित चेष्टासे बाहिरंग व्रतका भंग नहीं हो सकता। इसप्रकार व्रती श्रावकको निर्दोष व्रत पालन करना चाहिये ॥१९॥

आगे–अहिंसा व्रतके स्वीकार करनेकी विधि कहते हैं–

हिंस्यहिंसकहिंसातत्फलान्यालोच्य तत्त्वतः ।
हिंसां तथोज्झेन्न यथा प्रतिज्ञाभंगमाप्नुयात् ॥२०॥

अर्थ— जिसकी हिंसा की जाती है उसे हिंस्य कहते हैं, हिंसा करनेवालेको हिंसक कहते हैं, प्राणोंके वियोग करनेको हिंसा कहते हैं और हिंसा करनेसे जो कुछ नरकादि दुःख मिलते हैं उसे हिंसाका फल कहते हैं। व्रती श्रावकोंको गुरु, साधर्मी और कल्याण चाहनेवालोंके साथ हिंस्य, हिंसक, हिंसा और हिंसाके फलको यथार्थ रीतिसे विचारकर अपनी शक्तिके अनुसार हिंसाका त्याग इसप्रकार करना चाहिये कि जिसमें फिर कभी भी की हुई प्रतिज्ञाका भंग न हो ॥२०॥

आगे—हिंस्य, हिंसक, हिंसा और हिंसाके फलको दिखलाते हैं–

प्रमत्तो हिंसको हिंस्या द्रव्यभावस्वभावकाः ।
प्राणास्तद्विच्छिदा हिंसा तत्फलं पापसंचयः ॥ २१ ॥

अर्थ—जो पुरुष क्रोध आदि कषाय सहित है वह हिंसक कहलाता है। इसका वर्णन पहिले यत्याचारमें अहिंसा महाव्रतके कथन करते समय बहुत विस्तारके साथ कह चुके हैं इसलिये यहांपर दुबारा लिखना व्यर्थ है। इंद्रिय बल आयु और श्वासोच्छ्वास इन पुद्गलके विकारोंको द्रव्यप्राण कहते हैं और चैतन्यके परिणामोंको भावप्राण कहते हैं। द्रव्यप्राण और भावप्राण

दोनोंकी हिंसा की जाती है इसलिये ये दोनों ही हिंस्य हैं। द्रव्यप्राण और भावप्राणोंका वियोग करना ही हिंसा है और पापोंका संचय होना अर्थात् अशुभ कर्मोंका बंध होना हिंसाका फल है ॥ २१ ॥

आगे--गृहस्थोंके लिये अहिंसा अणुव्रतके निर्मल रखनेकी विधि कहते हैं—

कषायविकथानिद्राप्रणयाक्षविनिग्रहात् ।
नित्योदयां दयां कुर्यात्पापध्वांतरविप्रभां ॥ २२ ॥

अर्थ—क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार कषाय, भक्तकथा, स्त्रीकथा, राजकथा और देशकथा ये चार विकथा, स्नेह, निद्रा, और स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र ये पांच इंद्रियां इसप्रकार ये पंद्रह प्रमाद हैं। अहिंसाणुव्रतको निर्मल रखनेवाले श्रावकको इन पंद्रह प्रमादोंको विधिपूर्वक निरोधकर बंधन छेदन आदि अतिचाररूप पाप जोकि पुण्यरूप प्रकाशके विरोधी होनेसे अंधकारके समान हैं उन्हें दूर करनेकेलिये जो सूर्यकी [1]प्रभाके समान है और जिसका नित्य उल्लास होता रहता है ऐसी दया नित्य करना चाहिये।

१–पुण्यं तेजोमयं प्राहुः प्राहुः पापं तमोमयं । तत्पापं पुंसि किं तिष्ठेद्दयादीधितमालिनि ॥ अर्थ–पुण्य प्रकाशमय है और पाप अंधकारस्वरूप स्वरूप है ऐसा पूर्वाचार्योंने कहा है। जो पुरुष दयारूपी प्रकाशका सूर्य है ऐसे पुरुषमें अंधकाररूप कैसे रह सकता है? अर्थात् कभी नहीं।

जो खाये हुये अन्नके परिपाक होनेमें कारण है अथवा मद खेद आदि दूर करनेकेलिये जो सोना है उसे निद्रा कहते हैं। [1]स्नेहके वशीभूत होकर ' यह मेरा है मैं इसका स्वामी हूं " इत्यादि दुराग्रहको स्नेह वा प्रणय वा मोह कहते हैं। मार्गविरुद्ध कथाओंको विकथा कहते हैं, वे चार हैं। इनमेंसे " लड्डू, खाजे आदि पदार्थ खानेमें अच्छे होते हैं, देवदत्त इन्हें अच्छीतरह खाता है, मैं भी खाऊंगा " इसप्रकारकी खाने पीनेकी कथाको भक्तकथा वा भोजनकथा कहते हैं। स्त्रियोंके अंग, हाव, भाव, वस्त्र, आभूषण आदिका वर्णन करना, उसके नेत्र अच्छे हैं वह सुंदरी है इत्यादि कहना अथवा ' कर्णाटी सुरतोपचार चतुरा लाटी विदग्धा प्रिया ' इत्यादि वर्णन करना स्त्रीकथा है। हमारा राजा शूर है, कश्मीरके राजाके पास बहुतसा धन है, अमुक राज्यमें बहुतसे हाथी हैं, बहुतसी सेना हैं वा बहुतसे घोडे हैं इत्यादि वर्णन

१–स्नेहानुविद्धहृदयो ज्ञानचरित्रान्वितोऽपि न श्लाघ्यः। दीप इवापादयिता कज्जलमलिनस्य कार्यस्य ॥ अर्थ–जिसका हृदय स्नेह अर्थात् मोहसे बंधाहुआ है ऐसा पुरुष ज्ञान अथवा चारित्रको धारण करलेनेपर भी मलिन कज्जलको उत्पन्न करनेवाले दीपके समान प्रशंसनीय नहीं है। भावार्थ–जैसे स्नेह अर्थात् तेल होनेसे दीपक कज्जल उत्पन्न करता है उसीप्रकार स्नेह मोह सहित जीव भी मल उत्पन्न करता रहता है।

करना राजकथा है और दक्षिण देशमें अन्नकी उपज अधिक है वहांके निवासी भी अधिक विलासी हैं, पूर्वदेशमें अनेक तरहके वस्त्र गुड, शक्कर, चावल आदि होते हैं, उत्तर देशके पुरुष शूर होते हैं, घोडे तेज होते हैं, वहां गेंहू बहुत होते हैं, कुंकुम, दाख, दाडिम आदि सुलभतासे मिलते हैं, पश्चिमदेशमें कोमल वस्त्र होते हैं, ईख बहुत और पानी स्वच्छ होता है इत्यादि वर्णन करना देशकथा है। इसप्रकार ये चार विकथायें हैं। यदि ये ही कथायें रागद्वेषरहित धर्मकथाके रूपसे केवल अर्थ और काम पुरुषार्थ दिखानेकेलिये कही जायं तो विकथा नहीं कहलातीं। इसीतरह प्रणय भी यदि धर्मका विरोधी हो तो प्रमाद होता है नहीं तो नहीं। इसप्रकार इन प्रमादोंको छोडकर प्रत्येक श्रावकको दया पालन करना उचित है ॥२२॥

आगे—अहिंसाणुव्रत पालन करना कठिन है ऐसी गृहस्थकी शंकाका निराकरण करते हैं—

विश्वग्जीवचिते लोके क्व चरन् कोऽप्यमोक्ष्यत
भावैकसाधनौ बंधमोक्षौ चेन्नाभविष्यतां ॥ २३ ॥

अर्थ—यदि बंध और मोक्षका उत्कृष्ट प्रधान कारण आत्माके परिणाम न होते तो त्रस स्थावर जीवोंसे चारोंओरसे भरे हुये इस लोकमें कहां निवास करता हुआ यह मोक्षकी इच्छा करनेवाला कोई भी जीव मुक्त होता? **भावार्थ**—आत्माके

शुभ परिणाम पुण्यबंधके कारण हैं अशुभ परिणाम पापबंधके कारण हैं और शुद्ध परिणाम (शुद्धोपयोग) मोक्षके कारण हैं यदि ऐसा न माना जाय तो किसी भी जीवको मोक्ष न हो सके, क्योंकि इस लोकमें कोई भी ऐसा प्रदेश नहीं है जहां असंख्यात और अनंत जीव न भरे हों। फिर ऐसे लोकमें रहकर हलन चलन आदि क्रियायें करता हुआ हिंसासे कैसे बच सकता है ? और हिंसासे बचे विना पुण्यबंध और मोक्ष कैसे हो सकता है। इसलिये आत्माके दया क्षमारूप शुभ परिणामोंसे पुण्यबंध और शुद्ध परिणामोंसे मोक्ष होता है। दया क्षमा रूप परिणाम होते हुये उसके हलन चलन आदिमें जीवोंका घात होते हुये भी हिंसा नहीं गिनी जाती क्योंकि उसके परिणाम हिंसा करनेके नहीं है, इसप्रकार दयाधर्मको धारण करनेवाले श्रावकोंके अहिंसाणुव्रत सहज रीतिसे पल सलता है। २३ ॥

इसप्रकार अतिचारोंको छोडकर अहिंसाणुव्रतके पालन करनेका उपदेश दे चुके। अब आगे—रात्रिभोजन त्याग रूप व्रतके जोरसे अहिंसाणुव्रत पालन करना चाहिये ऐसा उपदेश देते हैं—

अहिंसाव्रतरक्षार्थं मूलव्रतविशुद्धये।
नक्तं भुक्तिं चतुर्धापि सदा धीरस्त्रिधा त्यजेत् ॥ २४ ॥

अर्थ—जो परिषह और उपसर्गोंसे कभी विचलित नहीं होता अर्थात् जीवोंकी रक्षा करनेमें सदा तत्पर रहता है ऐसे धीरवीर श्रावकको मूलगुणोंको निर्मल करनेकेलिये और अहिंसाणुव्रतकी रक्षा करनेकेलिये जीवनपर्यंत मन बचन कायसे रात्रिमें रोटी, दाल, भात आदि अन्न, दूध, पानी आदि पान, पेडे, बरफी आदि खाद्य और पानसुपारी आदि लेह्य इन चारों प्रकारके आहारका त्याग कर देना चाहिये। भावार्थ—व्रती श्रावकको रात्रिमें चारों प्रकारके आहारके खानेका त्याग कर देना चाहिये ॥ २४ ॥

आगे—रात्रिभोजनमें प्रत्यक्ष परोक्ष आदि अनेक दोष होनेपर भी रात्रिभोजन करनेवालोंको वक्रोक्तिसे तिरस्कार करते हुये कहते हैं—

जलोदरादिकृद्यूकाद्यंकमप्रेक्ष्यजंतुकं ।
प्रेताद्युच्छिष्टमुत्सृष्टमप्यश्नन्निश्यहो सुखी ॥२५॥

अर्थ—जो जीव रात्रिमें भोजन करते हैं उन्हें जलोदर कुष्ट आदि अनेक रोग उत्पन्न करनेवाले ऐसे जुं कोलिक आदि जीव जिसमें मिले हुये हैं अथवा जो ऐसे अनेक तरहके कीडोंसे कलंकित है ऐसे भोजन करने पडते हैं। भोजनके साथ जूं खा जानेसे जलोदर रोग हो जाता है, कोलिक खा जानेसे कुष्ट (कोढ) रोग हो जाता है मक्खी खाजाने-

से वमन हो जाता है, मुद्धिका खा जानेसे मेदाको हानि पहुंचती है, यदि विच्छु भोजनमें मिल जाय तो उस भोजनसे तालुरोग हो जाता है। कांटा वा लकडीका टुकड़ा भोजनके साथ चले जानेसे गलेमें रोग हो जाता है। भोजनमें मिला हुआ बाल यदि गलेमें लग जाय तो उससे स्वरभंग हो जाता है इसप्रकारके अनेक दोष रात्रिमें खानेसे होते हैं जो कि प्रत्यक्ष दिखाई वा सुनाई पडते हैं। ये सब प्रत्यक्ष दोष हैं, इन्हें सब कोई मानते हैं। इसके सिवाय जो अंधकारमें दिखाई नहीं पडते ऐसे बहुत सूक्ष्म जीव रात्रिमें घी पानी आदिमें पड जाते हैं, लड्डू आदि भोजनोंमें मिल जाते हैं, वह भोजन भी उन्हें खाना पडता है। इसके सिवाय रात्रिमें भोजन करनेवालोंको वह भोजन रात्रिमें ही तैयार करना पडेगा और रात्रिमें भोजन बनानेसे छहों कायके जीवोंकी हिंसा अवश्य करनी पडेगी। (यदि वह दिनमें भोजन बनाता वा खाता तो जिन जीवोंका संचार दिनमें नहीं होता है ऐसे अनेक जीवोंकी हिंसा बच जाती) तथा बर्तन आदि धोनेसे अंधकार वा थोडे प्रकाशमें न दिखनेवाले जलमें रहनेवाले बहुतसे जीवोंका विनाश करना पडेगा, तथा वह धोवनका जल जहां डाला जायगा वहांके चींटी कुंथु आदि बहुतसे जीवोंकी हिंसा हो जायगी। इसके सिवाय रात्रिमें पिशाच राक्षस आदि नीच व्यंतर देव फिरा करते हैं उनके स्पर्श कर लेनेसे वह भोजन अभक्ष्य हो जाता है

और वही भोजन रात्रिमें खानेवालोंको खाना पडता है। ये सब परोक्ष दोष हैं। बाहरमें दिखाई नहीं पडते परंतु लगते अवश्य हैं। इसके सिवाय जिस वस्तुके खानेका त्याग कर दिया है वह वस्तु भी यदि भोजनमें मिल जायगी तो रात्रिमें उसका पहिचानना असंभव हो जायगा और विना पहिचाने वह वस्तु भी खानी पडेगी। इसप्रकार रात्रिमें खानेवालेको यह परोक्ष दोष भी लगता है। इसतरह रात्रिमें खानेवालोंको ऊपर लिखे हुये चारप्रकारके दोष लगते हैं। रात्रिमें खाने-वाला इन चारप्रकारके दोषोंसे कलंकित भोजन करता हुवा भी आपको सुखी मानता है। ग्रंथकार उसकेलिये आश्चर्य और दुःख प्रकाश करते हैं। भावार्थ—ऊपर लिखे हुये अनेक दोषोंसे कलंकित ऐसा रात्रिभोजन करनेवाला पुरुष इस लोक और परलोक दोनोंमें दुःखी होता है वह कभी सुखी नहीं हो सकता। इस लोकमें उसे अनेक तरहके रोग भोगने पडते हैं और परलोकमें अनेक जीवोंकी हिंसाके पापसे दुर्गतियोंके अनेक दुख भोगने पडते हैं ॥ २५ ॥

आगे—वनमालाका दृष्टांत देकर रात्रिभोजनके दोषका महान्पना दिखलाते हैं—

त्वां यद्युपैमि न पुनः सुनिवेश्य रामं
लिप्ये वधादिकृदधैस्तदिति श्रितोऽपि।
सौमित्रिरन्यशपथान् वनमालयैकं
दोषाशिदोषशपथं किल कारितोऽस्मिन् ॥ २६ ॥

अर्थ—" रामचंद्रको पहुंचाकर यदि मैं फिर लौटकर तेरे समीप न आऊं तो मैं गोवध अथवा स्त्रीवध आदि पापोंसे लिप्त होऊं " ऐसी शपथें लक्ष्मणने अनेक कीं तथापि वनमालाने इसलोकमें समस्त शपथोंको छोडकर " यदि लौटकर न आवें तो रात्रिमें भोजन करनेके समान महा पाप लगे " ऐसी शपथ कहाई थी। भावार्थ--रामायणमें यह कथा इस-प्रकार है कि पिताकी आज्ञासे रामचंद्र सीताके साथ जब वनको निकले थे उससमय लक्ष्मण भी भाईके अटल प्रेमसे उनके ही साथ गये थे। उन तीनोंने दक्षिण देशको गमन किया था। मार्गमें लक्ष्मणने उत्तरकूर्चन नगरके महाराज महीधरकी कन्या वनमालाके साथ विवाह किया था। जब लक्ष्मण प्रियपत्नी वनमालाको छोडकर रामचंद्रके साथ जाने लगे उससमय विरहसे कातर हुई और फिर लौटनेकी असंभा-वना करती हुई उस वनमालाने लक्ष्मणसे फिर लौट आनेके-लिये शपथ करनेको कहा। लक्ष्पणने भी कहा कि—" हे प्रिये! रामचंद्रको उनके इच्छानुसार स्थानमें पहुंचाकर और उनकी योग्य व्यवस्थाकर यदि मैं लौटकर अपने दर्शनसे तुझे प्रसन्न न करूं तो मुझे हिंसादि पापोंके करनेका दोष लगे, " परंतु वह विदुषी वनमाला इस शपथसे संतुष्ट नहीं हुई और बोली कि—हे प्रियतम ! यदि आप रात्रिभोजन करनेके समान दोष लगनेकी शपथ करते हो तो मैं यहां रह सकती हूं।

उत्तरमें लक्ष्मण भी " अच्छा ऐसा ही हो " कह कर रामके साथ चले गये। इसकथासे यह अच्छीतरह समझ लेना चाहिये कि रात्रिभोजन पांच महापापोंसे भी बढकर महा पाप है ॥ २६ ॥

आगे—लौकिक कार्योंको दिखाकर रात्रिभोजनका निषेध करते हैं—

यत्र सत्पात्रदानादि किंचित्सत्कर्म नेष्यते।
कोऽद्यात्तत्रात्ययमये स्वहितैषी दिनात्यये॥२७॥

अर्थ—अनेक दोषोंसे भरी हुई ऐसी जिस रात्रिमें मिथ्यादृष्टि लोग भी सत्पात्रदान, स्नान, देवार्चन, आहुति, श्राद्ध और विशेष भोजन आदि सत्कर्म नहीं करते हैं तो इस लोक और परलोक दोनोंमें अपना हित चाहनेवाला ऐसा कौन श्रावक है जो अनेक दोषोंसे भरी हुई रात्रिमें भोजन करे ? अ-अर्थात् कोई नहीं ॥ २७ ॥

आगे—दिन रात्रिके भोजनसे मनुष्योंकी उत्तम मध्यम जघन्यता कहते हैं—

भुंजतेऽह्नः सकृद्वर्या द्विर्मध्याः पशुवत्परे।
रात्र्यहस्तद्व्रतगुणान् ब्रह्मोद्यान्नावगामुकाः॥२८॥

अर्थ—मुख्यतासे शुभ कर्म करनेवाले उत्तम पुरुष दिनमें एकवार भोजन करते हैं तथा मध्यम रीतिसे शुभ कर्म

करनेवाले मध्यम पुरुष दिनमें दो वार भोजन करते हैं, और पाप कर्म करनेवाले अधम पुरुष सर्वज्ञ देवके द्वारा कहे हुये रात्रि भोजन त्यागरूप व्रतके अनेक उपकार करनेवाले गुणोंको नहीं जानते हुये गाय भैंस आदि पशुओंके समान रातदिन खाते रहते हैं ॥ २८ ॥

आगे--शास्त्रोंके उदाहरणोंके विना जो संसारमें सब लोगोंके अनुभवमें आरहा है ऐसा रात्रिभोजनत्यागका विशेष फल दिखलाते हैं--

योऽस्ति त्यजन् दिनाद्यंतमुहूर्तौ रात्रिवत्सदा।
स वर्ण्येतोपवासेन स्वजन्मार्द्धं नयन् कियत्॥ २९ ॥

अर्थ--जो गृहस्थ रात्रिके समान प्रातःकाल सूर्योदयके अनंतर दो घडी और सायंकाल सूर्यास्तके पहिले दो घडी छोडकर बाकीके बचे हुये दिनमें सदा भोजन करता है, वह अपना आधा जन्म चारों प्रकारके आहारके त्यागरूप उपवाससे व्यतीत करता है अर्थात् उसने आधे जन्मतक बराबर उपवास किया ऐसा समझा जाता है, इसलिये सज्जनपुरुष उसकी कितनी स्तुति करें ? भावार्थ--वह अपार स्तुतिके योग्य है। यहांपर अर्ध शब्दका अर्थ बराबर आधा अथवा कुछ अधिक आधा समझना चाहिये । क्योंकि वह सूर्योदयसे दो घडी और सूर्यास्तके पहिले दो घडीके साथसाथ रात्रिमें भोजनका त्याग करता है इसलिये उसका आधे जन्मसे कुछ अधिक भाग उपवास सहित होता है ॥ २९ ॥

आगे—रात्रिभोजनके त्यागके भोजनके अंतरायोंका त्याग करना भी मूलगुणोंको विशुद्ध करनेवाला और अहिंसाव्रतकी रक्षा करनेवाला है इसलिये चार श्लोकोंमें उन्हीं श्रावकोंके भोजनके अंतरायोंको कहते हैं—

अतिप्रसंगमसितुं परिवर्द्धयितुं तपः।
व्रतबीजवृतीर्भुक्तेरंतरायान् गृही श्रयेत् ॥ ३० ॥

अर्थ—व्रती गृहस्थोंको कहे हुये अतिचारोंसे और ऊपर ऊपर होनेवाली प्रवृत्तिको रोकनेकेलिये और इच्छाका निरोध करनेरूप तपश्चरणको सबतरह बढानेकेलिये बीजके समान व्रतोंकी रक्षा करनेवाले अथवा जो रक्षाके उपायस्वरूप होनेसे अहिंसाणुव्रतके स्वभावस्वरुप हैं ऐसे भोजनके त्याग करनेके कारणरूप अंतरायोंका पालन करना चाहिये। भावार्थ—अंतरायोंका त्याग करनेसे भी व्रतोंकी रक्षा और तपश्चरणकी वृद्धि होती है इसलिये भोजन करते समय उनको भी अवश्य टालना चाहिये ॥ ३० ॥

आगे—तीन श्लोकोंमें उन्हीं अंतरायोंको कहते हैं—

दृष्ट्वार्द्रचर्मास्थिसुरामांसासृक्पूयपूर्वकं।
स्पृष्ट्वा रजस्वलाशुष्कचर्मास्थिशुनकादिकं ॥ ३१ ॥
श्रुत्वाति कर्कशाक्रंदविड्वरप्रायनिःस्वनं।
भुक्त्वा नियामितं वस्तु भोज्येऽशक्य विवेचनैः ॥ ३२ ॥
संसृष्टे सति जीवद्भिर्जीवैर्वा बहुभिर्मृतैः।
इद मांसमितीदृक्षसंकल्पे चाशनं त्यजेत् ॥ ३३ ॥

अर्थ–जो सूके नहीं हैं गीले हैं ऐसे चमडा, हड्डी, मद्य, मांस, रुधिर, पीव, चर्बी अंतड़ी आदि पदार्थोंको देखकर या छूकर तथा रजस्वला स्त्री, सूका चमडा, सूकी हड्डी, कुत्ता, आदि शब्दसे बिल्ली और चांडाल आदिका स्पर्श हो जानेपर तथा "इसका मस्तक काट लो" इत्यादि अत्यंत कर्कश शब्द, हाय हाय ऐसे आर्तनाद, परचक्रका आना, महामारी-का फैलना आदि शब्दोंके सुन लेनेपर तथा जिस वस्तुका त्याग कर दिया है उसके भोजन करलेनेपर, तथा जिन्हें भो-जनमेंसे अलग नहीं कर सकतें ऐसे जीवित दो इंद्रिय तेइंद्रिय चौइंद्रिय जीवोंके संसर्ग हो जानेपर (मिलजानेपर) अथवा तीन चार आदि मरे हुये जीवोंके मिल जानेपर और खानेकी वस्तुमें यह मांस है, यह रुधिर है, यह हड्डी है, यह सर्प है ऐसा मनमें संकल्प हो जानेपर व्रती श्रावकको उससमयका आहार छोड़ देना चाहिये। भावार्थ–ऊपर लिखे हुये सब श्रावकके भोजनके अंतराय हैं। इन अंतरायोंके आनेपर श्रावकको उससमयका भोजन छोड देना चाहिये, दूसरे किसी समय वह भोजन कर सकता है ॥३१–३२–३३॥

आगे–मौन धारण करना भी अहिंसाणुव्रतका शील है इसलिये मौन धारण करनेका व्याख्यान भी पांच श्लोकोंमें कहते हैं–

गृध्यै हुंकारादिसंज्ञां संक्लेशं च पुरोऽनुगं ।
मुंचन्मौनमदन् कुर्यात्तपःसंयमबृंहणं ॥ ३४ ॥

अर्थ–व्रती श्रावकको इष्ट भोजनकी प्राप्तिकेलिये अथवा भोजनकी इच्छा प्रगट करनेकेलिये हुं हुं करना, खकारना, भौंह चलाना, मस्तक हिलाना वा उंगलि चलाना आदि अपने अभिप्राय प्रगट करनेवाले इशारोंको छोड़कर तथा भोजनके पहिले और पीछे क्रोध, दीनता आदि संक्लेशरूप परिणामोंको छोडकर इच्छाके निरोध करनेरूप तपश्चरण और इंद्रियसंयम प्राणिसंयमको बढानेवाला मौनव्रत भोजन करते समय अवश्य धारण करना चाहिये भावार्थ–मौनव्रतसे तपश्चरण और संयम बढता है इसलिये भोजन करते समय इसे अवश्य धारण करना चाहिये। मौन धारण किये पीछे भोजनकी लालसा इच्छा करनेकेलिये कोई किसी तरहका इशारा[1]

१–हुंकारांगुलिखात्कारभ्रूमूर्धचलनादिभिः । मौनं विदधता संज्ञा विधातव्या न गृद्धये ॥ अर्थ–मौनव्रत धारण करनेवाले पुरुषको भोजनकी लोलुपता वा अभिलाषा करनेकेलिये हुं हुं करना, खकारना, भौंह चलाना वा मस्तक हिलाना आदि क्रियाओंसे किसीतरहकी संज्ञा वा इशारा नहीं करना चाहिये।

भ्रूनेत्रहुंकारकरांगुलीभिर्गृद्धिप्रवृत्त्यै परिवर्ज्य संज्ञां । करोति भुक्तिं विजिताक्षवृत्तिः स शुद्धमौनव्रतवृद्धिकारी ॥ अर्थ–जो जितेंद्रिय पुरुष किसी पदार्थकी आवश्यकता होनेपर भी भौंह, नेत्र, हुंकार, उंगली आदिसे संज्ञा (इशारा) करना छोडकर भोजन करता है वही शुद्ध मौनव्रतको बढानेवाला है।

नहीं करना चाहिये, परंतु यदि वह भोजनके निषेध करनेकेलिये किसीतरहका इशारा करना चाहे तो उसमें कोई दोष नहीं है ॥ ३४ ॥

आगे—मौनव्रत तपश्चरणके बढानेवाला और कल्याणोंका संचय करनेवाला है ऐसा दो श्लोकोंसे समर्थन करते हैं —

अभिमानावने गृद्धिरोधाद्वर्धयते तपः ।
मौनं तनोति श्रेयश्च श्रुतप्रश्रयतायनात् ॥३५॥

अर्थ—[२]मौनव्रत धारण करना भोजनकी लोलुपताको दूर करनेवाला है और इसी मौनव्रतसे याचना न करनेरूप व्रतकी रक्षा होतीहै इसलिये यह तपको बढाता है। तथा मौनव्रत धारण करनेसे श्रुतज्ञानका विनय होता है इसलिये वह पुण्यको भी बढाता है। इसप्रकार मौनव्रतसे दो प्रकारके लाभ होते हैं ॥ ३५ ॥

शुद्धमौनान्मनः सिध्द्या शुक्लध्यानाय कल्पते ।
वाक्सिध्द्या युगपत्साधुस्त्रैलोक्यानुग्रहाय च ॥३६॥

२—सर्वदा शस्यते जोषं भोजने तु विशेषतः । रसायनं सदा श्रेष्ठं सरोगत्वे पुनर्न किं ॥ अर्थ—मौनव्रत सदा प्रशंसा करने योग्य है और फिर भोजन करनेके समय तो और भी अधिक प्रशंसनीय है। रसायन (औषध) सदा हित करनेवाला है और फिर रोग होनेपर तो पूछना ही क्या है उससमय वह अधिक हित करनेवाला है ही ।

अर्थ—भोजन आदिमें अतिचार रहित शुद्ध [1]मौनव्रत पालन करनेसे मन वश हो जाता है तथा मन वश होनेसे वह साधु अर्थात् संयमी मुनि अथवा देशसंयमी गृहस्थ शुक्लध्यान करने योग्य हो जाता है और उसी शुद्ध मौनव्रतसे वचनकी सिद्धि होनेसे अर्थात् एक साथ तीनों लोकोंका अनुग्रह करनेमें समर्थ ऐसी सरस्वतीकी विभूति प्राप्त हो जानेसे वह गृहस्थ वा मुनि एक साथ तीनों लोकोंके भव्य पुरुषोंका उपकार करने योग्य हो जाता है ॥ ३६ ॥

---

१. संतोषं भाव्यते तेन वैराग्यं तेन दर्श्यते । संयमः पोष्यते तेन मौनं येन विधीयते ॥ अर्थ—जो मौन धारण करता है वह अपना संतोष बढाता है वैराग्य दिखाता है और संयमको पुष्ट करता है ऐसा समझना चाहिये ।

लौल्यत्यागात्तपोवृद्धिरभिमानस्य रक्षण । ततश्च समवाप्नोति मनःसिद्धिं जगत्रये ॥ अर्थ—लोलुपताका त्याग करनेसे तपकी वृद्धि होती है, किसीसे याचना नहीं करना इस अभिमानकी रक्षा होती है और उससे तीनों लोकोंमें उसका मन वश हो जाता है ।

श्रुतस्य प्रश्रयाच्छ्रेयः समृद्धेः स्यात्समाश्रयः । ततो मनुजलोकस्य प्रसीदति सरस्वती ॥ अर्थ—मौन धारण करनेसे श्रुतज्ञानका विनय होता है और उससे पुण्यकी वृद्धि होती है और उस पुण्यके निमित्तसे मनुष्यपर सरस्वती प्रसन्न होती है ।

वाणी मनोरमा तस्य शास्त्रसंदर्भगर्भिता । आदेया जायते येन क्रियते मौनमुज्वलं ॥ अर्थ—जो गृहस्थ निर्दोष मौनव्रत पालन करता

आगे–नियतसमयतक और सदा मौनव्रतके विशेष उद्यापनके निर्णय करनेकेलिये कहते हैं–

उद्योतनं महेनैकघंटादानं जिनालये।
असार्वकालिके मौने निर्वाहः सार्वकालिके ॥ ३७ ॥

अर्थ–जो मौनव्रत अपनी शक्तिके अनुसार किसी नियमित कालपर्यंत पालन किया गया है उसका उद्यापन[1] अर्थात् विशेष फल प्राप्त होनेकेलिये उसका माहात्म्य प्रगट करना चाहिये। बडे भारी उत्सव अथवा पूजाके साथ२ अरहंत भगवानके मंदिरमें एक घंटा समर्पण करना ही उसका उद्यापन है। तथा जो मौनव्रत जन्मपर्यंत सदाकेलिये धारण किया गया है उसको जन्मपर्यंत निराकुल रीतिसे निर्वाह करना ही उसका उद्यापन[2] है ॥ ३७ ॥

है उसकी वाणी शास्त्रकी रचनासे भरी हुई, मनोहर और सबको ग्रहण करने योग्य हो जाती है।

पदानि यानि विद्यंते वंदनीयानि कोविदैः। सर्वाणि तानि लभ्यंते प्राणिना मौनकारिणा ॥ अर्थ–विद्वानोंको मान्य ऐसे जितने पद हैं वे सब मौन धारण करनेवालेको स्वयं मिलजाते हैं।

१–भव्येन शक्तितः कृत्वा मौनं नियतकालिकं। जिनेंद्रभवने देया घंटैका समहोत्सवं ॥ अर्थ–भव्य श्रावकको अपनी शक्तिके अनुसार नियतकालतक मौनव्रत पालन करके उसके उद्यापन करनेकेलिये जिनमंदिरमें उत्सवके साथ एक घंटा अर्पण करना चाहिये।

२–न सार्वकालिके मौने निर्वाहव्यतिरेकतः। उद्योतनं परं प्राज्ञैः

आगे—आवश्यकादि कार्योंमें अपनी शक्तिके अनुसार तथा सदा मौनव्रत धारण करनेसे वाणीके सब दोष नष्ट हो जाते हैं ऐसा कहते हैं—

आवश्यके मलक्षेपे पापकार्ये च वांतिवत् ।
मौनं कुर्वीत शश्वद्वा भूयो वाग्दोषविच्छिदे ॥३८॥

अर्थ—जिसप्रकार वांतिमें आचमन (कूरला) करने तक मौन धारण किया जाता है उसीप्रकार सामायिक आदि छह कर्मोंमें, मलमूत्र निक्षेपण करनेमें, दूसरेके द्वारा हिंसादिक पापक्रिया होनेमें, च शब्दसे स्नान मैथुन आचमन आदि करनेमें देशसंयमी गृहस्थको मौनव्रत धारण करना चाहिये। मुनियोंको ऊपर लिखी क्रियाओंमें जो जो क्रियायें करनी पडती हैं उनमें तथा आहारको जातेसमय और आहार लेते समय भी मौनव्रत धारण करना चाहिये। अथवा कायदोषकी अपेक्षा कठोरवचन आदि अनेक वाणीके दोषोंसे

किंचनापि विधीयते ॥ अर्थ—मरण पर्यंत पालन किये जानेवाले मौनव्रतमें उसके निर्वाह करनेके सिवाय और कुछ उसका उद्यापन नहीं है।

३—सामायिक वा देवपूजनमें जो सामायिकपाठ वा पूजनपाठ पढा जाता है वा उसे स्वयं बोलना पडता है उससे मौनव्रत भंग नहीं हो जाता। वह पाठ पढना तो उसके उस आवश्यक कार्यमें ही शामिल है। उस पाठके सिवाय यदि वह कुछ लौकिक बातचीत करे या किसी लौकिक बातकेलिये इशारा करता उससे वह मौनव्रत भंग हो जाता है।

होनेवाले पापास्रवको दूर करनेकेलिये सदा मौनव्रत धारण करना चाहिये। भावार्थ–सदा मौन रहना अच्छा है परंतु यदि सदा न बन सके तो ऊपर लिखी हुई क्रियायें करते समय अवश्य धारण करना चाहिये ॥ ३८ ॥

आगे–सत्याणुव्रतकी रक्षा करनेकेलिये कहते हैं–

कन्यागोक्ष्मालीककूटसाक्ष्यन्यासापलापवत्।
स्यात्सत्याणुव्रती सत्यमपि स्वान्यापदे त्यजन् ॥३९॥

अर्थ–व्रती श्रावक जिसप्रकार कन्यासंबंधी झूठ बोलना, गाय, भैंस आदि पशु संबंधी झूठ बोलना, भूमि संबंधी झूठ बोलना, झूठी गवाही देना और रक्षाकेलिये रक्खे हुये किसी दूसरे पुरुषके सुवर्ण आदि द्रव्यको पचा जाना आदिका त्याग करता है उसीप्रकार जिस सत्यके बोलनसे अपना तथा दूसरेका वध बंधन होता हो जैसे चोरको चोर कहनेसे अपना तथा उसका वध बंधन हो सकता है ऐसे सत्यको भी छोडता हुआ वह सत्याणुव्रती हो सकता है। जिस बातके कहनेसे राज्यकी ओरसे अपना और दूसरेका वध बंधन हो सकता है वह स्थूल झूठ है, ऐसे स्थूल झूठको तथा यदि ऐसी कोई सच बात भी हो तो उसे भी जो स्वयं नहीं बोलता और न किसी दूसरेसे बुलाता है वह सत्याणुव्रती श्रावक कहलाता है।

अन्य जातिकी अथवा अन्यकी कन्याको अपनी अथवा अपनी जातिकी कहना अथवा अपनी वा अपनी जातिकी

कन्याको दूसरेकी अथवा दूसरी जातिकी बतलाना कन्यालोक वा कन्यासंबंधी झूठ है। यहांपर कन्या शब्द उपलक्षण है अर्थात् कन्या कहनेसे लडका लडकी दास दासी आदि सब मनुष्य स्त्रियां लेनी चाहिये।सबकेलिये ऊपर लिखे अनुसार विपरीत कहना कन्या संबंधी झूठ है। इसीप्रकार गाय भैंस आदि पशुओंमें जो थोडा दूध देती है उसे बहुत दूधवाली कहना अथवा जो बहुत दूध देती है उसे थोडा दूध देनेवाली कहना गवालीक वा गायसंबंधी झूठ है। यहांपर भी गाय शब्दसे सब पशु लेने चाहिये। तथा दूसरेकी भूमिको अपनी बतलाना अथवा अपनीको दूसरेकी कहना क्ष्मालीक अथवा भूमिसंबंधी झूठ है। यहांपर भी भूमि कहनेसे भूमि, वृक्ष, मकान आदि सब स्थावर (स्थिर) चीजें समझना चाहिये। कन्यालीक, गवालीक और क्ष्मालीक ये तीनों ही झूठ लोकमें अत्यंत निंद्यरूपसे प्रसिद्ध हैं इसलिये श्लोकमें इनका ही नाम लिया है, इनके बदले द्विपद अर्थात् मनुष्यसंबंधी झूठ अथवा चतुष्पद अर्थात् पशु संबंधी झूठ इसप्रकार नहीं लिखा है। ये तीनों प्रकारके झूठ संसारमें अत्यंत विरुद्ध हैं इसलिये इन्हें कभी नहीं बोलना चाहिये। इसप्रकार झूठी गवाही भी नहीं देना चाहिये। किसी विषयमें जिसको प्रमाण मान लिया है वह यदि रिशवत् लेकर अथवा किसी ईर्ष्या वा द्वेषसे विपरीत बोलता हुआ कहता है कि ' यह ऐसा ही हुआ है और मेरे

सामने हुआ है ' यह झूठी गवाही कहलाती है। इस झूठी गवाहीमें दूसरे किसी पुरुषपर पापका आरोप किया जाता है इसलिये ऊपर कहे हुये तीनों प्रकारके झूठोंसे यह भिन्न है। झूठी गवाही देना धर्म विरुद्ध है क्योंकि गवाही देते समय प्रतिपक्षीकी यहीं प्रार्थना रहती है कि धर्मसे कहना, अधर्म मत करना। इसलिये धर्मविरुद्ध होनेसे झूठी गवाही कभी नहीं देनी चाहिये। जो कोई किसीके यहां रक्षा करनेकेलिये धरोहर रखता है उसे न्यास कहते हैं यदि किसीने अपने यहां कुछ सोना चांदि आदि धरोहर रक्खा है तो उसे पचा जानेकेलिये कभी झूठ नहीं बोलना चाहिये, क्योंकि ऐसा करनेसे विश्वासघात होता है। जिसविषयमें कुछ ज्ञान नहीं है अथवा किसी तरहका संदेह है उस विषयमें भी कभी झूठ नहीं बोलना चाहिये। जब अज्ञान और संशयमें ही झूठ बोलनेका निषेध है तब फिर राग द्वेषसे झूठ बोलना बहुत ही बुरा है ऐसा झूठ तो कभी नहीं बोलना चाहिये ॥ ३९ ॥

आगे—लोकव्यवहारके अनुसार कौनसा वाक्य बोलना चाहिये और कौनसा नहीं इसीका उपदेश देते हैं—

लोकयात्रानुरोधित्वात्सत्यसत्यादि वाकत्रयं ।
ब्रूयादसत्यासत्यं तु तद्विरोधान्न जातुचित् ॥४०॥

अर्थ—सत्याणुव्रती श्रावकको लोकव्यवहारके अनुसार आगे कहे हुये सत्यसत्य, असत्यसत्य, सत्य असत्य ऐसे

तीन प्रकारके वचन बोलने चाहिये और असत्यासत्य लोकव्य-वहारके विरुद्ध है इसलिये उसे कभी नहीं बोलना चाहिये ॥४०॥

आगे-सत्यसत्य आदिका स्वरुप तीन श्लोकोंमें कहते हैं-

यद्वस्तु यद्देशकालप्रमाकारं प्रतिश्रुतं ।
तस्मिंस्तथैव संवादि सत्यसत्यं वचो वदेत् ॥४१॥

अर्थ—जो पदार्थ जिस देशमें जिस कालमें कहा है, जो कुछ उसका परिणाम वा संख्या कही है तथा जो कुछ उसका रंग आकार आदि कहा है उस पदार्थको उसी देश उसी कालका कहना, वही उसका परिमाण वा संख्या बतला-ना और वही उसका रंग वा आकार कहना। वह जैसा है उसे वैसा ही ज्योंका त्यों यथार्थ कहना सत्यसत्य है। श्राव-कको ऐसा सत्यसत्य वचन सदा बोलना चाहिये ॥४१॥

असत्यं वय वासोऽधो रंधयेत्यादि सत्यगं।
वाच्यं कालातिक्रमेण दानात्सत्यमसत्यगं॥४२॥

अर्थ—सत्याणुव्रती श्रावकको सत्यके आश्रित वाक्य अर्थात् जो लोक व्यवहारके अनुसार सत्य माने जाते है ऐसे असत्य वचन भी बोलना चाहिये। जैसे लोकमें कहते हैं "कपड़े बुन" इस वाक्यमें जो बुनना क्रिया है वह कपडेपर नहीं होती किंतु तंतुओंपर (सूतपर) होती है, सूत बुने जाते हैं कपडे नहीं। इसलिये कपडेपर बुनना क्रियाका प्रयोग करना

यद्यपि असत्य है तथापि लोकमें ऐसे वाक्य बोले जाते हैं और वे असत्य नहीं माने जाते इसलिये सत्याणुव्रती श्रावकको ऐसे वाक्य बोलनेमें सत्याणुव्रतका घात नहीं होता, इसीप्रकार रसोइयेको कहते हैं " भात पका " इस वाक्यमें भी पहिलेके समान सत्यसे मिला हुआ असत्य भाषण है क्योंकि ' भात पका ' इस वाक्यमें भात शब्दका प्रयोग चांवलोंके बदलेमें किया गया है, वास्तवमें चांवल पकाये जाते हैं, भात नहीं, क्योंकि जब चावल पक जाते हैं और सुगंध कोमल और स्वादिष्ट हो जाते हैं तब उन्हें भात कहते हैं। परंतु लोक व्यवहारमें भात पकाओ ऐसा प्रयोग होता है इसलिये लोक व्यवहारके अनुमार ऐसा प्रयोग करनेमें भी सत्याणुवतका घात नहीं होता। इसीप्रकार ' आटा पीसो ' ' मकान बनाओ ' आदि वाक्य जानना। ये सब असत्यसत्य वाक्य हैं क्योंकि लोकमें ये बोले जाते हैं इसलिये सत्य हैं और वास्तवमें असत्य हैं इसलिये असत्यसत्य हैं। इनके बोलनेमें सत्याणुव्रतकी हानि नहीं होती। इसीप्रकार जो सत्य वचन असत्याश्रित हों अर्थात् सत्यासत्य हों उनके बोलनेसे भी सत्याणुव्रतमें कुछ हानि नहीं होती इसलिये ऐसे वाक्य भी व्रती श्रावकको बोलने चाहिये। जैसे " यह वस्तु तुझे पंद्रह दिनमें दूंगा " ऐसा कहकर भी उस वस्तुके न मिलनेसे अथवा अन्य किसी कारणसे पंद्रह दिनके बदले वह महिने वा वर्ष दिन बाद देता है।

इसलिये " यह वस्तु तुझे पंद्रह दिनमें दूंगा " यह वाक्य सत्यासत्य है, क्योंकि उसने जिस वस्तुके देनेको कहा था वह दी इसलिये उस वाक्यमें इतना सत्य है और पंद्रहदिनके बदले महिने वा वर्षदिनमें दी यह असत्य है । इसप्रकार ऐसे वाक्य सत्यासत्य कहलाते हैं । ऐसे वाक्य लोकमें बोले जाते हैं इसलिये ऐसे वाक्योंसे सत्याणुव्रतका नाश नहीं होता । अतएव अणुव्रती श्रावकको ऐसे वाक्य भी कहीं कहींपर बोलना चाहिये ॥ ४२ ॥

यत्स्वस्य नास्ति तत्कल्पे दास्यामीत्यादि संविदा ।
व्यवहारं विरुंधानं नासत्यासत्यमालपेत् ॥ ४३ ॥

अर्थ—जो पदार्थ अपना नहीं है उसके विषयमें ऐसी प्रतिज्ञा करना कि " तुझे मैं यह पदार्थ कल दिन अवश्य दूंगा " ऐसे वाक्योंको असत्यासत्य कहते हैं । क्योंकि जब वह पदार्थ अपना ही नहीं है तो कल दिन वह उसे कहांसे दे सकेगा ? अर्थात् कभी नहीं इसलिये ऐसे वाक्योंसे लोक व्यवहार रुक जाता है, उसमें अनेक तरहकी बाधायें आ जाती हैं। अतएव सत्याणुव्रती श्रावकको ऐसे असत्यासत्य वाक्य कभी नहीं बोलना चाहिये। ऐसे वाक्य सत्याणुव्रतका नाश करनेवाले हैं ॥ ४३ ॥

आगे—भोगोपभोगमें काम आनेवाले झूठके सिवाय जो

पांचप्रकारका झूठ है उसका सदा त्याग करना चाहिये ऐसा कहते हैं–

मोक्तुं भोगोपभोगांगमात्रं सावद्यमक्षमाः ।
ये तेऽप्यन्यत्सदा सर्वं हिंसेत्युज्झंतु वानृतं ॥ ४४ ॥

अर्थ–जो गृहस्थ समस्त अयोग्य बचनोंके त्याग करनेमें असमर्थ हैं वे भोगोपभोगके साधन मात्र झूठको बोल सकते हैं यह बात वा शब्दसे सूचित होती है । वा अर्थात् बहुत कहनेसे क्या ? जो गृहस्थ भोजन आदि भोग और स्त्री वस्त्र आदि [1]उपभोग इन दोनोंके साधन ऐसे 'खेत जोत' इत्यादि प्राणियोंकी हिंसा करनेवाले [2]पापसहित वचनोंको छोड नहीं

१–भुक्त्वा परिहातव्यो भोगो भुक्त्वा पुनश्च भोक्तव्यः । उपभोगोऽशनवसनप्रभृतिपंचेंद्रियो विषयः ॥ अर्थ–जो भोजन, गंध, माला आदि पंचेंद्रियोंके ऐसे विषय हैं कि जो भोगकर छोड दिये जाते हैं जिनका भोग फिर नहीं हो सकता उन्हें **भोग** कहते हैं, और जो वस्त्र स्त्री आदि ऐसे विषय हैं कि जो वेंही बार बार भोगनेमें आते हैं उन्हें **उपभोग** कहते हैं ।

२–यह भूमि मेरी है, मैं इस खेतको जोतता हूं किंवा जोतूंगा इत्यादि वाक्योंको पापसहित वचन कहते हैं । क्योंकि यह भूमि मेरी है ऐसा कहनेसे उस भूमि संबंधी होनेवाली हिंसा भी उसीको लगती है, 'मैं जोतता हूं' 'तू जोत' ऐसा कहनेमें जोतनेमें जो हिंसा होगी उसका भागी वह होगा ही और हिंसा होना वा करना पाप है वह पाप जिन वचनोंसे सूचित होता है वे सब पापसहित वचन कहलाते हैं ।

सकते ऐसे धर्मात्मा पुरुषोंका जितने झूठ हैं वे सब हिंसाके पर्याय होनेसे [1]हिंसास्वरुप ही हैं क्योंकि जैसा प्रमत्तयोग हिंसामें है वैसा ही इन नीचे लिखे हुये असत्योंमें होता है यही समझकर भोगोपभोगोंके साधन ऐसे पापसहित वचनोंके सिवाय सदलपन आदि पांच प्रकारके जो झूठ हैं उन सबका त्याग सदाकेलिये कर देना चाहिये। यहांपर इतना और समझ लेना चाहिये कि प्रमत्तयोगके विना जहां हेय उपादेयका उपदेश दिया जाता है वहांपर श्रोताको बुरा लगनेपर भी असत्य नहीं है। इसपरसे किसीने जो यह कहा है कि " सा मिथ्यापि न गीर्मिथ्या या गुर्वादिप्रसादिनी " अर्थात् "जो गुरु आदिको प्रसन्न करनेवाली वाणी है वह यदि मिथ्या (झूठ) भी हो तथापि वह मिथ्या नहीं गिनी जाती" इसका भी ग्रहण कर लेना चाहिये क्योंकि उसमें भी प्रमत्तयोग नहीं है।

१—असत्य भाषणको हिंसा इसप्रकार समझना चाहिये कि असत्य और हिंसा इन दोनोंमें दूसरेके चित्तको दुःख पहुंचानेवाले समान परिणाम होते हैं तथा **प्रमत्तयोग** अर्थात् कषायसहित मन वचन कायकी प्रवृत्ति भी दोनों भी समान है। जिसप्रकार रागद्वेषके अभाव होनेपर जीवके प्राणोंका घात होते हुये भी हिंसा नहीं गिनी जाती उसीप्रकार राग द्वेष आदि कषायोंके अभाव होनेपर झूठ वचन भी असत्य नहीं माने जाते। लिखा है—

हेतौ प्रमत्तयोगे निर्दिष्टे सकलवितथवचनानां। हेयानुष्ठानादेरनुवदनं भवति नासत्यं ॥ सब प्रकारके झूठ बोलनेमें प्रमत्तयोग ही

सद्लपन, असदुद्भावन, विपरीत, अप्रिय, और गर्हित ऐसे पांच प्रकारके असत्य वचन हैं। उसमेंसे 'आत्मा कोई पदार्थ नहीं है' ऐसे वचनोंको सद्लपन कहते हैं क्योंकि ऐसे वचनोंमें वास्तवमें जिसकी सत्ता है और जिसके द्वारा वह कह रहा है ऐसे आत्माका अपलपन अर्थात् निषेध किया गया है। "यह आत्मा समस्त जगतमें व्याप्त है अथवा चांवलकी कणिकाके समान है" ऐसे वचनोंको असदुद्भावन कहते हैं। क्योंकि ऐसे वाक्योंमें आत्माका जो परिमाण कहा गया है वह वास्तविक नहीं है। इसलिये जिन वचनोंसे वास्तविक न होने पर भी कल्पना किया जाता है ऐसे वचनोंको असदुद्भावन कहते है। गायको घोडा कहना विपरीत है। कानेको काना कहना अप्रिय है। क्योंकि काने मनुष्यको काना कहना अप्रिय लगता है। अरे वेश्यापुत्र! विधवापुत्र! आदि कहना गर्हित वा निंद्य वचन हैं, इन्हें साक्रोश भी कहते हैं। ये पांचप्रकारके असत्य वचन व्रतीश्रावकको अवश्य छोड देने चाहिये ॥ ४४ ॥

कारण बतलाया है इसलिये हेय उपादेय आदि अनुष्ठानोंका कहना भी झूठ नहीं होता। **भावार्थ**–झूठवचनके त्यागी महामुनि बारबार हेयोपादेयका उपदेश देते हैं उनके पापानिंदक वचन पापी जीवोंको तीरसे अप्रिय लगते हैं उन्हें सुनकर सैकडों पापी जीव दुखी होते हैं परंतु उन मुनिराजको असत्य भाषणका दोष नहीं लगता, क्योंकि उनके वचनोंमें कषाय और प्रमाद नहीं है।

आगे—सत्याणुव्रतके पांच अतिचार छोड देनेकेलिये कहते हैं—

मिथ्यादिशं रहोभ्याख्यां कूटलेखक्रियां त्यजेत् ।
न्यस्तांशविस्मर्त्रनुज्ञां मंत्रभेदं च तद्व्रतः ॥ ४५ ॥

अर्थ—सत्याणुव्रत पालन करनेवाले श्रावकको मिथ्योपदेश, रहोभ्याख्या, कूटलेखक्रिया न्यस्तांशविस्मर्त्रनुज्ञा, और मंत्रभेद इन पांचों अतिचारोंका त्याग कर देना चाहिये ।

मिथ्यापदेशको ही मिथ्यादिक् कहते हैं । स्वर्गमोक्षकी साधन ऐसी विशेष विशेष क्रियाओंमें किसी दूसरे पुरुषकी विपरीत प्रवृत्ति करानेको मिथ्योपदेश कहते हैं । जैसे स्वर्ग किसतरह मिलता है, मोक्षका कारण क्या है, इत्यादि विषयमें किसीको संदेह हुआ और उसके दूर करनेकेलिये उसने पूछा तो अज्ञानसे ही स्वर्ग मोक्ष मिलता है इत्यादि विपरीत कथन करना मिथ्योपदेश है । अथवा सत्याणुव्रती श्रावकको दूसरेको दुःख पहुंचानेवाले वचन कहना असत्य ही है । इसलिये प्रमादसे अथवा द्वेषसे जिनवचनोंसे दूसरोंको दुःख पहुंचता हो ऐसे वचन कहना सत्याणुव्रतीकेलिये अतिचार है । जैसे 'इन घोड़े ऊंटोंपर बोझा लादो' 'चोरको मारो' इत्यादि निष्प्रयोजन बचन कहना अथवा किसी विवादमें दूसरेको फंसानेकी युक्ति स्वयं कहना अथवा किसी अन्यसे कहलवाना आदि सब मिथ्योपदेश है ।

रहोभ्याख्या—जिसके प्रकाश करनेसे उन दोनों स्त्रीपुरुषोंको अथवा अन्य स्त्री पुरुषोंको तीव्र राग वा क्रोध उत्पन्न हो ऐसी किसी एकांत स्थानमें स्त्रीपुरुषोंके द्वारा की हुई गुप्त क्रियाओंको प्रकाश कर देना रहोभ्याख्या है। यदि हंसी खेल आदिमें ही ये गुप्त क्रियायें प्रकाश की जायं तो अतिचार है। यदि ये ही गुप्त क्रियायें किसी दोषको प्रगट करनेके अभिप्रायसे की जायं तो फिर उसका सत्याणुव्रत ही भंग हो जाता है, ऐसा समझना चाहिये।

कूटलेखक्रिया—किसी पुरुषने जो वचन नहीं कहा है अथवा जो काम नहीं किया है उसको किसी अन्य पुरुषकी प्रेरणासे फंसाने वा ठगनेकेलिये "इसने ऐसा कहा है अथवा ऐसा काम किया है" ऐसे वाक्य लिखना कूटलेखक्रिया है। अथवा किसी दूसरे पुरुषके अक्षरोंके समान अक्षर लिखना वा मोहर बनाना आदि भी किसीके मतमें कूटलेखक्रिया मानी जाती है।

न्यस्तांशविस्मर्त्रनुज्ञा—किसी पुरुषके द्वारा रक्खे हुये सुवर्ण आदि द्रव्यके कुछ अंश भूलजानेपर उसे देते समय वैसी ही संमति वा आज्ञा देना न्यस्तांशविस्मर्त्रनुज्ञा है। जैसे जिनदत्तने धवलदत्तके पास पांच हजार रुपये जमा किये थे, कुछ दिन बाद जिनदत्त अपने रुपये लेने आया परंतु वह अपने रुपयोंकी संख्या भूल गया था और पांच हजारकी

जगह चार हजार स्मरण रहे थे, इसलिये उसने धवलदत्तके पास जाकर चार हजार रुपये मांगे । धवलदत्तको मालूम है कि इसके पांच हजार रुपये जमा हैं तथापि " हां भाई, तू अपने सब रुपये ले जा " ऐसा कह कर उसे चार हजार रुपये ही दिलानेकी संमति देना न्यस्तांशविस्मर्त्रनुज्ञा नामका अतिचार है इसीको न्यासापहार कहते हैं ।

मंत्रभेद—किसी शरीरके विकारसे अथवा भौंह चलाना आदिसे दूसरेके अभिप्रायको जानकर ईर्ष्या अथवा द्वेषसे उसे प्रगट करना अथवा अपनेमें विश्वास रखनेवाले मित्रोंने अपने साथ जो लज्जा आदि करनेवाली वातचीत की है उसे प्रकाश कर देना मंत्रभेद है ।

श्री सोमदेवने अपने यशस्तिलकचंपूमें " मंत्रभेदः परीवादः पैशून्यं कूटलेखनं । मुधासाक्षिपदोक्तिश्च सत्यस्यैते विघातकाः " अर्थात् " मंत्रभेद, निंदा, चुगली खाना, झूठे लेख लिखना और मिथ्या साक्षी देना " ऐसे पांच अतिचार कहे हैं । तथा स्वामी समंतभद्राचार्यने भी इसीप्रकार कहे हैं । ये अतिचार ऊपर लिखे हुये मिथ्योपदेश आदि अतिचारोंसे भिन्न हैं तथापि वे सब " परेऽप्यूह्यास्तथात्ययाः " अर्थात् " इसीप्रकारके और भी अतिचार कल्पना करलेना " इस इसी अध्यायके अठारहवें श्लोकके वाक्यसे ग्रहण किये जाते हैं।

भावार्थ—सत्याणुव्रतीको ये सब अतिचार छोड देने चाहिये॥४५॥

आगे–अचौर्याणुव्रतका लक्षण कहते हैं–

चौरव्यपदेशकरस्थूलस्तेयव्रतो मृतस्वधनात्।
परमुदकादेश्चाखिलभोग्यान्न हरेद्दीत न परस्वं॥४६॥

अर्थ–जिसने स्थूल चोरीका त्याग किया है अर्थात् यह चोर है, यह धर्मपातकी है, यह हिंसक है इत्यादि नाम धरानेवाली चोरीको स्थूल चोरी कहते हैं अथवा किसीकी दीवाल फोडकर वा और किसीतरह विना दिया हुआ दूसरेका धन ले लेना भी स्थूलचोरी है ऐसी स्थूलचोरीका जिसने त्याग कर दिया है ऐसे अचौर्याणुव्रती श्रावकको जिसके पुत्र पौत्र आदि कोई संतान नहीं है, जो विना संतान छोडे ही मर गया है ऐसे मरे हुये भाई भतीजे आदि कुटुंबी पुरुषके धनको छोडकर तथा जल घास मिट्टी आदि पदार्थ जोकि सार्वजनिक हैं जिनको वहांके सबलोग अथवा दूसरी जगहसे आये हुये लोग भी अपनी इच्छानुसार काममें लाते हैं, जिन्हें काममें लानेके लिये राजा वा उसके स्वामीने सामान्य आज्ञा दे रक्खी है ऐसे पदार्थोंको छोडकर बाकी सब दूसरेका विना दिया हुआ चेतन अचेतनरूप द्रव्य न तो स्वयं ग्रहण करना चाहिये और न उठाकर किसी दूसरेको देना चाहिये। भावार्थ–अचौर्याणुव्रती श्रावक जिनका कोई और वारिस नहीं है ऐसे मरे हुये कुटुंबी पुरुषोंका धन विना दिया हुआ भी ले सकता है परंतु उनके जीवित रहते हुये उनके धनको विना

दिये नहीं ले सकता । जो द्रव्य अपने लिये दे दिया गया है वह फिर दूसरेका नहीं कहला सकता, फिर वह अपना ही कहा जाता है । इसीप्रकार पानी, घास, मिट्टी आदि साधारण सबके काममें आने योग्य पदार्थोंको भी अचौर्याणुव्रती विना दिये ले सकता है क्योंकि उस पदार्थको सबके लेनेकेलिये उसके स्वामीकी साधारण आज्ञा है और उस पदार्थको लेनेसे वह चोर वा पापी भी नहीं कहा जा सकता । इसलिये इन दो तरहके पदार्थोंको छोडकर बाकी सब तरहके दूसरेके पदार्थोंको अचौर्याणुव्रती न स्वयं लेता है और न उठाकर किसीको देता है ॥ ४६ ॥

आगे—प्रमत्तयोगसे विना दिये हुये एक तृणको भी ग्रहण करने अथवा उठाकर किसीको देनेसे अचौर्यव्रत भंग हो जाता है ऐसा कहते हैं—

संक्लेशाभिनिवेशेन तृणमप्यन्यभर्तृकं ।
अदत्तमाददानो वा ददानस्तस्करो ध्रुवं ॥४७॥

अर्थ—जो पुरुष संक्लेश परिणामोंसे अर्थात् यह पदार्थ मुझे चाहिये ऐसे लोभ अथवा उसकी हानि करनेरूप द्वेषसे विना दिये हुये दूसरेके तृण आदि नकुछ पदार्थ भी ग्रहण करता है अथवा उठाकर दूसरेको दे देता है वह अवश्य ही चोर है, ऐसा करनेसे उसका अचौर्यव्रत नष्ट हो जाता है । इससे इतना और

समझ लेना चाहिये कि जब लोभ वा द्वेषसे तृण ग्रहण करता हुआ भी चोर है तब यदि वह उसी लोभ वा द्वेषसे सुवर्ण आदि कीमती पदार्थ ग्रहण करे अथवा उठाकर किसीको दे देवे तो वह अवश्य चोर है ही, इसमें कोई संदेह नहीं है । इससे यह भी सिद्ध होता है कि जब वह प्रमत्तयोगसे विना दीहुई किसीकी वस्तु लेगा या किसीको देगा तो चोर है । यदि विना प्रमत्त-योगके विना दी हुई कोई वस्तु ग्रहण भी करले तथापि वह चोर नहीं है जैसे महामुनि प्रमत्तयोगके विना विना दिये हुये कर्म-वर्गणाओंको ग्रहण करते हुये भी वे चोर नहीं कहलाते ॥४७॥

आगे—जो धन पृथ्वीमें गढा है या ऐसा ही कहीं पडा है वह भी राजाका है उसके भी न लेनेका नियम करना चाहिये ऐसा कहते हैं—

न स्वामिकमिति ग्राह्यं निधानादि धनं यतः ।
धनस्यास्वामिकस्येह दायादो मेदिनीपतिः ॥४८॥

अर्थ—अचौर्याणुव्रती श्रावकको इसका स्वामी कोई नहीं है इसलिये यह दूसरेका द्रव्य नहीं है ऐसा समझकर जो द्रव्य नदी, गुफा गढ्ढा वा खानि आदिमें रक्खा है उसे भी नहीं लेना चाहिये । क्योंकि जिसका कोई स्वामी नहीं है ऐसे धनका साधारण स्वामी राजा माना जाता है ॥४८॥

आगे—जो द्रव्य अपना ही है, परंतु यदि उसके अपने

होनेमें संदेह हो तो उसके भी न लेनेका नियम करना चाहिये ऐसा कहते हैं-

स्वमपि स्वं मम स्याद्वा न वेति द्वापरास्पदं ।
यदा तदादीयमानं व्रतभंगाय जायते ॥४९॥

अर्थ--जिससमय अपने द्रव्यमें भी " यह द्रव्य मेरा है या नहीं " ऐसा संदेह हो उससमय यदि वह उस अपने द्रव्यको भी स्वयं लेता है या अन्य किसीको दे देता है तो उसके अचौर्याणुव्रतका भंग हो जाता है । **भावार्थ**--जिस द्रव्यमें मेरा है या नहीं ' ऐसा संदेह हो तो उसे भी नहीं लेना चाहिये ॥ ४९ ॥

आगे-अचौर्याणुव्रतके अतिचार छोडनेकेलिये कहते हैं-

चौरप्रयोगचौराहृतग्रहावाधिकहीनमानतुलं ।
प्रतिरूपकव्यवहृतिं विरूद्धराज्येऽप्यतिक्रमं जह्यात् ॥५०॥

अर्थ-अचौर्याणुव्रती श्रावकको चौरप्रयोग, चौराहृतग्रह, अधिक हीनमानतुला, प्रतिरूपकव्यवहृति और विरूद्धराज्यातिक्रम ये पांचों अतिचार छोड देने चाहिये ।

चौरप्रयोग-जो पुरुष स्वयं चोरी करता है अथवा किसी अन्यकी प्रेरणासे चोरी करता है उसे "तू चोरी कर" इसप्रकार प्रेरणा करना, अथवा जिसको चोरी करनेकी प्रेरणा की है उसे चोरी करनेमें " यह तू बहुत अच्छा करता है " ऐसी

अनुमति देना, तथा चोरी करनेके साधन कुसा, कैंची, कमंद, आदि पदार्थ देना अथवा ऐसे पदार्थ बेचना आदिको चौरप्रयोग कहते हैं। यहांपर जिसने " मैं चोरी नहीं करूंगा और न कराऊंगा" ऐसा व्रत स्वीकार किया है उसका अचौर्य-व्रत ऊपर कहे हुये चौरप्रयोगसे भंग हो जाता है फिर भी इसको अतिचार कहा है इसका कारण यह है कि " तुम बिना व्यापारके व्यर्थ ही क्यों बैठे रहते हो ? यदि तुम्हारे पास कुछ खाने पीनेको नहीं है तो मैं देता हूं, तुम्हारी लाई हुई वस्तुको खरीदनेवाला यदि कोई नहीं है तो मुझे दे जाना, मैं बेच दूंगा " इसप्रकारके वचनोंसे चोरोंको चोरी करनेमें प्रेरणा करता है। उनको स्पष्ट रीतिसे नहीं कहता कि तुम चोरी करो परंतु चोरको उद्देशकर ऐसे वाक्य कहता है कि जिन्हें सुनकर वे चोरी करनेमें लग जायं परंतु वह स्वयं ऐसी कल्पना करता है कि 'मैंने व्यापार करनेकेलिये ये पदार्थ मगाये हैं' इसप्रकार अंतरंग व्रतका भंग और बाह्यव्रतका अभंग होनेसे चौरप्रयोगको अतिचार कहा है।

चौराहृतग्रह–जिसको चोरी करनेकी प्रेरणा भी नहीं की है और न जिसकी अनुमोदना ही की है ऐसा चोर यदि सुवर्ण वस्त्र आदि द्रव्य लावे और वह मूल देकर खरीद किया जाय अथवा अधिक लेलिया जाय तो उसे चौराहृतग्रह कहते हैं। चोरके द्वारा लाया हुआ पदार्थ अधिक मूल्यका होकर भी गुप्त रीतिसे

(छिपकर) थोडेसे मूल्यमें ले लिया जाता है अथवा तरजूमें पासंगकर अधिक ले लिया जाता है, इसलिये लेनेवाला चोर गिना जाता है और इसतरह उसके बाह्यव्रतका भंग हो जाता है। परंतु लेनेवाला यह ही समझता है कि मैं यह व्यापार करता हूं, चोरी नही, इसप्रकार उसके अंतरंग व्रतका भंग नहीं होता। इसतरह चोराहृतग्रहमें व्रतका भंग और अभंग दोनों होनेसे वह अतिचार गिना जाता है।

अधिकहीनमानतुला––सेर पायली गज हाथ आदि मापनेको मान कहते हैं और तोलनेको उन्मान वा तुला कहते हैं। कोई पदार्थ दूसरेको देते समय छोटे मापसे नापना अथवा हलके बजनसे तौलना और लेतेसमय बडे मापसे नापकर लेना वा भारी बजनसे तौलकर लेना अधिकहीनमानतुला कहलाता है यह भी भंगाभंगस्वरूप होनेसे अतिचार होता है।

प्रतिरूपक व्यवहृति––किसी अधिक कीमती वस्तुमें उसीके सदृश कम कीमती कोई अन्य पदार्थ मिलाकर बेचना या व्यवहार करना प्रतिरूपकव्यवहृति कहलाती है। जैसे चांवलोंमें पलंजि, घीमें चर्बी वा तेल, हींगमें गोंद, तेलमें मूत्र, असली सोना चांदीमें नकली सोना चांदी आदि मिलाकर असलीके भावसे बेचना प्रतिरूपकव्यवहृति है अधिकहीनमान-

तुला और प्रतिरूपकव्यवहृति इन दोनोंसे दूसरेका अधिक द्रव्य लिया जाता है इसलिये चोरी होनेसे दोनोंसे ही व्रतका भंग होता है परंतु इन दोनोंको करनेवाला ऐसा समझता है कि किसीका घर फोडकर माल निकाललेना ही चोरी है, यह चोरी थोडे ही है, यह तो व्यापारकी एक कला वा चतुराई है, यह व्यापारकी चतुराई मैं करता हूं, चोरी नहीं। इसप्रकार अपने परिणामोंसे अचौर्यव्रतकी रक्षा करनेकेलिये वह सदा तैयार रहता है इसलिये उसका अंतरंग व्रत भंग नहीं होता। इसप्रकार व्रतका भंग अभंग दोनों होनेसे अधिकहीनमानतुला और प्रतिरूपकव्यवहृति ये दोनों ही अतिचार हैं।

विरुद्ध राज्यातिक्रम—किसी राजाका छत्र भंग होनेपर वा राज्य नष्ट होनेपर अथवा उसपर किसी बलवान राजाका आक्रमण होनेपर उचित न्यायसे अन्यथा अर्थात् अनुचित प्रवृत्ति करना, अधिक कीमती वस्तु कम कीमतमे लेना अथवा कम किमती वस्तु अधिक किमतमें बेचना आदिको विरुद्ध राज्यातिक्रम कहते हैं अथवा परस्पर द्वेष करनेवाले राजाओंको जो भूमि और सेना आदि नियमित है उसे विरुद्ध राज्य कहते हैं उसका उलंघन करना अर्थात् उन दोनोंके परस्पर किये हुये नियमोंको तोडना वा उनके नियमोंके विपरीत चलना विरुद्ध राज्यातिक्रम है। जैसे किसी एक राज्यमें रहनेवाले मनुष्यको उसके विरुद्धवाले दूसरे

राज्यमें भेजदेना अथवा दूसरे राज्यके किसी मनुष्यको अपने राज्यमें बुला लेना। यद्यपि एक राज्यसे दूसरे राज्यमें जानेमें कोई दोष नहीं है परंतु वह राजाकी आज्ञानुसार नहीं गया है। लोकमें इसप्रकार स्वामीकी आज्ञाके विना बिरुद्धवाले राज्यमें जानेवाले लोगोंको चोरी करनेका ही दंड दिया जाता है क्योंकि स्वामीकी आज्ञा विना नियमित कामसे बाहर काम करना चोरी गिनी जाती है। इसलिये परस्पर द्वेष रखनेवाले राज्योंमेंसे विना राजाकी आज्ञाके एक दूसरेके राज्यमें जाना अथवा छत्रभंग आदि होनेवाले विरुद्ध राज्यमें कीमती पदार्थ कम कीमतमें लेना वा कम कीमती अधिक कीमतमें बेचना आदि कामोंसे अचौर्यव्रतका भंग होता है परंतु एक राज्यसे दूसरे राज्यमें जानेवाला समझता है कि मैंने कुछ चोरी नहीं की है मैं केवल व्यापार करनेके लिये यहां आया हूं चोरीके लिये नहीं, इसप्रकार वह अपने व्रतोंकी रक्षा करनेमें भी तत्पर रहता है। तथा कीमती वस्तुको कम कीमतमें लेनेवाला वा कम कीमती वस्तुको अधिक कीमतमें बेचनेवाला भी समझता है कि मैं यह व्यापार करता हूं चोरी नहीं, इसप्रकार उसके परिणामोंसे व्रतोंकी रक्षा भी होती है तथा ऐसे काम करने-वालोंको संसारमें भी कोई चोर नहीं कहता इसलिये उसके अंतरंग व्रतोंका भंग नहीं होता। इसप्रकार अचौर्यव्रतका भंग और अभंग होनेसे विरुद्धराज्यातिक्रम भी अतिचार ही गिना जाता है।

अथवा इसप्रकार समझना चाहिये कि चौरप्रयोग आदि पांचो ही स्पष्ट चोरी हैं परंतु यदि वे किसीके संबंधसे किये जायं अथवा किसी अन्य प्रकारसे किये जायं तो वे अतिचार कहलाते हैं ।

यहांपर कोई कोई ऐसी शंका करते हैं कि ऊपर लिखे हुये चौर्यप्रयोग आदि पांचो ही अतिचार राजा और राजसेवकोंके संभव नहीं हो सकते परंतु उनका यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि पहिला और दूसरा अर्थात् चौरप्रयोग और चौराहृतग्रह ये दो तो राजाओंके तथा राजसेवकोंके सहज हो सकते हैं । तीसरा और चौथा अर्थात् अधिक हीनमानतुला और प्रतिरुपकव्यवहृति ये दोनों भी उनके हो सकते हैं । जब राजा अपने खजाने अथवा भंडार आदिकी तौल माप करता है अथवा सेवकोंसे कराता है उससमय उससे तथा उसके सेवकोंसे अधिक हीनमानतुला अतिचार हो सकता है । तथा जब राजा अपनी किसी वस्तुके बदले दूसरी वस्तु खरीदता है अथवा और कोई वस्तु खरीदता वा बेचता है उससमय उन दोनोंके प्रतिरूपकव्यवहृति अतिचार संभव हो सकता है । इसीप्रकार विरुद्धराज्यातिक्रम भी हो सकता है । जब कोई शूर पुरुष किसी राजाकी सेवा करता है वह यदि किसीतरह अपने स्वामीके विरुद्ध राजाकी सहायता करे तो उसके विरुद्ध राज्यातिक्रम अतिचार लगता है । जब कोई मांडलिक राजा

अपने सम्राट्के विरुद्ध किसी अन्य राजाकी सहायता करता है तब उसके विरुद्ध राज्यातिक्रम अतिचार होता है ।

श्री सोमदेव आचार्यने अधिक तौलना वा मापना और कम तौलना वा मापना इन दोनोंको अलग अलग दो अतिचार माने हैं । उन्होंने लिखा है—" मानवन्न्यूनताधिक्ये स्तेनकर्म ततो ग्रहः । विग्रहे संग्रहोऽर्थस्यास्तेयस्यैते निवर्तकाः ॥ " अर्थात्—" जो वस्तु तौलने वा नापने योग्य है उसे देते समय कम तौलकर वा कम नापकर देना, लेते समय अधिक तौलकर वा अधिक मापकर लेना, चोरी कराना, चोरसे चुराये हुये पदार्थको लेना वा खरीदना और युद्धके समय पदार्थोंका संग्रह करना ये पांच अचौर्यव्रतके अतिचार हैं ॥ ५० ॥

आगे—स्वदारसंतोष अणुव्रतको स्वीकार करनेकी विधि कहते हैं—

प्रतिपक्षभावनैव न रतौ रिरंसारुजि प्रतीकारः ।
इत्यप्रत्ययितमनाः श्रयत्वहिंस्रः स्वदारसंतोषं ॥ ५१ ॥

अर्थ—" स्त्रीके संभोग करनेकी इच्छा होना एक प्रकारका रोग है और उसके दूर करनेका उपाय उस इच्छाके प्रतिकूल ब्रह्मचर्यकी भावना है अर्थात् चित्तमें ब्रह्मचर्यव्रतका बारबार चिंतवन करनेसे ही स्त्रीके साथ संभोग करनेकी इच्छारूप रोगका नाश हो जाता है स्त्रीके साथ संभोग करनेसे वह नष्ट नहीं होता " ऐसा दृढ निश्चय जिसके अंतःकरणमें नहीं हुआ है ऐसे थोडीसी हिंसा करनेवाले अणुव्रती श्रावकको स्वदारसंतोषव्रत धारण करना चाहिये, अर्थात् उसे

केवल अपनी ही स्त्रीमें अथवा केवल अपनी ही स्त्रियोंके द्वारा मैथुनरूप रोगकी शांतिकर शरीर और मनका स्वास्थ्य संपादन करना चाहिये। भावार्थ–जो ब्रह्मचर्यव्रत धारण नहीं कर सकता उसे स्वदारसंतोषव्रत स्वीकार करना चाहिये ॥ ५१ ॥

आगे–स्वदारसंतोष किसके हो सकता है सो कहते हैं–

सोऽस्ति स्वदारसंतोषी योऽन्यस्त्रीप्रकटास्त्रियौ।
न गच्छत्यंहसो भीत्या नान्यैर्गमयति त्रिधा॥ ५२॥

अर्थ—परिगृहीत अथवा अपरिगृहीत दूसरेकी स्त्रीको अन्यस्त्री कहते हैं, जो स्त्री अपने स्वामीके साथ रहती हो उसे परिगृहीत कहते हैं और जो स्वतंत्र हो अथवा जिसका पति परदेश गया हो ऐसी कुलांगना अनाथ स्त्रीको अपरिगृहीता कहते हैं। कन्याकी गिनती भी अन्यस्त्रीमें है, क्योंकि उसका पति होनेवाला है अथवा माता पिता आदिकी परतंत्रतामें रहती है इसलिये वह सनाथ अन्यस्त्री गिनी जाती है।

वेश्याको प्रकटस्त्री कहते हैं। जो पुरुष केवल पापके भयसे मन वचन कायसे, कृत कारितसे अथवा अनुमोदनासे भी अन्यस्त्री और वेश्याओंको सेवन नहीं करता है और न परस्त्री-लंपट पुरुषोंको सेवन करानेकी प्रेरणा करता है वह गृहस्थ स्वदारसंतोषी कहलाता है अर्थात् जो अपनी धर्मपत्नीमें ही संतोष रखता हो, मैथुनसंज्ञाके प्रतीकार करनेकी इच्छासे केवल अपनी ही स्त्रीको सेवन करनेरूप स्वदारसंतोष अणुव्रत-

को धारण करता हो वही स्वदारसंतोषी है। ऊपर जो केवल पापके भयसे अन्य स्त्री और वेश्याओंको सेवन 'नहीं करता" ऐसा लिखा है उसका अभिप्राय यह है कि यदि वह राजा आदिके भयसे परस्त्री वा वेश्याका त्याग करे तो वह स्वदार संतोषी नहीं हो सकता।

यहांपर इतना और समझ लेना चाहिये कि जो मद्य मांस मधु और पांचों उदंबरोंके त्यागरुप अष्ट मूलगुणोंको अतिचार रहित पालन करता है और विशुद्ध सम्यग्दृष्टी है उसीकेलिये यह कथन है, जो पुरुष स्वस्त्रीके समान साधारण स्त्रियोंका (वेश्याओंका) भी त्याग नहीं कर सकता, केवल परस्त्रीका ही त्याग करता है वह भी ब्रह्मचर्याणुव्रती माना जाता है। इसका भी कारण यह है कि ब्रह्मचर्याणुव्रत दो प्रकारका है एक स्वदारसंतोष और दूसरा परस्त्रीत्याग। संसारमें अपनी स्त्रीके सिवाय दो प्रकारकी स्त्रियां है एक अन्यस्त्री और दूसरी वेश्या वा प्रकटस्त्री। इन दोनोंके त्यागकी अपेक्षासे ब्रह्माचर्याणुव्रत भी दो प्रकारका हो जाता है। जो दोनोंको त्याग करता है वह स्वदारसंतोषी हैं और जो केवल परस्त्रीका त्याग करता है वह परस्त्रीत्यागी [1]कहलाता

१-श्री समंतभद्रस्वामीने भी कहा है-" न च परदारान् गच्छति न परान् गमयति च पापभीतेर्यत्। सा परदारनिवृत्तिः स्वदारसंतोष नामापि॥ " अर्थात्-" जो पापके भयसे परस्त्रीसेवन नहीं करता और न दूसरोंको सेवन करनेकी प्रेरणा करता है उसका वह परस्त्रीत्याग व्रत कहलाता है और वह स्वदार संतोषरूपसे भी होता है। "

है । उनमेंसे जिसको देशसंयमका खूब अभ्यास है ऐसे नैष्ठिक श्रावकको पहिला स्वदारसंतोष व्रत होता है और जो देशसंयमके अभ्यास करनेकेलिये तैयार हुआ है अथवा जो उसका साधारण अभ्यास कर रहा है उसके दूसरा परस्त्रीत्याग अणुव्रत होता है । श्री सोमदेव आचार्यने भी यही बात कही है—"वधूवित्तस्त्रियौ मुक्त्वा सर्वत्रान्यतज्जने। माता स्वसा तनूजेति मतिर्ब्रह्म गृहाश्रमे ॥ " अर्थात्—" अपनी स्त्री और वित्तस्त्री वेश्याको छोडकर शेष समस्त स्त्रियोंमें माता बहिन और पुत्रीके समान बुद्धि रखना गृहस्थाश्रममें ब्रह्मचर्य माना जाता है " श्रीवसुनंदिसैद्धांतिकदेवने दर्शनप्रतिमाका स्वरूप " पंचुंबरसहियाइ सत्त वि वसणाइ जो विवज्जेई सम्मत्तविसुद्धमई सो दंसणसावओ भणिओ " अर्थात्—"जो पांचों उदंबर सहित सप्त व्यसनोंका त्यागकर विशुद्ध सम्यग्दर्शन धारण करता है वह दर्शनिक श्रावक है " जो ऐसा कहा है उनके मतके अनुसार ब्रह्मचर्य अणुव्रतका स्वरूप इसप्रकार जानना "पव्वेसु इत्थिसेवा अणंगकीडा सया विवज्जेई। थूल अड बंभयारी जिणेहिं भणिदो पवयणम्मि ॥" अर्थात्—"जो पर्वके दिनोंमें स्त्रीसेवनका त्याग करता है तथा अनंगक्रीडाका सदा त्याग करता है उसे जिनागममें स्थूलब्रह्मचारी कहते हैं " । स्वामी समंतभद्रने दर्शनिक प्रतिमाका स्वरूप जो " सम्यग्दर्शनशुद्धः संसारशरीरभोगनिर्विण्णः । पंचगुरुचरणशरणो दर्शनिकस्तत्त्वपथगृह्यः । "

अर्थात् " जिसका सम्यग्दर्शन शुद्ध है जो संसार शरीर और भोगोंसे विरक्त है, पंचपरमेष्ठीके चरणोंको ही शरण मानता है और यथार्थ मार्गको ग्रहण करता है वही दर्शनिक श्रावक है।" ऐसा कहा है उनके मतानुसार ब्रह्मचर्याणुव्रतका स्वरुप केवल अतिचार छुडानेकेलिये कहागया है ऐसा समझना चाहिये ॥ ५२ ॥

आगे—यद्यपि जो गृहस्थ श्रावक स्वीकार कियेहुये व्रतोंका पालन करता है उसके ऐसा भारी पापका बंध नहीं होता है तथापि मुनिधर्म पालन करनेकेलिये जिसका अनुराग होरहा है और मुनिधर्म धारण करनेसे पहिले गृहस्थ अवस्थामें ही कामभोगोंसे विरक्त होकर श्रावकधर्मका प्रतिपालन करता है उसके वैराग्यकी उत्कृष्टता बढानेकेलिये सामान्य रीतिसे अब्रह्मके दोष दिखलाते हैं—

संतापरूपो मोहांगसादतृष्णानुबंधकृत् ।
स्त्रीसंभोगस्तथाप्येष सुखं चेत्का ज्वरेऽक्षमा ॥ ५३ ॥

अर्थ—स्त्रीसंभोग संतापरूप है क्योंकि स्त्रीको स्पर्श करना पित्तको कुपित करनेका कारण है। अथवा वह संताप करनेवाला है इसलिये भी संतापरूप है, इसके सिवाय स्त्रीसंभोग करते समय हित अहितका भान नहीं रहता इसलिये वह हित अहितके विचार रहित रूप मोहको उत्पन्न करनेवाला

है, तथा शरीरको शिथिल वा कृश करता है और तृष्णाको बढाता है, क्योंकि स्त्रीसंभोगसे उसकी तृष्णा दिनोंदिन बढती जाती है। यह स्त्रीसंभोगका जैसा हाल है ठीक वही हाल ज्वरका है क्योंकि वह भी संतापरूप है, हित अहितके विचार-को नष्ट करता है, शरीरको शिथिल वा कृश करता है और तृष्णा अर्थात् प्यासको बढाता है। इसप्रकार दोनों ही समान हैं समान दुःख देनेवाले हैं। इसलिये हे आत्मन! जैसे तू स्त्रीसंभोगको सुख मानता है उसीप्रकार तुझे ज्वरमें भी द्वेष नहीं करना चाहिये उसमें भी सुख ही मानना चाहिये। जब दोनों ही समान दुःख देनेवाले हैं तो फिर ज्वर दूर करनेके-लिये और फिर न आनेकेलिये उपाय करना योग्य नहीं है उलटा उसमें आनंद मानना चाहिये जैसा कि संभोगमें आनंद मानता है। तथा यदि ज्वर जाने और फिर न आनेके-लिये उपाय करना आवश्यक है तो अपने मनसे संभोगकी इच्छा दूर करनेकेलिये और फिर उत्पन्न न होनेके लिये भी उपाय करना अत्यंत आवश्यक है। इसलिये ज्वरके समान स्त्रीसंभोगमें सुख नहीं है। आर्षमें लिखा भी है—स्त्रीभोगो न सुखं चेतः-संमोहाद्गात्रसादनात्। तृष्णानुबंधात्संतापरूपत्वाच्च यथा ज्वरः। अर्थात्—स्त्रीसंभोग ठीक ज्वरके समान है क्योंकि दोनोंसे ही चित्त मोहित हो जाता है, शरीर शिथिल हो जाता है, तृष्णा

बढती है और संताप होता ह, इसलिये स्त्रीसंभोग ज्वरके समान सुख देनेवाला नहीं है । ॥ ५३ ॥

आगे—परस्त्रीसेवनमें भी सुख नहीं मिलता ऐसा उपदेश देते हैं—

समरसरसरंगोद्गममृते च काचित्क्रिया न निर्वृतये
स कुतः स्यादनवस्थितचित्ततया गच्छतः परकलत्रं ॥५४॥

अर्थ—समागमसमयमें परस्पर विलक्षण प्रेम होते हुये स्त्रीपुरुषोंके अंतःकरणमें परस्पर समागमकी उत्कट इच्छा उत्पन्न होती है । उस विलक्षण प्रेमसे होनेवाली उत्कट इच्छा-के विना आलिंगन चुंबन आदि कोई भी क्रिया सुख देने-वाली नहीं होती तब फिर " मुझे कोई अपना या पराया मनुष्य देख न ले " इसप्रकारका शंकारूपी रोगसे जिसका अंतःकरण चंचल हो रहा है ऐसे परस्त्रीसेवन करनेवाले पुरुषके वह अपूर्व प्रेम और वह उत्कट इच्छा कैसे उत्पन्न हो सकती है ? अर्थात् कभी नहीं, और न उसके विना उसे सुख मिल सकता है ॥५४॥

आगे—स्वस्त्रीसेवन करनेवाले श्रावकके भी द्रव्यहिंसा और भावहिंसा दोनों होती हैं ऐसा कहते हैं—

स्त्रियं भजन् भजत्येव रागद्वेषौ हिनस्ति च ।
योनिजंतून् बहून् सूक्ष्मान् हिंस्रः स्वस्त्रीरतोप्यतः ॥५५॥

अर्थ—स्त्रीको उपभोग करनेवाले मनुष्यके अंतःकरणमें राग और द्वेष दोनों ही विकार उत्पन्न होते हैं, राग द्वेष होना ही भावहिंसा है । तथा स्त्रीकी योनिमें उत्पन्न होनेवाले अनेक सूक्ष्म जीवोंकी हिंसा भी उससे होती है यह द्रव्यहिंसा है । इसलिये **स्वस्त्रीसेवन** करनेवाला पुरुष दोनोंप्रकारकी हिंसा करनेसे हिंसक माना जाता है । तथा जो परस्त्रीका सेवन करता है उसके विशेष हिंसा होती है क्योंकि उसके रागद्वेषकी तीव्रता अधिक होती है । स्त्रीकी योनिमें अनेक जंतु उत्पन्न होते रहते हैं इस बातको कामसूत्रके कर्ता वात्सायन भी मानते हैं उन्होंने अपने ग्रंथमें लिखा है—"रक्तजाः कृमयः सूक्ष्मा मृदुमध्यादिशक्तयः । जन्मवर्त्मसु कंडूतिं जनयंति तथाविधां ।" अर्थात्—कोमल मध्यम और अधिक शक्तिवाले रक्तसे उत्पन्न हुये अनेक सूक्ष्म जीव योनिमें एक तरहकी खुजली उत्पन्न करते हैं ।" इसलिये स्त्रीसंभोग सदा पाप उत्पन्न करनेवाला है ॥५५॥

आगे—ब्रह्मचर्यकी महिमाकी स्तुति करते हैं—

स्वस्त्रीमात्रेण संतुष्टो नेच्छेद्योऽन्याः स्त्रियः सदा ।
सोऽप्यद्भुतप्रभावः स्यात्किं वर्ण्यं वर्णिनः पुनः ॥५६॥

अर्थ—जो पुरुष केवल अपनी विवाहित स्त्रीसे ही संतुष्ट है, कभी दूसरी स्त्रीकी इच्छा नहीं करता वह पुरुष भी

अद्भुत प्रभावशाली है अर्थात् उसकी महिमा लोगोंको आश्चर्य उत्पन्न करनेवाली है। जब स्वदारसंतोषरूप एकदेश ब्रह्मचर्यकी ही इतनी महिमा है तो जो पूर्ण ब्रह्मचारी है अर्थात् स्त्रीमात्रका त्यागी है उसकी महिमाका वर्णन फिर दुवारा क्या करना ? भावार्थ–उसकी अपार महिमा है, पहिले भी उसका वर्णन कर चुके हैं ॥ ५६ ॥

आगे—केवल अपने पतिको सेवन करनेवाली पतिव्रता स्त्रीकी पूज्यता दृष्टांतद्वारा दिखलाते हैं–

रूपैश्वर्यकलावर्यमपि सीतेव रावणं।
परपूरुषमुज्झंती स्त्री सुरैरपि पूज्यते ॥ ५७ ॥

अर्थ—जिसप्रकार सती सीताने रूप अर्थात् शरीरके आकार आदिकी सुंदरता, ऐश्वर्य अर्थात् बडप्पन, धन, आज्ञा आदिका स्वामीपना और गीत नृत्यादि रूप कला आदिसे सर्वोत्कृष्ट ऐसे रावणका त्याग किया था उसीप्रकार जो स्त्री अपने पतिसे सुंदरता, ऐश्वर्य और कला आदिसे उत्कृष्ट ऐसे भी परपुरुषका त्याग करती है वह स्त्री देवोंसे भी पूजित होती है। भावार्थ–जैसे देवोंने सीताकी पूजा की थी उसीप्रकार अन्य पतिव्रता स्त्रियां भी देवोंके द्वारा पूजी जाती हैं। जब वे देवोंके द्वारा पूजी जाती हैं तो मनुष्योंकी तो बात ही क्या है ? यह अपि शब्दसे सूचित किया है। इस श्लोकमें ' परपूरुषमुज्झंती ' यहांपर हेतुमें शतृङ् प्रत्यय किया है उसका

यह अभिप्राय है कि स्त्री परपुरुषका त्याग करती है वह देवोंके द्वारा अवश्य पूज्य मानी जाती है। उसमें पूज्यपना पर पुरुषके त्याग करनेसे ही होता है ॥ ५७ ॥

आगे–ब्रह्मचर्याणुव्रतके अतिचार कहते हैं—

इत्वरिकागमनं परविवाहकरणं विटत्वमतिचाराः।
स्मरतीव्राभिनिवेशोऽनंगक्रीडा च पंच तुर्ययमे ॥५८॥

अर्थ–इत्वरिकागमन, परविवाहकरण, विटत्व, स्मरतीव्राभिनिवेश, और अनंगक्रीडा ये पांच सार्वकालिक ब्रह्मचर्याणुव्रतके अतिचार हैं।

इत्वरिकागमन–जो दुश्चारित्रा स्त्री पति अथवा पिता आदि स्वामीके न होनेसे स्वतंत्र होनेके कारण गणिकापनेसे (द्रव्य लेकर) अथवा केवल व्यभिचारमात्रकी इच्छासे परपुरुषोंके साथ समागम करती है उसको इत्वरी कहते हैं। तथा जो प्रत्येक पुरुषके साथ समागम करनेकी इच्छा करती है वा समागम करती है ऐसी वेश्या भी इत्वरी कहलाती है। यहांपर कुत्सित अर्थमें क प्रत्यय हुआ है अर्थात् कुत्सित वा निंद्य इत्वरीको इत्वरिका कहते हैं। ऐसी स्त्रीको सेवन करना प्रथम अतिचार है। यह प्रकरण इसप्रकार समझना चाहिये कि ब्रह्माणुव्रती श्रावक किसी वेश्या वा दासी आदि व्यभिचारिणी स्त्रीको भाड़ेरूप कुछ द्रव्य देकर किसी नियतकालपर्यंत स्वीकार करता है और उतने समयतक उसमें स्वस्त्रीकी

कल्पनाकर उसे सेवन करता है। इसलिये उसमें बुद्धिकी कल्पनासे स्वस्त्री ऐसी व्रतकी अपेक्षा होनेसे और उसे अल्पकालतक स्वीकार करनेसे सार्वकालिक व्रतका भंग नहीं होता, और वास्तवमें वह स्वस्त्री नहीं है इसलिये व्रतका भंग भी होता है इसप्रकार और अभंग दोनों होनेसे इत्वरिकागमन भी अतिचार होता है। तथा जिसका पिता पति आदि कोई स्वामी नहीं है, जो वेश्याके समान व्यभिचारिणी है वा कोई वेश्या है ऐसी अनाथ व्यभिचारिणी स्त्री यदि स्वीकार न की हो तथापि चित्तसे उसके सेवन करनेका संकल्प करना अथवा उसके सेवन करनेकी चित्तमें लालसा रखना अतिचार है। ये ऊपर कहे हुये दोनों प्रकारके अतिचार केवल स्वदारसंतोषीको ही होते हैं परस्त्री त्यागीको नहीं, क्योंकि कुछ द्रव्य लेकर ग्रहण की हुई अपरिगृहीत इत्वरिका वेश्यारूप होनेसे अथवा स्वामीके विना अनाथ होनेसे परस्त्री नहीं गिनी जाती।

तथा भाडेरूप कुछ द्रव्य देकर कुछ कालतक ग्रहण की हुई वेश्याको सेवन करनेसे व्रतका भंग होता है क्योंकि वह कथंचित् परस्त्री भी है और लोकमें उसे कोई परस्त्री नहीं कहता इसलिये उसके व्रतका भंग नहीं भी होता है। इसप्रकार परस्त्री त्यागीके भी वेश्यासेवन अतिचार होता है। इस विषयमें कितने ही आचार्योंका ऐसा मत है कि परस्त्री त्यागी श्रावकके अपरिगृहीत कुलांगना स्त्रीको सेवन करना अतिचार है क्योंकि

जिसका कोई स्वामी नहीं है ऐसी अनाथ स्त्री परस्त्री नहीं हो सकती और सेवन करनेवाला भी " यह परस्त्री नहीं है " एसी ही कल्पना करके उसे सेवन करता है इसकारण इसमें अंतरंग व्रतका भंग नहीं होता । तथा लोकमें उसे परस्त्री कहते हैं इसकारण व्रतका भंग भी हुआ इसप्रकार यह भी भंग अभंगरुप होनेसे अतिचार होता है । तत्त्वार्थमहाशास्त्रमें इत्वरिका परिगृहीतागमन और इत्वरिका अपरिगृहीतागमन अर्थात् सनाथ कुटिला स्त्रीको सेवन करना और अनाथ कुटिला स्त्रीको सेवन करना ऐसे दो अतिचार माने हैं वे भी ऊपरके कथन करनेसे संगृहीत होजाते हैं इसप्रकार परस्त्रीत्यागके अतिचार समझना । तथा परविवाहकरण आदि शेषके चार अतिचार स्वदारसंतोष और परस्त्रीत्याग दोनोंमें लगते हैं । इसप्रकार प्रथम अतिचारका विवेचन जानना ।

परविवाह करण——कन्यादानके फलकी इच्छासे अथवा किसीके अनुरागसे अपनी संतानके सिवाय अन्य पुत्र पुत्रियोंके विवाह करनेको परविवाहकरण कहते हैं । जिसके स्वदारसंतोषव्रत है उसके ऐसा नियम है कि मैं अपनी स्त्रीको छोडकर अन्य जगह मन वचन कायसे मैथुन न करूंगा और न कराऊंगा । तथा परस्त्री त्यागवालेके स्वस्त्री और वेश्याको छोडकर दूसरी जगह मैथुन करने करानेका त्याग होता है । इसलिये दोनों प्रकारके ब्रह्माणुव्रतियोंके परविवाह करना मैथुन

करानेका कारण होनेसे पहिले ही से छूट जाता है अर्थात् व्रत लेतेसमय ही उसका त्याग हो जाता है । इसकारण अन्य पुत्र पुत्रियोंके विवाह करनेसे व्रतका भंग होता है, परंतु वे दोनों ही व्रती ऐसी कल्पना करके विवाह कराते हैं कि हम केवल इनका विवाह कराते हैं कुछ मैथुन नहीं कराते इसकारण व्रतका पालन भी होता है । इसप्रकार परविवाह करणसे व्रतका पालन और भंग दोनों ही होनेसे भंगाभंगरूप अतिचार होता है । जो सम्यग्दृष्टी पुरुष अव्युत्पन्न अर्थात् अल्पज्ञानी होता है जिसको हितोपदेश नहीं मिलने पाता उसको कन्या-दानके फलकी इच्छा होती है । तथा जो मिथ्यादृष्टी भद्र (होनहार सम्यग्दृष्टी) होता है और अपना कल्याण करनेके-लिये जब व्रतोंको स्वीकार करता है तब उसके ऐसी इच्छा उत्पन्न हो सकती है ।

यहांपर एक शंका उत्पन्न होती है और वह यह है कि व्रती श्रावकको जिसप्रकार दूसरेके पुत्र पुत्रियोंका विवाह कर देना अतिचार होता है उसीप्रकार अपने पुत्र पुत्रियोंके विवाह करनेमें भी उसको अतिचार लगना चाहिये । परंतु इसका समाधान यह है कि यदि वह श्रावक अपनी पुत्रीका विवाह न करेगा तो उसकी पुत्री स्वच्छंदचारिणी हो जायगी और उसके स्वच्छंद होनेसे कुल, शास्त्र और लोक तीनोंमें विरोध आवेगा । यदि उसका विवाह करदिया जायगा तो वह अपने

पतिके आधीन हो जायगी और परतंत्र होनेसे फिर उससे कोई विरुद्ध कार्य नहीं हो सकेगा। इसकारण पुत्रीका विवाह करना आवश्यक है। तथा इसी न्यायसे अर्थात् इन्हीं सब कारणोंसे पुत्रका विवाह करदेना भी आवश्यक ही है। यहांपर इतना और समझलेना चाहिये कि यदि अपने कुटुंबको समालनेवाला कोई भाई आदि हो तो अपनी संतानके विवाह न करनेका नियम करलेना ही अच्छा है।

स्वदारसंतोषव्रतको धारण करनेवाला श्रावक अपनी स्त्रीसे पूर्ण सतुष्ट न होकर यदि वह अपना दूसरा विवाह करे तो भी परविवाहकरण अतिचार लगता है। क्योंकि उसने दूसरेकी कन्याका विवाह अपने साथ किया है। परकीय कन्या-का विवाह करनेसे व्रतभंग और अपना विवाह करनेसे व्रतका अभंग इसप्रकार भंग अभंग दोनों होनेसे यह अपना दूसरा विवाह करना भी अतिचार होता है।

विटत्व—भंडरूप वचन कहने और रागरूप शरीरकी चेष्टा करनेको विटत्व कहते हैं।

स्मरतीव्राभिनिवेश—कामसेवनमें अत्यंत आसक्त होना अर्थात् अन्य समस्त व्यापार छोडकर केवल स्त्रीमें आसक्त होना स्मरतीव्राभिनिवेश है। इसके निमित्तसे पुरुष चिड़ियाके समान वारवार अपनी स्त्रीको आलिंगन करता है तथा और

भी अनेक कुत्सित चेष्टायें करता है, शक्तिका ह्रास होनेपर शक्तिवर्द्धक, तथा कामोद्दीपक औषधियोंका सेवन करता है और समझता है कि इन औषधियोंसे हाथी और घोडेके समान समर्थ हो जाऊंगा। यह सब कामकी तीव्रता नामका चौथा अतिचार है।

अनंगक्रीडा—कामसेवन योनि मेहन अंगोंसे भिन्न मुखादि अंगोंमें क्रीडा करनेको अनंगक्रीडा कहते हैं, केश कर्षण आदिसे क्रीडा करता हुआ प्रबल रागको उत्पन्न करना, संभोग करनेके बाद भी किसी दूसरी तरह स्त्रीकी योनिको कुथित करना आदि कुचेष्टाओंको भी अनंगक्रीडा कहते हैं। जब श्रावक महापापसे डरकर ब्रह्मचर्य व्रत धारण करना चाहता है परंतु चारित्रमोहनीय कर्मके उदयसे तज्जन्य वेदनाको सहन न कर सकनेके कारण ब्रह्मचर्य धारण कर नहीं सकता तब उस मनोविकारकी शांतिके लिये स्वदारसंतोष अथवा परस्त्री-त्याग व्रतको स्वीकार करता है। ऐसी दशामें जब मनो-विकारसे उत्पन्न होनेवाली वेदनाकी शांति मैथुनमात्रसे ही हो सकती है तब यह अर्थात् सिद्ध है कि विटत्व कामतीव्राभिनि-वेश और अनंगक्रीडा ये तीनों ही निषिद्ध हैं अर्थात् त्याग करनेयोग्य हैं। इन तीनोंसे कुछ लाभ भी नहीं होता किंतु तत्काल अत्यंत रागोद्दीपन होना, बलका नाश होना और राजयक्ष्मा आदि रोग होना इसप्रकारके अनेक दोष उत्पन्न

होजाते हैं। श्री सोमदेवने कहा भी है–"ऐदं पर्यमतो मुक्त्वा भोगानाहारवद्भजेत् । देह दाहोपशांत्यर्थमभिध्यानाविहानये ॥" अर्थात्–"विषयोंमें लगी हुई स्पृहाको दूर करने और शरीरका संताप शांत करनेकेलिये अत्यंत आसक्तिको छोडकर आहारके समान भोगोंका सेवन करना चाहिये, उनका सदा चिंतवन करते रहना सर्वथा अयोग्य है" इसलिये विटत्व स्मरतीव्राभिनिवेश और अनंगक्रीडा ये तीनों ही निषिद्ध है इनका आचरण करनेसे व्रतका भंग होता है तथा अपने कियेहुये नियमका पालन होता है उसमें कुछ बाधा आती नहीं इसलिये व्रतका भंग नहीं भी होता इसप्रकार भंग अभंग होनेसे ये तीनों ही अतिचार गिने जाते हैं।

अथवा वेश्यादिके साथ विटत्व आदि करना भी अतिचार है। क्योंकि स्वदारसंतोषी समझता है कि मैंने वेश्यादिमें मैथुन करनेका ही त्याग किया है और इसीलिये वह केवल मैथुनमात्रका त्याग करता है विटत्व आदिका नहीं। इसीप्रकार परस्त्रीत्यागी भी ऐसा ही समझता है कि मैंने परस्त्रीमें मैथुनमात्रका त्याग किया है उनके साथ अशिष्ट वचनोंका प्रयोग करना अथवा आलिंगन आदि करनेका त्याग नहीं किया है। इसप्रकार स्वदारसंतोषी और परस्त्रीत्यागी इन दोनोंके व्रत पालन करनेकी अपेक्षा होनेसे व्रतका भंग नहीं होता

तथा वास्तवमें व्रतका भंग होता है इसलिये भंगाभंगरूप होनेसे वेश्यादिके साथ विटत्व आदि तीनों ही अतिचार होते हैं।

स्त्रीयोंकेलिये परविवाहकरण आदि चार अतिचार तो ऊपर लिखे अनुसार ही जानना और प्रथम अतिचार इसप्रकार समझना कि जिस दिन अपने पतिकी बारी किसी सौतके यहां हो उस दिन वह उसे सौतके यहां जानेसे रोककर उससे स्वयं भोग करे तो उसके प्रथम अतिचार होता है। क्योंकि उस दिन वह अपना पति भी पर पुरुषके समान है। अथवा कारणवश जिसने ब्रह्मचर्य व्रत धारण किया है ऐसा अपना पति भी उसकेलिये परपुरुषके समान है यदि उसके साथ वह भोग करे तो उसकेलिये वह अतिचार है। वह उस स्त्रीका पति है इसलिये बाह्य व्रतका भंग नहीं होता परंतु सौतकी बारीके दिन वह परपुरुषके समान है अथवा कारणवश ब्रह्मचर्य अवस्थामें भी वह परपुरुषके समान है। इसलिये उसके साथ भोग करनेसे उसके अंतरंग व्रतका भंग होता है। इसप्रकार भंग अभंग होनेसे अतिचार होता है ॥ ५८ ॥

आगे—परिग्रहपरिमाण अणुव्रतको कहते हैं—

ममेदमिति संकल्पश्चिदचिन्मिश्रवस्तुषु ।
ग्रंथस्तत्कर्शनात्तेषां कर्शनं तत्प्रमाव्रतं ॥५९ ॥

अर्थ—स्त्री पुत्र आदि चेतनरूप, घर सुवर्ण आदि अचेतनरूप और जिनमें चेतन तथा अचेतन दोनों ही मिले

हों ऐसे बाह्य बगीचा गांव आदि तथा अंतरंग मिथ्यात्व आदि वस्तुओंमें "यह पुत्र मेरा है, यह बगीचा मेरा है, यह घर मेरा है, मैं इसका स्वामी हूं" ऐसा जो संकल्प है अर्थात् मनका अभिप्राय वा ममत्व परिणाम है उसे मूर्च्छा वा परिग्रह कहते हैं। उस ममत्वरूप परिणामोंके घटानेसे जो चेतन, अचेतन अथवा मिली हुई वस्तुओंको कम करना अर्थात् उनका परिमाण कर लेना परिग्रहपरिमाण अणुव्रत है ॥५९॥

आगे—अंतरंग परिग्रहके त्याग करनेका उपाय बतलाते हैं—

उद्यत्क्रोधादिहास्यादिषट्कवेदत्रयात्मकं।
अंतरंगं जयेत्संगं प्रत्यनीकप्रयोगतः ॥ ६० ॥

अर्थ—जब क्रोधादिका उदय होता है तब उनका जीतना अत्यंत कठिन है इसलिये उदयमें आये हुये प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन संबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, तथा हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा और स्त्रीवेद पुंवेद नपुंसक-वेद संबंधी राग ये अंतरंग परिग्रह परिग्रहपरिमाणाणुव्रती श्रावकको उत्तमक्षमा आदि क्रोधादिके प्रतिकूल भावोंसे जीतने चाहिये। भावार्थ—क्षमासे क्रोध, मार्दवसे मान, आर्जवसे माया और शौचसे लोभ जीतना चाहिये। हास्य रति आदि परिग्रहोंको भी समता आदि परिणामोंसे जीतना चाहिये। अंतरंग परिग्रह चौदह हैं और यहांपर तेरह ही गीनाये हैं

इसका कारण यह है कि यह कथन देशसंयमीके लिये है। देशसंयम अनंतानुबंधी तथा अप्रत्याख्यानावरण संबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ और मिथ्यात्वके निग्रह करनेसे ही होता है इसलिये देशसंयम प्राप्त होनेके पूर्व ही मिथ्यात्वका विजय हो चुकनेके कारण यहांपर उसका ग्रहण नहीं किया है ॥६०॥

आगे—बहिरंग परिग्रहके त्याग करनेकी विधि कहते हैं—

अयोग्यासंयमस्यांगं संग-बाह्यमपि त्यजेत् ।
मूर्च्छांगत्वादपि त्यक्तुमशक्यं कृशयेच्छनैः ॥६१॥

अर्थ—परिग्रहपरिमाणाणुव्रती श्रावक जिसप्रकार अंतरंग परिग्रहोंका त्याग करता है उसीप्रकार उनके साथ साथ जो घर खेत आदि बाह्य परिग्रह मोहनीय कर्मके उदयसे होनेवाले श्रावकके करनेके अयोग्य ऐसे अनारंभी त्रस जीवोंकी हिंसा, व्यर्थ स्थावर जीवोंकी हिंसा और परस्त्रीगमन आदि असंयमका कारण है उसका भी उसे त्याग कर देना चाहिये। तथा जिन बाह्य परिग्रहोंका वह त्याग नहीं कर सकता उनको शास्त्रानुसार ज्यों ज्यों समय व्यतीत होता जाय त्यों त्यों धीरे धीरे घटाते जाना चाहिये। क्योंकि परिग्रहरूप संज्ञा इस जीवके साथ अनादिकालसे लगी हुई है वह एक साथ छोडी नहीं जा सकती। कदाचित् एक साथ उसका त्याग कर भी दिया जाय तो उसकी वासनाके संबंधसे उसके व्रतमें भंग हो जाना

संभव है। इसलिये श्रावकको अनुक्रमसे धीरे धीरे बाह्य परिग्रहका त्याग करना चाहिये। यहांपर पहिला अपि शब्द समुच्चय अर्थमें है और सूचित करता है कि अंतरंग परिग्रहके साथ साथ त्यागने योग्य बाह्य परिग्रहका भी त्याग करे ॥६१॥

आगे—इसी विषयको स्पष्ट करते हैं—

देशसमयात्मजात्याद्यपेक्षयेच्छां नियम्य परिमायात्।
वास्तवादिकमामरणात्परिमितमपि शक्तितः पुनः कृशयेत्॥६२॥

अर्थ—श्रावकको देश, काल, आत्मा, जाति और आदि शब्दसे वंश, वय तथा योग्यता इनकी अपेक्षा रखकर अर्थात् जिसमें इन सबका निर्वाह हो सके ऐसी रीतिसे परिग्रहकी तृष्णाको संतोषकी भावनासे निग्रहकर मरणपर्यंततककेलिये घर, खेत, धन, धान्य, दासीदास आदि द्विपद, गाय, घोडा आदि चतुष्पद, शय्या, आसन, रथ बग्घी आदि सवारी और बर्तन वस्त्र आदि कुप्यभांड इन दशप्रकारके बाह्य परिग्रहोंका परिमाण करना चाहिये। तथा निष्परिग्रहकी भावनासे उत्पन्न हुई अपनी शक्तिकी अपेक्षासे अर्थात् तृष्णा घट जानेपर जिनका परिमाण किया जा चुका है ऐसे घर खेत आदि परिग्रहको भी घटाते जाना चाहिये। भावार्थ—जन्मभरकेलिये तो सबका परिमाण करलेना ही चाहिये और फिर उसमेंसे भी शक्तिके अनुसार घटाते जाना चाहिये ॥६२॥

आगे—वक्रोक्तिसे परिग्रहमें दोष दिखलाते है—

अविश्वासतमोनक्तं लोभानलघृताहुतिः ।
आरंभमकरांभोधिरहो श्रेयः परिग्रहः ॥६३॥

अर्थ—यह परिग्रह अविश्वासरुपी अंधकारके होनेमें रात्रि है अर्थात् जैसे रात्रिमें अंधकार और अंधकारसे दुःख होता है उसीप्रकार परिग्रहसे अविश्वास और अविश्वाससे दुःख हुआ करता है । इसीतरह यह परिग्रह लोमरूपी अग्निके प्रज्वलित करनेकेलिये घीकी आहूति, अर्थात् जैसे घीकी आहूतिसे अग्नि बढती है उसीप्रकार परिग्रहसे लोभ बढता है और अग्नि जैसे संताप बढानेवाली है उसीप्रकार लोभसे भी संताप बढता है । भावार्थ—परिग्रहसे लोभ और लोभसे संताप बढता है । तथा यह परिग्रह खेती व्यापार आदि आरंभरूपी मगर मत्स्य आदिकोंका समुद्र है अर्थात् जैसे समुद्रमें मगर मत्स्य आदि उत्पन्न होते हैं उसीप्रकार परिग्रहसे खेती व्यापार आदि होते हैं और मगर मत्स्य जैसे त्रास और मृत्युके कारण हैं उसीतरह खेती व्यापार आदि भी त्रास और मृत्युके कारण हैं। भावार्थ—परिग्रहसे खेती व्यापार और खेती व्यापारसे अनेक तरहके त्रास और मृत्यु आदि दुःख उठाने पडते हैं । इसप्रकारका (सब तरहसे दुःख देनेवाला) भी परिग्रह मनुष्योंका कल्याण करनेवाला और सेवन करने योग्य है यह बडा भारी आश्चर्य है । अभिप्राय यह है कि परिग्रहसे कभी किसीका आत्मकल्याण नहीं हो सकता और न वह सेवन करने ही योग्य है ॥ ६३ ॥

आगे—परिग्रहपरिमाणके पांच अतिचार छोडनेके लिये कहते हैं—

वास्तुक्षेत्रे योगाद्धनधान्ये बंधनात्कनकरूप्ये ।
दानात्कुप्ये भावान्न गवादौ गर्भतो मितिमतियात् ॥६४॥

अर्थ—घर खेत इन दोनोंमें दूसरा घर अथवा दूसरा खेत मिलाकर कियेहुये परिमाणका अतिक्रमण नहीं करना चाहिये । तथा रज्जू आदिसे बांधकर और वचनबद्ध करके धन धान्यके परिमाणका अतिक्रमण नहीं करना चाहिये । दूसरेको देकर सोने चांदीमें और परिणामोंसे तांबे, पीतल, काष्ठ, पाषाण आदिकी वस्तुओंमें अतिक्रमण नहीं करना चाहिये, और घोड़ी गाय आदि पशुओंमें गर्भके आश्रयसे अतिक्रमण नहीं करना चाहिये । भावार्थ—इनमें अतिक्रमण करना परिग्रहपरिमाणके अतिचार हैं । अब इसीको विस्तारके साथ कहते हैं ।

वास्तुक्षेत्र—घर गांव नगर आदिको वास्तु कहते हैं । घर तीन प्रकारके होते हैं खात, उच्छ्रित और खातोच्छ्रित । भूमिके नीचेके तलघरको खात, भूमिपर बनायेहुये मकानको उच्छ्रित और जिसमें तलघर और ऊपर दुमंजिल तिमंजिल आदि मकान बने हों उसे खातोच्छ्रित कहते हैं । जिसमें अन्न उत्पन्न हो ऐसी भूमिको खेत कहते हैं उसके भी तीन भेद हैं— सेतु, केतु और उभय । जो खेत केवल कूए, बावडी आदिसे सींचे जाते हैं उन्हें सेतु, जो केवल वर्षाके जलसे सींचे जाते हैं

उन्हें केतु और जो दोनोंसे सींचे जाते हैं उन्हें सेतुकेतु कहते हैं। घर और खेत इन दोनोंमें दीवाल या खेतकी हद्द तोडकर दो तीनको एकमें मिलाकर परिग्रहका परिमाण करनेवाले श्रावकको अतिक्रमण नहीं करना चाहिये। जिस श्रावकन मरणपर्यंत अथवा चतुर्मास आदि किसी नियमित काल पर्यंत देव गुरु आदिकी साक्षीपूर्वक जितना परिग्रहपरिमाणरूप व्रत स्वीकार किया है उसको घरकी दीवाल हटाकर दूसरी जगह खडी करनेसे घरकी मर्यादा नहीं बढानी चाहिये अथवा घरोंकी संख्या भी नहीं बढानी चाहिये। तथा खेतकी हद्द बढाकर उसकी मर्यादा अथवा खेतोंकी संख्या भी नहीं बढाना चाहिये। मैं अपना घर बड़ा करता हूं या खेत बडा करता हूं कुछ घर या खेतकी संख्या नहीं बढाता" ऐसा समझकर हाथ वा गजोंका परिमाण नापते समय नहीं बढा देना चाहिये। क्योंकि ऐसा करनेसे व्रतका भंग होता है और बढानेवाला समझता है कि–" मैंने घर बढाया है घरोंकी संख्या नहीं बढाई तथा खेत बढाया है खेतोंकी संख्या नहीं बढाई " इसप्रकार व्रतका पालन भी होता है। इसप्रकार भंग अभंग रूप होनेसे यह पहिला अतिचार होता है।

धनधान्य–धनके चार भेद हैं गणिम, धरिम, मेय, और परीक्ष्य। सुपारी, जायफल आदि गिनकर देनेकी चीजोंको गणिम, केशर कपूर आदि अंदाजसे देनेकी चीजोंको धरिम, तेल, घी, नमक आदि मापकर देनेकी चीजोंको मेय और रत्न वस्त्र आदि परीक्षाकर लेने देनेकी चीजोंको परीक्ष्य कहते हैं।

चांवल जौ आदि सत्रह प्रकारके धान्य कहलाते हैं। किसीने कहा भी है-"चांवल, जौ, मसूर, गेहूं, मूग, उडद, तिल, चना, कोदों, मोठ, कांगनी, अण, शालि, आढकि, सण, मटर, कुलथी ये सत्रह धान्य कहलाते है। अपने घरके धनधान्य विकजानेपर अथवा किसीतरह खर्च हो जानेपर दूसरे धनधान्य खरीदूंगा ऐसी इच्छा करना अथवा किसीको खरीदनेका वचन देकर जबतक अपने सब धान्यादिक बिक न जावें अथवा खर्च न हो सकें तबतक उनको उसीके घरमें रखना दूसरा अतिचार है। उन धनधान्यादिकोंको अपने घरमें न रखनेसे व्रतका पालन और परिणामोंसे उनका बंधन करनेसे भंग इसप्रकार भंगाभंग-रूप अतिचार होता है। परिग्रहपरिमाणाणुव्रती श्रावकको ऐसा अतिचार कभी नहीं लगाना चाहिये।

कनकरूप्य—सुवर्णको कनक और चांदीको रूप्य कहते हैं। इन दोनोंके कृत्रिम अकृत्रिम आदि अनेक भेद होते हैं। किसी राजा आदिके प्रसन्न होनेपर अपने नियमसे भी अधिक द्रव्य आया हो तो उसको "मेरे परिग्रहपरिमाणकी अवधि पूर्ण होनेपर वापिस लौटालूंगा" ऐसे अभिप्रायसे किसीको देना वा धरोहर रखदेना तीसरा अतिचार है। उस सोने चांदीको घरमें न रखनेसे व्रतका पालन होता है और परिणामोंसे व्रतका भंग होता है इसप्रकार भंगाभंगरूप होनेसे अतिचार होता है। परिग्रहपरिमाणाणुव्रती श्रावकको इसप्रकार अपने परिमाणका अतिक्रमण नहीं करना चाहिये।

कुप्य—सोने चांदीके सिवाय लोहे, कांसे, तांबे, सीसे आदि धातुओंके पदार्थ, मिट्टीके बर्तन, बांसकी चीजें, लकडीके

रथ, गाडी, हल आदि पदार्थोंको कुप्य कहते हैं। इन पदार्थों-का परिमाण करके कारणवश अधिक होनेपर उन सबका समा-वेश अपनी नियमित संख्यामें करनेकेलिये समान वर्तनोंको एक जोडी मानना, अथवा छोटेछोटे अनेक वर्तन मिलाकर बडे बनाना, अथवा नियमित समयके अनंतर वापिस लेनेकी इच्छासे दूसरी जगह रखना अथवा किसीको मांगे देदेना आदि परिणामोंसे परिमितिपरिग्रहका अतिक्रमण नहीं करना चाहिये। अतिक्रमण करनेसे चौथा अतिचार होता है। इन पदार्थोंकी जो संख्या नियत की है यदि किसीतरह उनकी दूनी संख्या हो जाय तो व्रतके भंग होनेके डरसे वह अपने परिणामोंमें दो दोको मिलाकर उसे एक एक जोडी कल्पना करता है अथवा छोटे छोटे वर्तनोंके बदले बडे बडे बनवा लेता है। इसप्रकार वह अपनी संख्या उतनी ही समझता है इसलिये व्रतका भंग नहीं होता और वास्तवमें व्रतका भंग होता है इसलिये भंगाभंगरूप होनेसे अतिचार माना जाता है। अथवा भावका अर्थ अभिप्राय भी है। केवल अभिप्रायसे वर्तन वस्त्र आदि चीजोंकी संख्या बढालेना अतिचार है जैसे मनमें चाह-नेकी इच्छा रखकर चीज लानेवाले आदमीसे कहदेना कि मेरे नियमकी मर्यादा पूर्ण होनेपर ले लूंगा तुम किसी दूसरेको नहीं देना। ऐसी व्यवस्था करदेना भी अतिचार है।

गवादौ गर्भतः—द्विपद चतुष्पद आदिके समूहको ग-वादि कहते है। आदि शब्दसे हाथी, घोडे, भैंस आदि चतु-ष्पद तथा तोता मैना आदि द्विपद और दासी पहरेदार आदि नौकर चाकरोंका ग्रहण करना चाहिये। इन गाय, भैंस, दास

आदिमें गर्भ धारण कराकर अपनी नियत की हुई संख्याका उ-
लंघन कभी नहीं करना चाहिये। यहांपर गर्भ धारण कराकर
यह उपलक्षण है इस उपलक्षणसे जो अपने काम नहीं आते
ऐसे यथायोग्य गाय भैंस आदि रखकर अथवा मनमें अधिक
रखनेकी इच्छा रखकर नियत संख्याका उलंघन कभी नहीं
करना चाहिये। जिसके एक वर्षके लिये चार पशु रखनेका
परिमाण है और उसके दो घोडे तथा दो गाय हैं। यदि वह
अभी उन गायोंके गर्भ धारण करावेगा तो वर्षके भीतर ही
पांच या छह संख्या हो जायगी और व्रत भंग हो जायगा ऐसा
समझकर तीन या चार महीने बाद गर्भ धारण कराना कि जिससे
नियत मर्यादाके बाहर प्रसूति हो। यह पांचवां अतिचार है
क्योंकि बाहरमें चार ही पशु दिखाई पडते हैं इसलिये व्रतका
भंग नहीं होता तथा उदरमें पांचवीं वा छट्टी संख्या होनेसे
व्रतका भंग होता है इसप्रकार भंगाभंगारूप अतिचार होता है।

ये अतिचार "क्षेत्रवास्तु हिरण्यसुवर्ण धनधान्य दा-
सीदासकुप्यप्रमाणातिक्रमाः" इस तत्त्वार्थ महाशास्त्रके अनु-
सार कहे गये हैं। स्वामी समंतभद्राचार्यने "अतिवाहनाति
संग्रहविस्मयलोभातिभारवहनानि । परिमितपरिग्रहस्य च
विक्षेपाः पंच लक्ष्यंते ॥" अर्थात–"अतिवाहन, अतिसंग्रह,
विस्मय, लाभ, और अतिभारवहन ये पांच अतिचार माने हैं।
लोभके वशीभूत होकर मनुष्य अथवा पशुओंको शक्तिसे
अधिक जबर्दस्ती चलाना अतिवाहन है। आगे इन धान्योंमें
बहुत लाभ होगा यही समझकर लोभके वशसे उनका अधिक
संग्रह करना अतिसंग्रह है। जो धान्य अथवा दूसरा पदार्थ

थोड़े नफेसे बेच दिया हो अथवा जिसका संग्रह भी स्वयं न किया हो ऐसे पदार्थको बेचकर किसी दूसरेने अधिक नफा उठाया हो उसे देखकर विषाद करना विस्मय है। योग्य लाभ होने पर भी और अधिक लाभ होनेकी आकांक्षा करना लोभ है। लोभके वशसे शक्तिसे अधिक बोझा लादनेको अतिभारारोपण कहते हैं।

श्री सोमदेवने " कृतप्रमाणो लोभेन धान्याद्यधिक संग्रहः। पंचमाणुव्रतज्यानिं करोति गृहमेधिनां ॥ " अर्थात्–लोभसे किये हुये परिमाणसे धान्यादिका अधिक संग्रह करना गृहस्थोंके पांचवें अणुव्रतकी हानि करता है। " ऐसा कहा है। स्वामी समंतभद्राचार्य और श्री सोमदेवने जो अतिचार कहे हैं वे ऊपर लिखेहुये अतिचारोंसे भिन्न है तथापि " परेऽप्यूह्यास्तथात्ययाः " अर्थात् " ऐसे और भी अतिचार कल्पना कर लेना " इसप्रकार ग्रंथकारके कहनेसे सबका संग्रह हो जाता है। भावार्थ–ये सब अतिचार माने जाते हैं ॥ ६४ ॥

आगे–इसप्रकार निर्दोष परिग्रहपरिमाण व्रत पालन करनेवालेको कैसा फल मिलता है सो दृष्टांत देकर बतलाते हैं–

यः परिग्रहसंख्यानव्रतं पालयतेऽमलं।
जयवज्जितलोभोऽसौ पूजातिशयमश्नुते ॥ ६५ ॥

अर्थ–जो मनुष्य परिग्रहपरिमाण व्रतको निरतिचार पालन करता है वह लोभको जीतनेवाला निर्लोभी मनुष्य कुरुराजा मेघेश्वर (जयकुमार)के समान उत्तम पूजा अर्थात् आदर सत्कारको प्राप्त होता है। भावार्थ– इंद्रादि देव भी उसकी पूजा करते हैं ॥ ६५ ॥

आगे—इसप्रकार वर्णन किये हुये पांचों अणुव्रतोंको निरतिचार पालन करनेवाले श्रावकको निर्मल सातों शील पालन करनेकेलिये उत्तेजित करनेको उसका प्रभाव वर्णन करते हैं—

पंचाप्येव मणुव्रतानि समतापीयूषपानोन्मुखे
सामान्येतरभावनाभिरमलीकृत्यार्पितान्यात्मनि ।
त्रातुं निर्मलशीलसप्तकमिदं ये पालयंत्यादरात्
ते सन्यासविधिप्रमुक्ततनवः सौर्वीः श्रियो भुंजते ॥६६॥

अर्थ—जो भव्य इसप्रकार मैत्री प्रमोद आदि सामान्य भावना और प्रत्येक व्रतकी पांच पांच विशेष भावनाओंसे अतिचारोंको निवारण कर समतारूप अमृतके पान करनेकेलिये सन्मुख ऐसे आत्मामें परिणत कियेगये पांचों अणुव्रतों अथवा एक दो चार आदि अणुव्रतोंकी रक्षा करनेकेलिये आगे कहेहुये सातों शीलोंको बडे आदरसे पालन करते हैं वे निर्मल अणुव्रत और शीलव्रत पालन करनेवाले जीव इस ग्रंथके अंतिम अध्यायमें कही हुई समाधिमरणकी विधिसे शरीर छोडकर सौधर्मादि सोलह स्वर्गोंमें प्राप्त होनेवाली अतुल संपदाका अनुभव करते हैं।

ऊपर जो "भावनाओंसे अतिचारोंको निवारण कर" ऐसा लिखा है उससे ग्रंथकारने व्रतोंके उद्योतन करनेकी सूचना दी है तथा "आत्मामें परिणत कियेगये" यह जो लिखा है उससे ग्रंथकारने व्रतोंके उद्यापन करनेको प्रगट किया है ॥ ६६ ॥

इसप्रकार पंडितप्रवर आशाधर विरचित स्वोपज्ञ (निज-विरचित)
सागरधर्मामृतको प्रगट करनेवाली भव्यकुमुदचंद्रिका
टीकाके अनुसार नवीन हिंदी भाषानुवादमें धर्मामृतका
तेरहवां और सागरधर्मामृतका चौथा
अध्याय समाप्त हुआ ।